राजनीतिक-निबन्ध

(POLITICAL ESSAYS)

सम्पादक
डॉ० प्रभुदत्त शर्मा
एम० ए० एम० जे० ए० पी-एच० डी० (यू० एस० ए०)
राजनीति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

नवीन संशोधित संस्करण
1966

प्रकाशक
पद्म बुक कम्पनी, जयपुर

प्रकाशक
पदम बुक कम्पनी
जयपुर

•

पूर्णतया संशोधित संस्करण १९६६

मूल्य : दस रुपये मात्र

•

मुद्रक
नवल प्रेस, जिनवाणी प्रिन्टर्स एवं
हिन्दुस्तान आर्ट कॉटेज, जयपुर में मुद्रित

सम्पादकीय

प्रस्तुत पुस्तक में ये कुछ निबन्ध संकलित हैं जो मेरे नए और पुराने विद्यार्थियों ने मेरे निर्देशन में तैयार किये हैं। एक सम्पादक के नाते मेरा यह प्रयास रहा है कि ये सभी युवक प्रतिभायें जैसी भी हैं उसी स्वरूप में प्रस्तुत हो सकें और वृहत्तर विद्यार्थी तथा शिक्षक-जगत उन्हें उसी रूप में देख सके, जैसी ये सचमुच हैं।

इन निबन्धों के—प्रणयन, सम्पादन तथा संकलन—सभी में एक उपयोगितावादी, परीक्षानुरूपी दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयास किया गया है, अत इनके [illegible] अथवा पाण्डित्यपूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी अपनी सीमाओं को स्पष्टत पहिचानते हुए, अपनी योग्यता, निष्ठा, अध्यवसाय तथा लगन से कुछ विद्यार्थियों ने [illegible] ईमानदारी से यह गम्भीर परिश्रम किया है उसे देखते हुए उनका यह प्रयास स्वागतयोग्य है और मैं समझता हूं सराहनीय भी।

छात्र-जगत को छात्र-जगत प्राप्त सके तथा अपने व्यक्तिगत परिश्रम से मिल-जुल कर वे सामूहिक रूप से लाभान्वित हो सकें इसी विचार से यह रचना संकलित की गई है। राजनीति-दर्शन, पंचायती-राज, वियतनाम-विवाद, पाकिस्तानी दुराशाओं का केन्द्र—कश्मीर, पाक आक्रमण के परिवर्तित संदर्भ में भारत की विदेश नीति, अफ्रीकी राजनीति के नये क्षितिज तथा भारत की राज्यकीय राजनीति के [illegible] महत्वपूर्ण पहलुओं पर अंग्रेजी में उपलब्ध पाठ्य-सामग्री को निबन्धकारों ने [illegible] ढग से हिन्दी माध्यम द्वारा विवेचित एवं प्रस्तुत किया है। कोई भी निबन्ध यद्यपि [illegible] में पूर्ण नहीं है पर उनके सम्पादन में मेरी अपनी यह चेष्टा रही है कि उन्हें [illegible] बनाया जा सके कि उन्हें आधार-केन्द्र मानकर कोई भी परीक्षार्थी अपने [illegible] समुचित सामग्री, व्यवस्था-प्रणाली तथा शैली पा सके।

यह जानते हुए भी कि आज के विश्वविद्यालयों के बुद्धि-जीवियों की दृष्टि में [illegible] प्रकार के प्रयास सस्ते माने जाते हैं, मैंने अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करने के लिए नया क्षेत्र दिया है। शोध के आकर्षण और चकाचौंध में जहां शिक्षण और शिक्षक [illegible] बनते जा रहे हों तथा अंग्रेजी के उपासना भरे मोह को जहां तथाकथित [illegible] स्तरों के नाम पर उभरती प्रतिभाओं पर थोपा जा रहा हो, जिन्हें अंग्रेजी के हर [illegible] अनेक बार शब्द-कोष देखना पड़ता हो। आशा है, मेरा यह प्रयास नये विद्यार्थियों [illegible] हीनता-परिज्ञान से मुक्त कर कुछ स्वाभिमान की भावना दे सकेगा। प्रयास के पीछे न [illegible] की प्रेरणा है, न कोई लोभ और न ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग। अत धन्यवाद की औपचारिकता को आवश्यक न समझते हुए उन सभी युवा—निबन्धकारों को बधाई दूंगा जिनका यह अपना परिश्रम है।

प्रभुदत्त शर्मा

विषय-सूची

१

प्लेटो और उसका दार्शनिक अधिनायकवाद

(PLATO AND HIS PHILOSOPHICAL DICTATORSHIP)

•

—प्रेमलता महेश्वरी

•

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के इतिहास में प्लेटो, वह पहला विचारक था जिसका प्रभाव आज चौबीस सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी अक्षुण्ण है। वह राज्य-स्थापक दर्शन, सुधार और चिन्तन की सभी क्रान्तिकारी भावनाओं का उत्प्रेरक माना जाता है। वर्तमान साम्यवाद, फासीवाद और आदर्शवाद उसके दर्शन से प्रेरित हुए हैं। प्लेटो की "रिपब्लिक (Republic)" के नमूने पर आदर्श राज्य स्थापित करने की अनेक योजनायें राजनीति दर्शन के इतिहास में प्रस्तुत की गई हैं। शिक्षा और सुप्रजनन शास्त्र के कार्यक्रमों द्वारा समाज को उन्नत बनाने की दिशा में उसके विचार दर्शन के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। मध्य युग में उससे प्रेरणा पाकर सर थॉमस मूर ने अपना "यूटो-पिया" लिखा। अठारहवीं शताब्दी में 'रूसो और उसका दर्शन" प्लेटोवाद से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं शताब्दी में अगस्ट कोम्टे (August Comte) ने प्लेटो से प्रभावित होकर इस बात पर बल दिया कि समाज का शासन वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा ही होना चाहिये। ग्रेट ब्रिटेन के आदर्शवादी विचारक ग्रीन तथा बोसांके (Bosanquet) भी प्लेटो के अनुयायी तथा उसके दार्शनिक शिष्यों की गणना में आते हैं।

आधुनिक साम्यवाद तथा फासीवाद आदि की विचारधाराओं पर प्लेटो के विचारों की गहरी छाप देखी जा सकती है। राजनीतिक चिन्तन के कुछ शाश्वत प्रश्नों की सुन्दर मीमांसा करने के कारण वह आज तक राजदर्शन के इतिहास में अजर अमर है और जब तक मानव समाज में राज्य की सत्ता रहेगी, सम्भवतः उसका यही स्थान रहेगा। पिछले चौबीस सौ वर्षों के इतिहास में विशाल राज्यों को बनाने वाले प्रतापी राजाओं, शक्तिशाली सम्राटों तथा कुशल राजनीतिज्ञों की कभी कमी नहीं रही किन्तु उनमें से किसी का भी राजनीतिक विचारों पर इतना अमिट प्रभाव नहीं पड़ सका जितना कि प्लेटो का। उसकी रचनाएं, चौबीस शताब्दियां बीत जाने के बाद आज भी आदर और उत्सुकता के साथ पढ़ी जाती हैं, उनसे प्रेरणा ग्रहण की जाती है और उनके आधार पर आज भी समूहवादी मतों की पुष्टि की जाती है। प्लेटो की मार्क्स से मिलता का प्रमाण उसकी शिक्षा-व्यवस्था, व्यक्तियों की असमानता, बौद्धिक वर्ग के शासन के लिये किये जाने वाले आग्रह, राज्य दण्ड विधि (Criminal Law) तथा व्यवहार विधि (Civil Law) के बीच किये जाने वाले अन्तर आदि के विचारों से स्पष्ट है। आज के

यूनान के विचार न माने जाकर अखिल मानवता के विचार माने जाते हैं। शिक्षा पर आज भी राज्य का नियन्त्रण अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। रूस और अमेरिका तक ही यह बात सीमित नहीं है, संसार का प्रत्येक प्रगतिशील देश शिक्षा को राष्ट्रीय आधार पर नियोजित कर इस दिशा में चरण बढ़ा रहा है। स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से मुक्त कराके उन्हें सार्वजनिक जीवन और राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने के लिये राज्यों द्वारा प्रोत्साहन दिया जाने लगा है।

रिपब्लिक के मूल सिद्धान्त

विचारों की यह सार्वभौमिकता हमें प्लेटो की प्रमुख पुस्तक "रिपब्लिक" में देखने को मिलती है। "रिपब्लिक" का मूल विचार है सुकरात का यह सिद्धान्त कि "सद्गुण ही ज्ञान है (Virtue is knowledge)।" इसके अनुसार श्रेष्ठत्व का ज्ञान तार्किक अन्वेषणों द्वारा हो सकता है और इसकी शिक्षा भी दी जा सकती है। अतः "रिपब्लिक" की प्रमुख देन यह है कि दार्शनिक अर्थात् वह पुरुष जो कि ज्ञाता है, शासक भी होना चाहिये। उसका ज्ञान ही उसे शासन का अधिकारी बनाता है। प्लेटो का विचार है कि समाज पारस्परिक आवश्यकताओं तथा सेवाओं के आदान प्रदान पर आधारित है। प्लेटो के सिद्धान्त के प्रमुख नियम दो हैं-प्रथम शासन एक कला है जिसके लिये विशिष्ट एवं यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता है और दूसरे समाज की स्थापना पारस्परिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के निमित्त हुई है और यह केवल तभी संभव है जबकि प्रत्येक सदस्य को वह स्थान प्रदान किया जाये जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है।

अयोग्यता की उपासना–जनतंत्र

प्लेटो की राजनीतिक प्रखरता और अन्तर्दृष्टि का दिग्दर्शन इसी तथ्य द्वारा हो जाता है कि उसने यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित प्रजातंत्रीय कार्यप्रणाली के आत्मनिरीक्षण द्वारा यह अनुभव किया और निष्कर्ष निकाला कि प्रजातंत्र अयोग्यता की उपासना है और प्रत्येक राज्य की अधिकांश दुरवस्था राजनीतिज्ञों की अयोग्यता के कारण है। अतः इसके राजनीतिक सिद्धान्त का प्रमुख निर्देश है कि राजनीतिज्ञों को शासनकला में प्रशिक्षित किया जावे। उसके अनुसार राज्य वैज्ञानिक अवश्य होने चाहिए और साथ ही उन्हें अपने कर्तव्यों की प्रकृति एवं सीमाओं का यथार्थ ज्ञान भी रखना चाहिए। आदर्श राज्य की स्थापना तभी संभव होगी जबकि उसका शासन राज्य-वैज्ञानिकों द्वारा संचालित होगा। प्लेटो का कथन है "जब तक राजा दार्शनिक न हो अथवा दार्शनिक राजा न हो, आदर्श राज्य की स्थापना असम्भव ही रहेगी।"[1] प्रो० बार्कर

1. "Until philosophers become *kings or the kings of the world* have the spirit of philosophy, the city will never rest from ruin."

—*Republic V—473.*

के शब्दों में—'विशिष्टीकरण का मार्ग प्लेटो के लिए एकीकरण का मार्ग भी था। यदि सरकार के कार्यों के लिये एक पृथक्-वर्ग की नियुक्ति हो तो सरकार को नियन्त्रण में लाने के लिये शायद ही संघर्ष के लिये कोई स्थान रहे। यदि प्रत्येक वर्ग अपनी ही सीमाओं में बद्ध रहे और अपने ही कार्यों में एकाग्रचित्त हो तो वर्गों में संघर्ष नहीं होगा। विशिष्टता के अभाव के ही कारण नागरिकों में मतभेद सम्भव होता है। विशिष्टता में साथ साथ यह रुक सकेगा और प्रत्येक वर्ग प्रसन्नतापूर्वक अपने लिए नियुक्त हुए कार्यों को करने लगेगा। स्वार्थ-परता अन्तर्ध्यान हो जायेगी और राज्य में एकता का साम्राज्य होगा।[1]

त्रिकोणात्मक व्यवस्था

प्लेटो आदर्श राज्य की समस्त जनसंख्या को तीन वर्गों में विभक्त करता है। उनमें सबसे पहले संरक्षक हैं जिनको पुनः सैनिकों और शासकों में विभक्त किया गया है। दूसरे मजदूर हैं जो कि जनसंख्या का अधिकतम भाग है। उनका मुख्य कार्य उत्पादन करना है। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अपने विशिष्ट गुण हैं जिनके द्वारा उन्हें अन्य वर्गों से अलग किया जा सकता है। इस प्रकार दार्शनिक शासकों में बुद्धि (reason), सैनिक संरक्षकों में साहस (spirit) एवं उत्साह तथा मजदूरों में क्षुधा (appetite) अधिक मात्रा में होना ही उनके इन भेदों के प्रमुख लक्षण हैं।

न्याय और उसके स्तम्भ

राज्य के नागरिकों के इस त्रिमुखी वर्गीकरण को तथा कार्यविभाजन को स्थिर करने के लिए प्लेटो ने न्याय सिद्धांत दिया है। प्रत्येक को उसका औचित्य प्रदान करना ही प्लेटो के सामाजिक न्याय के सिद्धान्त की परिभाषा है। शिक्षा प्रत्येक के सामर्थ्यानुसार होगी और फलस्वरूप समाज को यह आशा रहेगी कि व्यक्ति अपने सामर्थ्य और जीवन में अपने पद के अनुरूप ही ईमानदारी से सामाजिक हितों का अनुदान करेगा। प्रो० बार्कर के शब्दों में "अतः सामाजिक न्याय को उस समाज का सिद्धान्त कह सकते हैं जो कि भिन्न भिन्न प्रकार से मनुष्यों द्वारा निर्मित हुआ हो और जो एक दूसरे के प्रति अपनी आवश्यकताओं की प्रवृत्ति में संयुक्त हुए हों—इस प्रकार एक समाज में संयुक्त और अपने पृथक कर्तव्यों में एकाग्रचित्त होकर एक सम्पूर्ण का निर्माण किया हो जो कि

---

1. "The way of specialisation was also to Plato the way of unification. If a separate class were appointed to the work of government, there would hardly be any room for the old struggle to capture the room. Civil dissension had been rendered possible by the want of specialisation. With specialisation these things would cease. Each class would work *at its appointed function in contentment.* Selfishness would disappear. The unity would pervade the state".

—*Barker*

—Plato and his Predecessors—page 132

पूर्ण है क्योंकि यह सम्पूर्ण मानव मस्तिष्क का प्रतिफल और प्रतिबिम्ब है।"[1] अतः सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि समाज का सुन्दर निर्देशन तभी संभव हो सकता है जब कि प्रत्येक के लिए वह स्थान निर्धारित हो जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त है और व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान पर कार्यों को पूरा कर सके।

साम्यवाद प्लेटो के आदर्श राज्य का आधार स्तंभ है। प्लेटो के साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य राज्य में अधिकतम एकता सुनिश्चित करना और उन सब कारणों को समूल नष्ट करना था जो कि समाज में संघर्ष उत्पन्न करते हैं। प्लेटो सब प्रकार की चल व अचल निजी संपत्ति का निषेध करता है। वह पारिवारिक संस्था का भी निषेध करता है। ये दोनों निषेध केवल संरक्षक वर्ग के लिये हैं। संपत्ति एवं परिवार की साम्यवादी व्यवस्थायें एक दूसरे की पूरक हैं। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य न तो आर्थिक विषमताओं का अन्त करना था और न ही समस्त समाज में साम्यवादी व्यवस्था उत्पन्न करना। वह तो राज्य में एकता स्थापित करना चाहता है जिसके लिये आवश्यक है कि संरक्षक वर्ग को अपने उत्तरदायित्वों से हटाने वाले सभी बंधनों का अन्त किया जावे।

आदर्श राज्य के निर्माण में प्लेटो शिक्षा के सिद्धांत को अत्यधिक महत्व देता है। यहां तक कि रूसो ने उसकी पुस्तक रिपब्लिक पढ़ने के उपरांत उसे शिक्षा पर सबसे महान कृति (The Best Treatise on Education) की संज्ञा दी थी। प्लेटो राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा के पक्ष में है। उसकी शिक्षा-प्रणाली को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, प्रथम प्रारंभिक शिक्षा जो बीस वर्ष तक के नवयुवकों और नवयुवतियों के लिये थी और दूसरी उच्चतर शिक्षा जो केवल शासक वर्ग के लिये चुने गये विशिष्ट व्यक्तियों के लिये थी। व्यक्ति के आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सहयोग के आधार पर प्लेटो के आदर्श राज्य का निर्माण कार्य प्रारंभ होता है जो तीनों वर्गों के विकास के साथ संपन्न होता है। न्याय उसकी आधार-शिला है तथा शिक्षा-योजना और साम्यवाद उसके दो प्रमुख आधार स्तंभ हैं।

दार्शनिक शासक

प्लेटो के विचारानुसार सैनिक वर्ग के लोगों में सामान्यतया उत्साह तथा विवेक दोनों ही पाये जाते हैं, किंतु इनमें कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनमें उत्साह की अपेक्षा

1. Social Justice thus may be defined as the principle of a society consisting of different types of men (the producing type, the military type, the ruling type) who have combined under the impulse of their need for one another and by their combination in one society and their concentration on their separate functions have made a whole which is perfect because it is the product and the image of the whole of the human mind." —*Ibid*

विवेक अधिक मात्रा में पाया जाता है। ऐसे लोगों को प्लेटो ने राज्य के दार्शनिक शासक माना है। बार्कर के शब्दों में "संरक्षक वर्ग को दो भागों में विभाजित किया गया है प्रथम सैनिक संरक्षक हैं जिनकी विशेषता साहस है और जिन्हें 'आक्ज़ीलरीज़' का नाम दिया गया है दूसरे दार्शनिक संरक्षक हैं जिनकी विशेषता विवेक अथवा बुद्धि है और जो अपनी श्रेष्ठता के कारण प्लेटो के राज्य के संरक्षक हैं।"[1] विवेक के प्लेटो ने दो गुण माने हैं प्रथम विवेक से व्यक्ति को ज्ञान (knowledge) होता है तथा विवेक ही व्यक्ति को प्रेम (love) करना सिखलाता है। अत: प्लेटो के विचारानुसार शासक विवेक-शील होना चाहिये एवं उसमें पर्याप्त मात्रा में सहनशीलता होनी चाहिए। राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्गों में दार्शनिक-शासक का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि वह राज्य के लोगों को एकता के सूत्र में बांधे रख सकता है तथा उन्हें परस्पर स्नेह करना सिखा सकता है। राज्य के प्रथम दो वर्गों की भांति शासक वर्ग भी विशद जनसंख्या-युक्त वर्ग होना चाहिए। जितनी अधिक आवश्यकता कार्य विशिष्टीकरण (Functional Specialisation) की इस वर्ग के लिए है उतनी अन्य दो वर्गों के लिए नहीं। प्लेटो के विचारानुसार ही दार्शनिक ही सही अर्थों में राज्य का शासक होना चाहिए। बार्कर के शब्दों में "सभी व्यक्ति दार्शनिक वर्ग के नहीं हो सकते।"[2] अतः संख्या की दृष्टि से राज्य का एक अत्यंत सूक्ष्म भाग ही इस वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकेगा।

"रिपब्लिक" में वर्णित आदर्श राज्य में सरकार नियमों द्वारा न होकर व्यक्तियों द्वारा होगी। प्लेटो के राज्य में सर्वाधिक महत्व तथा शिखर का स्थान दार्शनिक शासक को प्राप्त हुआ है। उसके ऊपर किसी प्रकार के कानून आदि का बंधन नहीं है। राज्य की आत्मा में पाये जाने वाले गुणों में दार्शनिक शासक विवेक (reason) गुण का प्रतिनिधि है। अत: अन्य नागरिकों की अपेक्षा उसका विवेक अधिक है। यह शासक जहां विवेकशील है वहां अपने राज्य को अत्यधिक चाहने वाला भी। विवेक के दो तत्वों-ज्ञान तथा प्रेम से वह परिपूर्ण है। राज्य के प्रति उसकी उत्कट श्रद्धा एवं अटूट प्रेम है। प्लेटो उसे "विवेक का प्रेमी ...... और नगर का सच्चा तथा अच्छा संरक्षक मानता है।"[3] दार्शनिक शासक उसे समस्त गुणों का भण्डार प्रतीत होता है। उसमें

1. "The class of guardians bifurcated into two—the military guardians whose characterstic is spirit and who are now termed auxiliaries and the philosophic guardians whose characterstic is reason and who are the guardians par excellence of the Platonic state."

—Ibid.

2. "A whole people can not be a people of philosophers."

—Ibid.

3. "A lover of wisdom ... .a good and true guardian of the city"—*Republic, Book II.*

अनुसार दार्शनिक शासक सर्वकाल तथा सर्वसत्ता का द्रष्टा है (Spectator of all time and all existence)। प्रकृति की श्रेष्ठतम देन से वह युक्त है एवं इसका सर्वश्रेष्ठ ढंग से वह प्रयोग करता है। उसकी आत्मा के किसी भी सुन्दर गुण का अभाव नहीं है।

महाशक्ति मानव और कानूनहीन राज्य

इस प्रकार के सर्वज्ञ, विवरशील, सर्वद्रष्टा तथा समदर्शी दार्शनिक शासक को प्लेटो आदर्श राज्य की बागडोर बिना किसी बाधा के सौंप देना चाहता है। इस श्रेष्ठ और निपुण माँझी के नेतृत्व में आदर्श राज्य की नौका, आँधी और तूफान के झंझावातों से बचती हुई अपनी मंजिल तक अवश्य ही पहुँच जायेगी। प्लेटो को यह बिल्कुल स्वीकार नहीं था कि इस दार्शनिक शासक के कार्य में किंचित मात्र भी रुकावट या बाधा उपस्थित की जाये। इसलिए इस महाशक्ति मानव द्वारा शासित आदर्श राज्य में प्लेटो ने कानून को कोई स्थान नहीं दिया है। आदर्श राज्य के लिए कानून अनावश्यक ही नहीं अपितु हानिकारक भी हैं। उसकी यह मान्यता उसके दृष्टिकोण के अनुसार तर्कसंगत भी प्रतीत होती है। शासन-सचालन में विशेष योग्यता रखने वाले तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से युक्त शासक के हाथ पैर कानून की बेड़ियों से जकड़ देने से आदर्श राज्य के नागरिकों का अहित ही होगा। प्लेटो यह तर्क प्रस्तुत करता है कि जैसे किसी श्रेष्ठ चिकित्सक को चिकित्साशास्त्र की पुस्तकों में से अपना उपचार पत्र (Perscription) बनाने को बाध्य करना उचित नहीं है, उसी प्रकार दार्शनिक शासक को भी कानून की सीमा रेखाओं में बाँध कर रखना उचित नहीं होगा। कानून को दार्शनिक शासक पर थोपना वह इसलिए भी उचित नहीं मानता, क्योंकि कानून प्राकृतिक न होकर रूढ़िगत (Conventional) हैं। रूढ़िजन्य कानून को एक सर्वज्ञाता एवं शासन सचालन विशेषज्ञ पर थोपना उचित नहीं कहा जा सकता। किसी श्रेष्ठ वस्तु का अवगाहन निकृष्ट वस्तु के अनुशासन में रखना प्रथम श्रेणी की भूल ही कही जा सकती है। प्लेटो का आदर्श राज्य एक कानूनी बंधन नहीं है बल्कि सुख दुःख को मिल-जुलकर समान रूप से अनुभव करने के लिये मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित एक पूर्ण समुदाय है। अतः उसके दार्शनिक राज्य में कानून का स्थान न होकर दार्शनिक का शासन है।

उन्मुक्त विवेक का रोमान्स

प्लेटो ने विवेक (reason) को इतना अधिक महत्व माना है कि वह विवेक को ही दार्शनिक शासक मान बैठा है। प्लेटो ने कभी इस सम्भावना पर विचार ही नहीं किया कि स्वयं दार्शनिक शासक का भी पतन हो सकता है अथवा सत्ता उसे भी भ्रष्ट कर सकती है। उसके लिए किसी भी प्रकार की विधि व नियमों की आवश्यकता प्लेटो ने नहीं मानी। प्लेटो के अनुसार वे ऐसे ही स्थितप्रज्ञ और बुद्धिमान होंगे कि उन्हें न तो सुद दबाने की आवश्यकता रहेगी और न उनके आचरण को नियमित करने

को। ऐसे उत्तम पुरुष चुन लेने पर बिना किसी डर के राज्यसूत्र उनके हाथ में दिया जा सकता है। उनके हाथों से राज्य की केवल भलाई ही होगी, राज्य में झगड़े होने का नाम का भी डर नहीं रहेगा। दार्शनिक शासक को इतनी अधिक स्वतन्त्रता देख कर प्रो० जॉवेट कहते हैं, "रिपब्लिक की रोमान्चकारी कल्पना उन्मुक्त ज्ञान का वह रोमान्स है, जिस पर न रीति रिवाजों के बन्धन हैं और न मानवीय मूर्खता और स्वार्थ का हस्तक्षेप।"[1]

एक आदमी को कितना ही बुद्धिमान बनाया जाये लेकिन वह स्वयं विवेक (reason) नहीं बन सकता। मनुष्य ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता है, ज्ञान प्राप्त करता है और रखता है लेकिन वह सम्पूर्ण ज्ञान नहीं बन सकता। विवेक गलत नहीं हो सकता लेकिन दार्शनिक शासक सांसारिक जीव है और सांसारिक जीव होने के कारण वह गलती कर सकता है। प्लेटो न गलती करने वाले विवेक को गलती करने वाले व्यक्ति से मिला देता है। उसकी (प्लेटो की) इस भूल के विषय में प्रो० बार्कर ने कहा है "प्लेटो की गलती मस्तिष्क के पृथक्करण करने में तथा विवेक के निरंकुश सिद्धांत में है।"[2]

फासीवादी-निरंकुशता

बुद्धि के नाम पर "रिपब्लिक" एक निरंकुश राज्य (Autocratic State) बन गया है। यदि प्लेटो की "रिपब्लिक" का अध्ययन गंभीरतापूर्वक किया जाये और उससे कोई निर्णय निकाला जाये तो वह केवल सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) निकलेगा। प्लेटो द्वारा स्थापित किया हुआ आदर्श राज्य "प्रथम फासीवादी राज्य" कहलाता है। प्लेटो ने दार्शनिक रीति से और तार्किक रीति से स्वयं यही निर्णय निकाला है कि जो दार्शनिक शासक होंगे वे ही सब पर शासन करेंगे। उनके ऊपर कोई कायदे कानून नहीं होंगे, उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। वे जैसा भी चाहें वैसा शासन करेंगे। यही बातें आगे आकर मुसोलिनी ने बड़े स्पष्ट रूप में कही थीं।

फासीवाद से तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जहाँ तानाशाही हो और जिसमें व्यक्ति को कोई स्थान न हो। फासीवाद में एक फासिस्ट दल के सिवा अन्य किसी दल का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। डा० आशीर्वादम् ने लिखा है "सर्वाधिकार का मतलब व्यक्ति के जीवन के सीमित होने से होता है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व की शान व योग्यता को पूर्ण रूप से इन्कार किया जाता है। राज्य रूपी पहिये की मशीन

1. "The true romance of the Republic is the romance of free intelligence, unbounded by custom and untrammeled by human stupidity of self will."—*Prof. Jowett.*

2. "The error of Plato lies in the separatist conception of mind and autocratic conception of reason." —*Barker:*

—*Plato and his Predecessors.*

मुसोलिनी का आध्यात्मिक पूर्वज

प्लेटो के दार्शनिक शासक सम्बन्धी विचारों तथा फासीवादी राज्य के इस वर्णन में कई समानतायें हैं। एक महत्त्वपूर्ण समानता प्लेटोवाद तथा फासीवाद में अपने देश को सुन्दर बतलाने की है। प्रो० जी० सी० कैटलिन लिखते हैं—"प्लेटो नवयुवकों को यह पाठ पढ़ाना है कि उनके देश से सुन्दरतर देश दूसरा नहीं है। यहां प्लेटो ऐसी विचार-धाराओं का कि इटली सुन्दर है और मुसोलिनी सदैव ठीक है, रूस की कोई समानता नहीं है और स्टालिन सही है, ब्रिटेन लहरों पर शासन करता है—पूर्णरूपेण समर्थक तथा अनुमोदक प्रतीत होता है।"[1] फासिस्टों के अनुसार राज्य स्वयं में एक लक्ष्य है, नागरिकों के खिलाफ इसे अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त नेता को इन्होंने सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिमान तथा सबसे अधिक बुद्धिमान माना है। नेता की आज्ञा का अक्षरशः पालन उनके लिए परम धर्म है। प्लेटो ने भी राज्य को व्यक्ति से सर्वोपरि माना है एवं राज्य के हितों के लिए व्यक्ति के हितों की आहुति देने को उसने भी उचित ठहराया है। इसी प्रकार राज्य के शासन संचालन में दार्शनिक शासक के नेतृत्व को उसने निर्विवाद एवं निरंकुश रूप में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

प्लेटोवाद तथा फासीवाद दोनों में समानता की उपेक्षा की गई है। असमानता को दोनों ने स्वीकार कर लिया है। यदि प्लेटो ने प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त समानता को घृणा की दृष्टि से देखा है तो फासिस्टों की भी इस सिद्धान्त के प्रति घृणा उससे लेशमात्र भी कम नहीं है। इसी प्रकार दोनों में प्रजातन्त्र के प्रति भी उपेक्षा का भाव पाया जाता है और व्यवसाय पर आधारित कुलीनतन्त्र के दोनों समर्थक हैं। प्लेटोवाद तथा फासीवाद दोनों में समानता की उपेक्षा के साथ-साथ स्वतन्त्रता को भी कोई स्थान नहीं है। प्लेटो के आदर्श राज्य में नागरिक के छोटे, बड़े, व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक आदि सभी प्रकार के कार्यों पर पूर्ण एवं कठोर नियंत्रण है। उसे क्या करना है, क्या नहीं। इसका निर्धारण शासक द्वारा किया जाता है। लगभग इसी प्रकार की स्थिति फासिस्टवादी व्यवस्था में व्यक्ति की होती है।

प्लेटोवाद तथा फासीवाद दोनों का कुलीनतन्त्र में विश्वास है। प्लेटो बुद्धि का शासन (Rule of intellect) स्थापित करने के लिए थोड़े से व्यक्तियों को ही समूचा शासन सौंपना चाहता है। फासीवाद फासिस्ट दल को ही शासक बनाने का इच्छुक है। प्लेटोवाद तथा फासीवाद में इन्हीं समानताओं के कारण प्लेटो को प्रथम फासिस्ट बताया जाता है। बार्कर ने प्लेटो के शासन को योग्य व्यक्ति की निरंकुशता (Enlightened despotism) बताया है। बर्ट्रैंड रसेल ने भी प्लेटो के शासन की आलोचना करते हुये

1. "Plato would have the young men at home taught that no country was finer than their country. Here Plato was the complete moral jingo-as it were Italia finest and Mussolini right, Russia unexcelled and Stalin right, Britania ruling the waves."—*G. C. Catlin.*

कहा है कि वह एक तानाशाही अथवा सर्वाधिकारवादी शासक बन गया है।

बौद्धिक फासीवाद

उपरोक्त मूल समानताओं के बावजूद भी प्लेटो को मुसोलिनी का पूर्वज कहना अन्यायपूर्ण होगा। फासीवाद जहां तर्कवाद तथा बुद्धिवाद के प्रति एक विद्रोह है वहां प्लेटो के बुद्धिवाद का फासिस्टों के प्रज्ञावाद (Intuitionism) से सीधा विरोध है। फासिस्टों के अनुसार बुद्धि (Reason) कभी सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की समस्याओं को नहीं सुलझा सकती जबकि प्लेटो के लिए यही एकमात्र मार्ग-प्रदर्शक है जो मनुष्य को सामाजिक बुराइयों से दूर हटा सकती है। फासीवाद भावनाओं तथा प्रवृत्तियों को बुद्धि से ऊंचा स्थान देता है जबकि प्लेटो में भावनायें भी बुद्धि का रूप ग्रहण करती प्रतीत होती हैं। यह धारणा कि फासिस्ट अपने खून से सोचते हैं (Fascists think with their blood) प्लेटो के दर्शन के लिए सर्वथा महत्वहीन कही जा सकती है।

इसके अलावा फासीवाद की सत्य एवं नैतिकता की धारणा व्यावहारिक है। नैतिक मापदंड तथा सत्य केवल सापेक्षिक सिद्धांत (Relative concepts) हैं और कार्य करते हुये अनुमान (Working hypothesis) के रूप में ही इनका मूल्य है अर्थात् जब तक वे मनुष्य के उद्देश्यों व कार्यों को प्राप्त करने में सहायता दें। इनकी मात्रायें भिन्न हैं और वे स्थान से स्थान तथा पीढ़ी से पीढ़ी बदलते रहते हैं, दूसरे शब्दों में वे कुछ समय के (Arbitrary) मापदंड हैं। परन्तु प्लेटो ने इस विचारधारा का अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में खंडन किया है। प्लेटो का कहना है सत्य व न्याय न तो सापेक्ष हैं और न ही कुछ समय के लिये। वे अन्तर्निहित हैं तथा बुद्धि पर आधारित हैं। वे बाहरी दबाव न होकर मनुष्य के बौद्धिक स्तर (*Rational faculty*) के आन्तरिक प्रवाह के रूप में सामने आते हैं। शक्ति कभी भी ठीक नहीं होती, सुख का मतलब ही आनन्द नहीं होता (Might is never the right, pleasure is not necessarily happiness)। यह सत्य है कि न्याय, नैतिकता तथा सत्य अन्तिम रूप से लाभदायक होते हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक चीज जो लाभदायक होती है वह न्यायसंगत भी हो। इस प्रकार सत्य, नैतिकता तथा न्याय के बारे में प्लेटो का सिद्धांत फासीवाद की व्यावहारिकता के विरुद्ध सीधा आक्रमण है।

फासीवाद के सैनिक राष्ट्रीयवाद के सिद्धान्त (Theory of Militant Nationalism) का प्लेटो के विचारों में कोई स्थान नहीं है। फासिस्ट लोगों के लिये साम्राज्यवादी विस्तार जीवन का स्थिर तथा सनातन नियम है। उनके लिये युद्ध तथा राष्ट्रीय झगड़े उदारता तथा साहस के परिचायक हैं, लेकिन प्लेटो के लिये युद्ध तथा साम्राज्यवाद राज्य (Polity) के लिये बीमारियाँ हैं। उनके आदर्श-राज्य में आत्मरक्षा के अलावा कभी युद्ध नहीं होता। प्लेटो ने विस्तारवाद की आलोचना राज्य में आन्तरिक फूट के संकेत के रूप में की है क्योंकि साहस (Spirit) के गुण का बहुत अधिक

विश्राम हो गया हो। दूसरे शब्दों में प्लेटो के लिये युद्ध एक शक्ति उदारता तथा साहस का साधन न होकर राजनीतिक बीमारी का एक चिन्ह तथा राज्य के आन्तरिक कुप्रबन्ध के लिये उत्तरदायी है। युद्ध के स्थान पर एकता प्लेटो के लिये मनुष्य तथा राज्य का भाग्य है। इसके अतिरिक्त प्लेटो नगर-राज्य की पूर्णता में विश्वास करता है जबकि मुसोलिनी का आधार राष्ट्रीय राज्य है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यह सत्य है कि फासिस्टों की तरह प्लेटो ने यह धारणा की थी कि राज्य एक नैतिक सत्ता है जिसके प्रति व्यक्ति का आज्ञापालन व सेवा का प्रथम कर्तव्य है लेकिन प्लेटो की एकता की सामाजिक नैतिकता युद्ध की फासिस्ट नैतिकता से पूर्णतया भिन्न थी। यह भी सत्य है कि फासिस्टों की तरह प्लेटो ने यह भी कहा था कि शासन करने का विशेषाधिकार कुछ विशेष बुद्धिमान व्यक्तियों का ही है लेकिन जबकि प्लेटो के कुछ बुद्धिमान व्यक्ति कठोर नैतिक तथा बौद्धिक परीक्षाओं के पश्चात् सत्ता प्राप्ति तक पहुँचते हैं। फासीवाद में कुछ व्यक्ति छल, कपट तथा झूठ आदि के तरीकों से सत्ता हड़पने में विश्वास करते हैं। यह भी सच है कि न तो प्लेटो ने और न ही फासीवादियों ने सम्मति या इच्छा (Consent) के दर्शन का उपयोग किया। लेकिन जबकि फासिस्ट लोगों ने शक्ति के दर्शन को जन्म दिया तो प्लेटो ने बुद्धि के दर्शन को। प्लेटो का राज्य एक ऐसा राज्य है जो अपने आप में योग्य है तथा जिसमें एकता है लेकिन फासीवादी राज्य बिखरे हुए समाज (Disintegrated Society) का प्रतिनिधित्व करता है। अतः स्पष्ट होता है कि प्लेटोवाद व फासीवाद में समानता असाधारण, तुच्छ व बाहरी है लेकिन इन दोनों का अन्तर न भरने वाली खाई (Unbridgeable Gulf) की तरह है। प्लेटो को प्रथम फासिस्ट बतलाना हिटलर, मुसोलिनी, सालाजार व फ्रैंको तथा साथ ही प्लेटो के दार्शनिक राजा को भी गुणों से हटाना है जो अपमानजनक भी है और उपहासनीय भी। प्लेटो के दर्शन से फासिस्टों का दर्शन नहीं बनाया जा सकता बल्कि फासिस्टों के दर्शन से प्लेटो का दर्शन बनाया जा सकता है (It is not like making a Fascist out *of Plato, but a Plato out of Fascist*)।

BIBLIOGRAPHY

(1) BARKER Plato and his Prdecessors.
(2) NETTLESHIP Lectures on Plato's Republic
(3) KARL POPPER Open Societies and its Enemies
(4) TAYLOR Plato the Man and his Work
(5) FOESTER Masters of political Thought

अरस्तू के राजदर्शन में व्यावहारिकता एवं वैज्ञानिकता

THE PRACTICAL AND SCIENTIFIC CHARACTER OF ARISTOTALIAN POLITICAL PHILOSOPHY

•

—प्रेम अरोड़ा

•

सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू के रूप में यूनान ने विश्व को तीन बहुमूल्य रत्न प्रदान किये हैं। राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में मानव समाज को इन मनीषियों की देन कल्पना से परे की चीज है। किन्तु इनमें से भी प्लेटो का यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाला शिष्य अरस्तू प्रभावशाली प्रतिभा का धनी था। कहा जा सकता है कि मानव जीवन का शायद ही ऐसा कोई पहलू अछूता रहा हो जिस पर अरस्तू की दृष्टि नहीं गई। अरस्तू ने न केवल विभिन्न विषयों पर ही विचार व्यक्त किये हैं अपितु ऐसे मत भी प्रकट किये हैं जिन पर गहन मनन किये जाने की आवश्यकता है। इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय व्यक्तियों ने ही इतने अधिकार के साथ, इतने विविध विषयों पर विचार व्यक्त किये हों, जितने कि अरस्तू ने।

अरस्तू ने न केवल विभिन्न विषयों पर चिंतन करके अपने बहुमूल्य विचार प्रकट किये बल्कि सामाजिक विज्ञान (Social Science) के कुछ नवीन विषयों को भी जन्म दिया। मैक्सी ने उसे प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक (First Political Scientist) की संज्ञा दी है। उसके अनुसार राजनैतिक चिंतन के इतिहास में अरस्तू का महत्व इस बात में है कि उसने राजनीति को एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान किया। अरस्तू के महान् कार्य 'पालिटिक्स' को यदि राजनैतिक शास्त्र का प्रथम एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। डा० जैलर तो इसकी प्रशंसा में यहां तक कह जाते हैं कि हमारे पास यह सबसे बड़ा प्राचीन खजाना है और आज तक के राजनैतिक दर्शन के लिए सबसे बड़ी देन है।[1] प्रो० बार्कर का मत भी कुछ अधिक भिन्न नहीं, जब कि वे कहते हैं कि अपने विषय पर 'पालिटिक्स' सबसे अधिक प्रभावक और सबसे अधिक

---

1 'The Politics of Aristotle, is the richest treasure that has come down to us from antiquity, and the greatest contribution to the field of Political Science that we possess"—*E Zeller, Aristotle and the Earlier Peripatetics, English Translation Vol. II, P 288*

गहरा ग्रन्थ है। प्रो० डनिंग भी राजनैतिक दर्शन के इतिहास में अरस्तू का महत्व इस तथ्य में मानते हैं कि उसने राजनीति को एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान किया।[1]

विज्ञान और वैज्ञानिकता

अरस्तू को प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक के रूप में देखने से पूर्व यह जानना स्वाभाविक ही है कि विज्ञान से क्या अभिप्राय है ? विज्ञान शब्द का वास्तविक अर्थ है क्रमबद्ध ज्ञान (Systematic Knowledge)। किन्तु विज्ञान शब्द साधारणतया गणित, रसायन शास्त्र (Chemistry), भौतिक शास्त्र (Physics) जैसे अनेक भौतिक विज्ञानों से जुड़ा हुआ है। अतः इसका अर्थ उस ज्ञान से लगाया जाता है जो प्रत्येक दिशा में सत्य एवं ठीक प्रमाणित हो। विज्ञान निरीक्षण (Observation), प्रयोगों (Experimenst) तथा अनुभवों के द्वारा अपने नियम बनाता है और फिर उनके आधार पर भविष्य वाणियाँ की जा सकती हैं। विज्ञान के नियम, जब भी निश्चित दशायें वर्तमान हों, सामान्य रूप से सभी जगह तथा प्रत्येक समय लागू होते हैं। विज्ञान के अध्ययन में जो रीति अपनाई जाती है वह है अनुसंधान (Investigation), निरीक्षण, प्रयोग, वर्गीकरण (Classification) तथा सहसम्बन्ध (Correlation) इत्यादि। इस प्रकार यथार्थता अथवा पूर्णतः ठीक होना, समान रूप से लागू करने के लिए नियमों का वर्तमान होना तथा भविष्यवाणियाँ करना अथवा निष्कर्ष निकालना ही विज्ञान के लक्षण हैं। सारांश में, यह कहा जा सकता है कि विज्ञान कल्पना पर आधारित न होकर तथ्यों पर आधारित होता है।

एक राजनीतिक विचारक के रूप में अरस्तू को मौलिक विचारक होने का श्रेय चाहे प्राप्त हो अथवा न हो, किन्तु उसे इस बात में मौलिक होने का गौरव अवश्य प्राप्त है कि उसने एक नवीन एवं वैज्ञानिक अध्ययन विधि (Scientific method) का विकास किया। प्लेटो के प्रभाव में आने से पूर्व ही, अरस्तू को एक भौतिक शास्त्री के समान शिक्षा प्राप्त थी और उसने अन्य भौतिकशास्त्रियों की भाँति ही घटनाओं के बार-बार किये गये निरीक्षणों पर अपने निष्कर्षों को आधारित करने की सामान्य प्रवृत्ति ही बनाली थी। यही कारण है कि अरस्तू की धारणानुसार वस्तुओं का सावधानीपूर्ण अवलोकन और तुलना करने पर ही, उनके भीतर छिपी हुई वास्तविकताओं का पता लगाया जा सकता है एवं उपर्युक्त तथ्यों से सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

Inductive Method

अरस्तू ने निगमनात्मक अध्ययन विधि को अंगीकार किया है। प्रो० बारकर

1. "The capital significance of Aristotle, in the history of political theories, lies in the fact that he gave to politics the character of an independent sci-nce."

—*Dunning, A History of Political Theories P. 49.*

के शब्दों में—'इस अध्ययन विधि का सार था निरीक्षण करना तथा सम्बन्धित आंकड़े एकत्रित करना, और उनका उद्देश्य था प्रत्येक विचार्य विषय का कोई सामान्य सिद्धान्त खोज निकालना।' अरस्तू की यह अध्ययन विधि प्लेटो की अध्ययन विधि के प्रतिकूल पड़ती है। प्लेटो के अनुसार सत्य और आदर्श मूर्त वस्तुओं में नहीं, अपितु, सामान्य विचारों में पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में वास्तविकता में नहीं बल्कि आदर्श में। यही कारण था कि वह समस्त सौंदर्यपूर्ण वस्तुओं से परे एक पूर्ण सौंदर्य की, समस्त अच्छी वस्तुओं से परे एक पूर्ण अच्छाई की खोज कर रहा था। प्लेटो ने परम सत्य (Absolute Truth) के सम्बन्ध में एक पूर्ण धारणा बना ली थी। इसके प्रतिकूल अरस्तू की मान्यता है कि वास्तविकता पूर्ण विचारों में अन्तर्निहित नहीं है। इसके अनुसार हम जो कुछ भी देखते या अनुभव करते हैं, वह वास्तविक है। वास्तविकता तो निरीक्षण की वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method), तुलना एवं निष्कर्ष के द्वारा ही जानी जा सकती है। आदर्श राज्य (Ideal State) की रचना करने में प्लेटो ने कल्पना-प्रधान-पद्धति का आश्रय लिया। यही कारण है कि शासन योजनाएँ तैयार करते समय वह मानव स्वभाव तथा भूतकाल में पाई जाने वाली सरकारों पर अधिक ध्यान नहीं दे सका। अरस्तू ने इसके विपरीत वैज्ञानिक पद्धति के लिए आवश्यक तथ्य संग्रह के महत्व पर ही बल नहीं दिया बल्कि तथ्यों का मूल्यांकन करने की चेष्टा भी की। उसने लगभग 158 ग्रीक संविधानों का अध्ययन कर, सामग्री एकत्रित की—इस विश्वास के आधार पर कि पूर्ण राजनैतिक अनुभव के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सहज निष्कर्षों पर जाना सम्भव होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू ने सरकारों का अध्ययन उनके इतिहास तथा उनकी तत्कालीन कार्य-प्रणाली के सन्दर्भ में किया। यह विधि निश्चय ही वैज्ञानिक एवं वस्तुगत (Objective) थी।

प्रो० डनिंग यह मानकर चलते हैं कि अरस्तू उच्च विचारों में प्लेटो से उतना भिन्न नहीं जितना कि विधि और स्वरूप में। अनेकों विचार जो देखने में अरस्तू के ही प्रतीत होते हैं वास्तव में प्लेटो में भी देखने को मिल जाते हैं।[1] प्लेटो से कम, किन्तु फिर भी बहुत बड़े परिमाण तक अरस्तू अपने दर्शन की व्याख्याओं के लिए उन विचारों पर निर्भर करता है जो समकालीन ग्रीक चिन्तन की विशेषताएँ थीं। वह आचार सम्बन्धी अवधारणाओं (Ethical Concepts) को राजनैतिक अवधारणाओं (Political Concepts) से पृथक् करके राजनीति को स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान करता है। राजनीति विज्ञान ही केवल मात्र ऐसा विज्ञान है जो मनुष्य को सर्वोच्च गुण (Supreme good) की प्राप्ति कराता है। इसका अर्थ है उसमें पाई जाने वाली सम्पूर्ण

1. "He differs from his master, Plato, much more in the form and method than in the Substance of his thought. Most of the ideas which seem characteristically Aristotelean are to be found in Plato."
—*Dunning*, A History of Political Theories.

शक्तियों का विकास व्यक्ति के लिए ऐसा होना तब तक असम्भव है जब तक वह अपने साथियों के साथ न रहे। इस प्रकार व्यक्ति का शुभ राज्य के शुभ में मिल गया है। इसलिए राज्य का विज्ञान राजनीति विज्ञान ही Architectonic है।

आदर्शवाद बनाम सापेक्षवाद

प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य का जो चित्र उपस्थित किया है वह यथार्थ से कोसों दूर है। वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। अरस्तू ने भी सर्व प्रथम आदर्श राज्य को खोजने का प्रयास किया किन्तु अन्त में उसने ऐसे राज्य की खोज की जो कि विशेष परिस्थितियों में सर्वोत्तम हो। दूसरे शब्दों में, अरस्तू के अनुसार यह निश्चित करने में कि कौन सा संविधान सर्वश्रेष्ठ है, हमें न केवल यह देखना है कि कौन सा स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है, बल्कि देखना तो यह है कि कौन सा प्रकार दी हुई परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ है।[1] अपने राज्य में कानून की सर्वोच्चता की घोषणा करके एक सर्व शासक तत्व को अरस्तू ने अपने राजनीतिक चिन्तन में स्थान दिया है। वह इस बात को कभी स्वीकार नहीं करेगा कि विवेकशील व्यक्ति के हाथ में राजनैतिक जीवन की बागडोर सौंप दी जाय एवं अन्य सब लोग मूक होकर उसके आदेशों का पालन करें। प्लेटो की इस मान्यता के विरुद्ध अरस्तू ने यह घोषणा की कि सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का मनमाना शासन किसी भी प्रकार कानून के शासन से श्रेष्ठ नहीं हो सकता। सेबाइन के शब्दों में कानून की निर्लिप्त शक्ति मजिस्ट्रेट का स्थान तो नहीं लेती किन्तु वह मजिस्ट्रेट के अधिकार को एक नैतिक गुण अवश्य प्रदान करती है जो उसमें अन्यथा नहीं हो सकता।[2] वास्तव में विवेक सम्पन्न व्यक्ति का शासन भी शासितों के हित में नहीं हो सकता क्योंकि यह शासितों में हीनता की भावना का विकास करता है। अतः व्यक्तिगत शासन की तुलना में कानून का शासन सर्वोत्तम है।

राज्य

अरस्तू एक सच्चे राजनैतिक वैज्ञानिक के रूप में यह दिखाने का प्रयास करता है कि राज्य समुदाय का ही विस्तृत रूप नहीं है। इससे पूर्व सम्भवतः और कोई विचारक इस समस्या पर विचार नहीं कर सका। इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए वह राज्य का विश्लेषण इसके अंगों में एवं उसके प्रारम्भिक स्तर से करता है। मुख्य रूप से दो प्रवृत्तियाँ मनुष्य को एक दूसरे से जोड़ती हैं। प्रथम तो पुरुष एवं नारी को एक दूसरे से

1. "We must consider, Aristotle declares, not only what form is the best absolutely, but what is the best under given conditions"
—Quoted from *Dunning's, A History of Political Theories*

2. "The passionless authority of law does not take the place of a magistrate, but it gives to the magistrate's authority a moral quality which it could not otherwise have"
—*Sabine, History of Political Theory, P, 94-95.*

समीप लाती है तथा दूसरी मालिक एवं दास को पारस्परिक लाभ के लिए एक दूसरे के निकट लाती है। इस प्रकार तीन व्यक्तियों का एक सबसे छोटा समाज बनता है। समाज जो कि प्रतिदिन की मांगों को पूर्ण करने के लिए प्रकृति के द्वारा स्थापित की हुई एक संस्था है। इसकी स्थिति एक गाँव की है जो कि प्रतिदिन की मांगों से कुछ अधिक की पूर्ति के लिए, कुछ परिवारों द्वारा किया हुआ एक संयोग है। तीसरी अवस्था है कुछ गांवों का एक पूर्ण समुदाय में संयोग, जो कि आत्मनिर्भरता के लिए पर्याप्त बड़ा है तथा जो जीवन के लिए अस्तित्व में आया किन्तु अच्छे जीवन को बनाये रखने के लिए विद्यमान है। यहीं पर राज्य का अन्य समुदायों से भेद स्पष्ट हो जाता है। राज्य भी उसी कारण से अस्तित्व में आया जिस कारण से गांव अर्थात् जीवन को बनाये रखने के लिए किन्तु राज्य को एक अन्य इच्छा की भी पूर्ति करनी है वह है अच्छे जीवन की इच्छा। राज्य अपने पूर्वगामियों की अपेक्षा नैतिक कार्यों के लिए अधिक पर्याप्त क्षेत्र प्रदान करता है। राज्य का क्रमिक विकास दिखाकर अरस्तू ने उसकी प्रकृति (Nature) पर अच्छा प्रकाश डाला है। राज्य की प्रकृति, उत्पत्ति (Origin) एवं कार्यों के विषय में विचार प्रकट कर अरस्तू ने राजनीति शास्त्र के कुछ ऐसे अटल सत्यों पर प्रकाश डाला है जिन पर प्राचीन काल से लेकर अब तक राजनीति शास्त्र के विद्वान् बराबर चिन्तन करते आ रहे हैं।

प्लेटोनिक साम्यवाद का विरोध

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में साम्यवाद (Communism) की जिस व्यवस्था का समर्थन किया है, अरस्तू उससे सहमत नहीं। वह तथ्यों से मुँह नहीं मोड़ता और यह मानकर चलता है कि साम्यवाद की ऐसी व्यवस्था समाज का एक अंग बनकर नहीं रह सकती। अरस्तू के अनुसार बहुसंख्यता (Plurality) तो राज्य की प्रकृति में ही है और यह है असमानों की बहुसंख्यता (Plurality of Unequals)। इसके विपरीत प्लेटो की धारणा तो यह है कि राज्य में जितनी अधिक एकता होगी उतना ही अच्छा है। अरस्तू के अनुसार एक राज्य में कार्यों की भिन्नता होती है जिसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि कुछ का कार्य शासन चलाना है एवं कुछ लोगों का कार्य शासित होना। अगर एकता का आदर्श ठीक भी हो तो भी अरस्तू के अनुसार इसे प्लेटो के कार्यक्रमों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। समान वस्तुओं के लिए मेरी या मेरी नहीं कहने मात्र से ही एकता को प्राप्त नहीं किया जा सकता जैसा कि प्लेटो मानकर चलता है। अरस्तू के अनुसार यद्यपि प्लेटो के राज्य में एक बालक सभी का हो सकता है वह इस अर्थ में कि उसे एक निश्चित उम्र के संरक्षकों द्वारा अपना लिया जाता है पर वह सभी का बच्चा नहीं हो सकता और वह इस अर्थ में कि वह हरेक का ही बच्चा है। किसी भी व्यक्ति में उस बालक के प्रति वे भावनायें नहीं होंगी, अथवा उसकी तरफ वैसा ही ध्यान नहीं देगा जो कि वह स्वयं के अपने बच्चे पर दे सकता। हर नागरिक के हजारों लड़के एवं हर लड़के के हजारों पिता होंगे। ऐसी परिस्थितियों में पनपने वाली मित्रता

क्षणिक होगी। अरस्तू शायद यह मानेगा कि "*It is better to be a cousin than a Platonic son*".

इसी प्रकार अरस्तू यह भी कभी स्वीकार नहीं करेगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति (*Private property*) की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाय और इसके लिए वह जिन कारणों की खोज करता है उनमें वास्तव में सचाई है भी। इसमें सन्देह नहीं है कि आर्थिक साधना का राजनीतिक जीवन के संगठन पर समुचित रूप से प्रभाव पड़ता है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह मानव जीवन के कितने ही श्रेष्ठ गुणों का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं करता हो, सम्पत्ति के अभाव में अपने जीवन का समुचित विकास नहीं कर सकता है। समान सम्पत्ति के दोषों पर दृष्टिपात करते हुए अरस्तू की धारणा है कि इस व्यवस्था में जो व्यक्ति कठिन परिश्रम करते हैं तथा थोड़ा पाते हैं उनके प्रति वे लोग अवश्य कटुता का अनुभव करेंगे जो थोड़ा परिश्रम करके ही अधिक प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का समान स्वामित्व (Common ownership property) झगड़े की जड़ है। फिर सम्पत्ति का विचार ही आनन्द का स्रोत है। व्यक्ति तब अधिक कार्य कुशल होते हैं, जब वे उस कार्य को सम्पन्न करते हैं जो उनका अपना ही होता है। श्रेष्ठ राजनीतिक जीवन की स्थापना तभी सम्भव हो सकती है जब कि राज्य के नागरिकों की आर्थिक विषमता को कम से कम किया जाय एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकृत की जाय। नागरिकों के एक भाग का अपनी सम्पत्ति का विकास करते चले जाना तथा दूसरे भाग का अभावग्रस्त रहना राज्य के अस्तित्व के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होगा। इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रश्न पर अरस्तू ने अत्यन्त व्यावहारिक विचार व्यक्त किये हैं। डनिंग की भी यही मान्यता है जब वे कहते हैं—"वह एकता नहीं है, जो व्यक्तियों की समस्त विभिन्नताओं को ही समाप्त कर दे। राज्य की एकता तो उन व्यक्तियों के अच्छे सम्बन्धों से विकसित होती है जो शासक एवं शासितों के रूप में एक दूसरे से भिन्न होते हैं।"[1]

परिवार और दास

प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में राज्य को एक विस्तृत परिवार एवं राज्य के शासक को परिवार के प्रमुख के रूप में प्रतिष्ठित किया है जिसकी अरस्तू ने तीव्र आलोचना की है। अपने विचारों का समर्थन वह तर्क की कसौटी पर करता है। राज्य और परिवार एक दूसरे से भिन्न हैं—मात्रा में ही नहीं बल्कि प्रकार में भी। परिवार उन व्यक्तियों से मिलकर बना होता है जो अपनी पत्नी, बच्चों, धन एवं साथ ही दासों पर स्वामित्व रखता है। किन्तु मालिक का इन तीनों के साथ सम्बन्ध एक ही प्रकार का नहीं है। वह पत्नी

1. "*It is not a unity which consists in the obliteration of all* diversities in individuals The unity of the state is that which arises out of the proper organisation of relations among individuals who differ from one another as rulers and ruled"

—*Dunning, A History of Political Theories P. 63.*

पत्नी पर एक पूर्ण निरंकुश के रूप में शासन नहीं करता बल्कि एक संवैधानिक सलाहकार के रूप में शासन करता है। अपने बच्चों पर भी वह एक निरंकुश (Despot) के रूप में नहीं, बल्कि एक राजा के रूप में शासन करता है जो कि अपने हित की तरफ न देखकर, उनके हित की परवाह करता है। दासों के साथ उसका व्यवहार एक पूर्ण निरंकुश शासक जैसा होता है। जबकि अरस्तू के अनुसार राज्य में शासक का प्रत्येक नागरिक के साथ सम्बन्ध एक ही प्रकार का होता है। डब्ल्यू० डी० रौस के शब्दों में कहा जा सकता है कि "परिवार जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये विद्यमान है जबकि राज्य का अस्तित्व नैतिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बना हुआ है।"[1] अरस्तू ही प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक है जिसने राज्य एवं परिवार के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचकर भ्रम का निवारण किया। अरस्तू इस बात को कभी स्वीकार नहीं करेगा कि राज्य व्यक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखे। यद्यपि निजी अधिकारों के विषय में उसके कोई बहुत ही उच्च विचार नहीं हैं क्योंकि यह विचार तो ग्रीक चिन्तन के लिए ही विदेशी था। पर वह यह तो स्वीकार करता है कि व्यक्ति उस समय सर्वश्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, जब कि उसका व्यक्तित्व राज्य में ही समाहित कर दिया जाय। इसके साथ ही साथ अरस्तू लिंगों (Sex) की असमानता में भी विश्वास करता है। वह यह मानकर चलता है कि "पुरुष आदेश देने में, स्वाभाविक रूप से ही नारी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे बड़े एवं परिपक्व, छोटे एवं अपरिपक्व की अपेक्षा अधिक उच्च होते हैं।"[2]

सरकार और जनमत

अरस्तू ही प्रथम राजनीतिक विचारक था जिसने जनमत की उपस्थिति एवं उसके महत्व पर बल दिया। इसके पूर्व सुकरात एवं प्लेटो ने तो बौद्धिक निरंकुशता (Intellectual Despotism) का समर्थन किया। राज्य की सर्वोच्च शक्ति का निवास एक व्यक्ति के हाथों में हो अथवा जनसमुदाय के हाथों में, इस प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए उसने कहा कि कुल मिलाकर जन समुदाय का विवेक किसी व्यक्ति विशेष के विवेक से अधिक श्रेष्ठ होता है। जनसाधारण में चाहे एक विशेषज्ञ की भांति राजनीतिक प्रश्नों का समाधान ढूंढने की क्षमता भले ही न हो किन्तु जिस प्रकार कारीगरों की अपेक्षा मकान के गुण दोषों का अधिक अच्छा ज्ञान मकान में निवास करने वालों को हो सकता है उसी प्रकार राजनीतिक प्रश्नों का अच्छा ज्ञान जनसाधारण को ही हो सकता है जो किसी राजनीतिक व्यवस्था में निवास करते हैं। जनसाधारण के हाथ में

1 "The household exists for the sake of the physical needs of life, the state for the moral and intellectual needs."

—*W. D. Ross, Aristotle.*

2 "The male is by nature better fitted to command than the female, just as the elder and full-grown is superior to the younger and more immature." —*Aristotle's Politics, P. 22.*

सर्वोच्च सत्ता का निवास होना राज्य के लिए हितकर ही सिद्ध होगा। आज किसी भी राजनैतिक समुदाय में सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति (Supreme Political Power) एवं सर्वोच्च राजनैतिक विवेक (Supreme Political Wisdom) की उपस्थिति हम जन साधारण में ही स्वीकार करके चलते हैं व्यक्ति विशेष में नहीं। जनमत ही आज के प्रजातन्त्र का आधार है।

राज्य और व्यक्ति

व्यक्ति तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप किस प्रकार का हो इस पर जो विचार प्रकट किए गये हैं उनमें सर्वाधिक महत्व अरस्तू का ही है। सोफिस्ट विचारकों ने पूर्ण व्यक्तिवाद (Absolute Individualism) का पक्ष लिया। यहाँ राज्य को व्यक्ति के हितों की पूर्ति का एक साधन मात्र बना दिया गया है। प्लेटो ने राज्य की आंगिक एकता (Organic unity) का वर्णन यहाँ तक बढ़ा चढ़ा कर किया है कि 'व्यक्ति अपने आपको राज्य में पूरी तरह समा देता है। *अरस्तू यह मानकर तो चलता है कि राज्य ही अन्तिम और पूर्ण संस्था है एवं जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए इसका जन्म हुआ किन्तु यह जीवन को पूर्ण बनाने के लिए बना हुआ है।"*[1] लेकिन इसकी भी कुछ सीमायें हैं। जहाँ अरस्तू राज्य को व्यक्ति के लिए एक अनिवार्य प्राकृतिक एवं सर्वोच्च समुदाय के रूप में देखता है वहाँ उसने व्यक्तिवादी विचारक (Individualistic Thinker) की भाँति यह घोषणा भी की है कि राज्य के अतिरिक्त भी व्यक्ति की अन्य प्राकृतिक एवं अनिवार्य संस्थायें हैं। राज्य को अरस्तू ने अपने आप में एक लक्ष्य नहीं माना बल्कि राज्य को वह एक श्रेष्ठ साधन मानता है जिसका साध्य है व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति। व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हो इस विषय पर अरस्तू अन्य विचारकों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

स्वतन्त्रता और शक्ति

अरस्तू ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Individual Liberty) एवं राजनैतिक शक्ति का भी समुचित रूप से सन्तुलन बैठाने का प्रयास किया है। वास्तव में राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या ही यही है कि इनमें तालमेल किस प्रकार बैठाया जाय। प्रत्येक राज्य में शासक एवं शासित दो वर्ग होते हैं। इन दोनों वर्गों के अस्तित्व के अभाव में राजनीतिक-जीवन की कल्पना दुष्कर है। राजनीति शास्त्र के चिन्तकों के सामने यह समस्या सदैव ही रहती है। अरस्तू यह मानकर चलता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता एवं पूर्ण समानता एक अत्यन्त अव्यावहारिक वस्तु है, इसकी उपस्थिति भी किसी दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं कही जा सकती। इसके साथ ही वैधानिक जीवन का निर्वाह करना एवं वैधानिक नियमों का पालन करना व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं समानता के लिये घातक

1 "It is the last and the perfect association. Originating in the bare needs of living it exists for the sake of complete life."

—*Aristotle: Politics.*

नहीं होगा। अरस्तू तो यहाँ तक कहता है कि विधान के अन्तर्गत व्यतीत किया जाने वाला जीवन दासता का नहीं, अपितु सर्वोच्च कल्याणकारी जीवन समझा जाना चाहिये।[1] व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं राजकीय शक्ति में संतुलन कायम करके इसने एक विवादग्रस्त समस्या को वैज्ञानिक ढंग से सुलझाने का प्रयास किया है।

अरस्तू हमारे सम्मुख एक यथार्थवादी विचारक के रूप में आता है। अतः इसने प्लेटो की भाँति एक ऐसे आदर्श राज्य का चित्र अङ्कित नहीं किया जो केवल मृगतृष्णा की भाँति है। यह निश्चित करने में कि कौनसा संविधान श्रेष्ठ है, सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक है कि कौनसा प्रकार व्यावहारिक है या दूसरे शब्दों में किसे सर्वश्रेष्ठ ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार ही संविधान का स्वरूप निश्चित करना उचित होगा। अरस्तू यह मानकर चलता है कि मानव समाज में अमीरी और गरीबी की अति ही दुर्गुणों को जन्म देती है। प्रथम तो आज्ञापालन की क्षमता का अभाव उत्पन्न करती है तथा द्वितीय आदेश देने की क्षमता से वंचित कर देती है। जिस राज्य की जनता अमीरों और गरीबों इन दो वर्गों में विभक्त हो जाती है वहाँ कोई वास्तविक राज्य नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ इन दो वर्गों में सच्ची मित्रता नहीं होगी जो सभी समुदायों का आधार है।[2] अतः वह राज्य सर्वश्रेष्ठ है जिसमें मध्यम वर्ग प्रत्येक से या दोनों छोरों से अधिक शक्तिशाली है। ऐसे राज्य में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने वाले कारण प्रचारपूर्ण मात्रा में होंगे तथा स्थिरता राज्य का लक्षण होगी। वह संविधान, जिसमें मध्यम मार्ग का सिद्धान्त निहित रहता है, निश्चित ही 'पॉलिटी' (Polity) है किन्तु इससे भी यह अभिप्राय लेना गलत होगा कि पॉलिटी ही प्रत्येक प्रकार की दशाओं में आवश्यक रूप से सर्वश्रेष्ठ है। अरस्तू की धारणानुसार परिस्थितियाँ संविधान के किसी भी प्रकार को सर्वश्रेष्ठ बना सकती हैं। यहाँ सामान्य सिद्धान्त यह है कि वे तत्व जो कि वर्तमान संविधान को बनाये रखने में प्रमुख होते हैं उन तत्वों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं जो कि किसी प्रकार का परिवर्तन लाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में स्थिरता ही मापदण्ड है। वही संविधान सर्वश्रेष्ठ है जो परिस्थितियों में सबसे अधिक समय तक टिका रहता है। अरस्तू ने उन दशाओं का भी वर्णन किया है जिन्हें अपनाकर ही कोई संविधान श्रेष्ठता की पंक्ति में खड़ा हो सकता है। यहाँ इसका दृष्टिकोण निश्चय ही उस डॉक्टर की भाँति है जो रोग के कारणों के साथ ऐसे उपचार भी बताता है जिससे स्वास्थ्य बनाया रखा जा सके। अरस्तू स्वयं कहता है कि व्यक्ति की ही भाँति राज्य के लिये सर्वश्रेष्ठ जीवन सद्गुणों

---

1. "For life in Subjection to the Constitution is not to be regarded as slavery, but as the highest welfare." —*Aristotle, Politics.*

2. "Where a population is divided into the two classes of very rich and very poor, there can be no real State; for there can be no real friendship between the classes and friendship is the essential principle of all association." —*Aristotle's Politics.*

की प्राप्ति में होता है, सम्पत्ति की शक्ति को प्राप्त करने में नहीं।[1] जिस प्रकार एक व्यक्ति के द्वारा दासों पर शासन करना कोई उच्च वस्तु नहीं है उसी प्रकार एक राज्य के द्वारा निरंकुश साम्राज्य (Despotic Empire) को बनाये रखना कोई सम्मानजनक वस्तु नहीं है। एक आक्रमक युद्ध के द्वारा विजय प्राप्त करना ही राज्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। राजनैतिक और सामाजिक संगठन के समस्त तत्वों की क्रियाओं में समरसता और पूर्णता प्राप्त करना ही सच्चा आदर्श है तथा उसमें ही व्यक्ति और राज्य का पूर्ण सुख निहित है। यह आदर्श कुछ अंश तक तो बाहरी दशाओं पर निर्भर करता है किन्तु बड़ी मात्रा में लोगों के चरित्र और संस्कृति पर निर्भर करता है।

संविधान

संविधानों का वर्णन एवं वर्गीकरण करने में अरस्तू ने जिस विद्वत्ता का परिचय दिया है उससे की सामग्री की गहनता स्पष्ट होती है। संविधानों का वर्गीकरण प्रथम तो यह उस सत्ता के आधार पर करता है जिसमें सार्वभौमिक शक्ति निहित है तथा द्वितीय उस उद्देश्य के आधार पर जिसकी तरफ सरकार का आचरण निर्देशित है। बाद वाला सिद्धान्त विशुद्ध प्रकारों को भ्रष्ट प्रकारों से पृथक करता है, क्योंकि राज्य का सच्चा उद्देश्य अपने सदस्यों का पूर्णता प्राप्त कराना है। जब इस उद्देश्य को सामने रखकर सरकार शासित होती है तो वह प्रकार विशुद्ध है किन्तु इसके विपरीत जब प्रशासन सभी नागरिकों के हित की तरफ नहीं बल्कि केवल शासकीय सत्ता के हित की तरफ केन्द्रित होता है तो राज्य भ्रष्ट (Corrupt) होता है। अरस्तू ने राजतन्त्र (Monarchy), कुलीन तन्त्र (Aristocracy) एवं पॉलिटी (Polity) को विशुद्ध प्रकार एवं अत्याचार तन्त्र (Tyranny), धनतन्त्र (Oligarchy) तथा प्रजातन्त्र (Democracy) को इनके भ्रष्ट प्रकार माना है। इस वर्गीकरण में जो मुख्य बात है वह यह कि विशुद्ध प्रकार एक आदर्श पर आधारित होते हैं जब कि इनके भ्रष्ट प्रकार (Corrupt forms) इस आदर्श पर आधारित न होकर उससे दूर हटे होते हैं। इन छों प्रकारों में से प्रत्येक के अन्तर्गत सरकारें एक के द्वारा, कुछ के द्वारा अथवा बहुतों के द्वारा चलाई जाती हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि अरस्तू ने संविधानों का वर्गीकरण करने में केवल संख्या को ही आधार बनाया है। धनी बहुमत (Rich majority) प्रजातन्त्र नहीं है, इसी प्रकार गरीब अल्पमत (Poor minority) को धनतन्त्र नहीं कहा जा सकता। संख्यायें वास्तव में महत्वहीन हैं। धनतन्त्र आवश्यक रूप से धनिकों द्वारा चलाई जाने वाली सरकार है। इसी प्रकार प्रजातन्त्र गरीबों के द्वारा चलाई जाने वाली सरकार है। इस दृष्टिकोण से पालिटी आवश्यक रूप से मध्यम वर्ग की सरकार है। एक स्थान पर अरस्तू धनतन्त्र के लक्षणों की कुछ विशेषताओं को इस प्रकार से बताता है—उच्च जन्म, सम्पत्ति एवं शिक्षा। इसी प्रकार प्रजातन्त्र के लक्षणों की कुछ विशेषतायें नीचा जन्म, गरीबी, अशिक्षा आदि

1. "For the State, as for the individual the best life lies in the pursuit of virtue, rather than of power of wealth" —Aristotle's Politics.

हैं। संविधानों में भेद करने का एक और मार्ग है। हम यह पूछ सकते हैं कि वह कौनसा सिद्धान्त है जिसके आधार पर सरकारी कार्यालय वितरित किये जाते हैं। धनतन्त्र के सम्बन्ध में इसका उत्तर है सम्पत्ति। किन्तु गरीबी का प्रजातन्त्र में सरकारी कार्यालय सौंपने का आधार नहीं माना जा सकता। साथ ही वह आधार जिसके अनुसार राजतन्त्रों एवं कुलीनतन्त्रों में शक्ति निहित की जाती है। केवल राजा का अकेला होना अथवा कुछ शासकों का होना ही नहीं है, अपितु राजा का सर्वोच्च सद्‌गुण (Supreme virtue) अथवा शासकीय वर्ग का तुलनात्मक सद्‌गुण है।

संविधानों के वर्गीकरण में इस विविध दृष्टिकोण को अपनाने के फलस्वरूप यद्यपि इसे समझ पाना कुछ कठिन अवश्य हो गया है किन्तु हम संविधानों का विभाजन के किसी एक सिद्धान्त के आधार पर ही वर्गीकृत करने के विरुद्ध अरस्तू की चेतावनी को ध्यान में रख सकते हैं। हम अब भी राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनतन्त्र एवं प्रजातन्त्र के बीच वही भेद स्थापित करते हैं जैसा अरस्तू ने स्वयं ही किया। अरस्तू के अनुसार वे सिद्धान्त जो हर समुदाय में सर्वोच्चता को हासिल करने के लिए झगड़े का कारण बन जाते हैं, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सद्‌गुण तथा जन्म आदि हैं। जहाँ स्वतन्त्रता के आधार पर सरकार के आचरण में भाग प्रदान किया जाता है वहाँ का संविधान प्रजातन्त्रात्मक है। जहाँ सम्पत्ति को मुख्य आधार बनाया जाता है वहाँ की सरकार धनतन्त्रात्मक है। कुलीनतंत्र में सद्‌गुण ही मुख्य आधार है जिसके आधार पर आफिस वितरित किये जाते हैं। किन्तु पॉलिटी वह संविधान है जहाँ स्वतन्त्रता और सम्पत्ति दोनों ही सिद्धान्तों का समावेश होता है। संविधानों का वर्गीकरण इतने वैज्ञानिक ढंग से अरस्तू के पूर्व सम्भवतः कोई भी नहीं कर सका।

सरकार का संगठन

अरस्तू ने सरकार को तीन आवश्यक अंगों में विभक्त किया है। प्रथम तो विचार-विमर्शीय अंग, द्वितीय मजिस्ट्रेटों की एक व्यवस्था तथा तृतीय एक न्यायिक अंग। इन तीन तत्वों के स्वरूप और कार्य की भिन्नता पर विविध संविधानों की प्रकृति निर्भर करती है। अति को पहुँचे हुए प्रजातन्त्र में विचार-विमर्श करने वाला अंग समस्त व्यक्तियों की एक सभा होगी जो सभी प्रश्नों पर प्रत्यक्ष रूप में विचार करेगी। अति को पहुँचे हुए धनतंत्र में विचार विमर्श करने वाला अंग अत्यन्त धनी नागरिकों का एक समूह होगा जिनके पास असीमित शक्तियां रहेंगी। पॉलिटी में इन दोनों का मिश्रण होगा क्योंकि यहां विचार विमर्शीय अंग नागरिकों का वह समूह होगा जिनकी संपत्ति सम्बन्धी योग्यतायें मध्यम प्रकार की होंगी जो विषयों के एक भाग पर ही अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करेगा।

क्रांतियां और उनके उपचार

अपनी परिपक्व, राजनैतिक बुद्धि के द्वारा अरस्तू ने उन कारणों को जानने का भी प्रयास किया है जो एक संविधान को विकृत कर देते हैं। अरस्तू ने न केवल कारणों

पर ही प्रकाश डाला है बल्कि उपचार बताने में भी अपनी राजनैतिक बुद्धि एवं विवेक का परिचय दिया है। अरस्तू के अनुसार क्रांति का एक मुख्य कारण व्यक्तियों के पक्षपातीय तथा न्याय की दूषित धारणायें हैं। प्रजातन्त्रवादी सोचते हैं कि क्योंकि व्यक्ति सम्पत्ति में असमान होते हैं, अतः उन्हें पूर्ण रूप से असमान होना चाहिए। वे कारण, जो क्रांतिकारी के मन की दशा को इस ओर ले जाते हैं वे हैं दूसरों के द्वारा लाभ या सम्मान हड़प लेना, क्रोध एवं प्रतिरोध की भावना, राज्य के किसी भाग में अनुपात रहित वृद्धि (Disproportionate increase in any part of the State), चुनाव थकान (Election fatigue) छोटे परिवर्तनों पर आवश्यक ध्यान न देना आदि। ऐतिहासिक ज्ञान के अपार भण्डार के कारण अरस्तू ने क्रांति के इन कारणों के विभिन्न उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं एवं उनके उपचार भी बताये हैं जिन्हें अपनाकर संविधानों की स्थिरता निश्चित की जा सकती है।

अरस्तू के चिन्तन में हम उन तत्वों की उपस्थिति का आभास मिलता है जिनके आधार पर आगे आने वाले चिन्तकों ने राज्य की सार्वभौमिकता (Sovereignty) सम्बन्धी दर्शन प्रस्तुत किया है। वह इस बात को मानकर चलता है कि प्रत्येक राज्य के लिये एक सर्वोच्च शक्ति की उपस्थिति अनिवार्य है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उदाहरण स्वरूप अरस्तू ने इस सर्वोच्च शक्ति को भी कानून के ऊपर नहीं मानकर उसके आधीन ही माना है। इस प्रकार सार्वभौमिकता सम्बन्धी अत्यन्त वैज्ञानिक विचारों का प्रतिपादन वह भले ही नहीं कर पाया हो किन्तु जो कुछ भी उसने विचार प्रकट किये उन्हीं पर आगे चलकर सार्वभौमिकता सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया गया।

अतः स्पष्ट है कि अरस्तू के पूर्व के राजनीतिक विचारकों ने राज्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये वे वैज्ञानिक नहीं थे। सुकरात ने तो राज्य के सम्बन्ध में विशेष ध्यान नहीं दिया। सत्य की खोज करना ही उसका परम ध्येय था। प्लेटो ने निरपेक्ष सत्य के आधार पर जिन राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत किया है वे अव्यावहारिक अधिक हैं। अरस्तू ही प्रथम राजनीतिज्ञ है जिसे अपने विचारों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय दिया जा सकता है। उसका आदर्श राज्य प्लेटो के आदर्श राज्य की भांति काल्पनिक न होकर व्यावहारिक है। मैक्सी के कथन में कहीं कोई त्रुटि नहीं कि अरस्तू ही प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था और राजनैतिक चिन्तन के इतिहास में उसका महत्व निश्चय ही चिर प्रतिष्ठित है।

BIBLIOGRAPHY

(1) ROSS W. D — Aristotle
(2) BARKER — Plato and Aristotle
(3) JOWETT — The Politics of Aristotle
(4) MAXEY — Political Philosophies.
(5) GOMPERZ — Greek Political Thinkers

३

मध्ययुगीन विचारकों के मुख्य विचार

(POLITICAL IDEAS OF MEDIAEVAL THINKERS)

•

—निर्मल पुठिया

•

राजनैतिक दर्शन के इतिहास में मध्ययुग कब आरम्भ होता है इसके बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। मैकलवन जैसे कुछ लेखक पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल बताते हैं और सन्त एम्ब्रोज, सन्त आगस्टाइन, पोप ग्रेगरी तथा कुछ अन्य चर्च फादर्स का पहले भाग में स्थान देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे लेखकों के मतानुसार मध्यकाल इसाई चर्च की स्थापना से आरम्भ होता है। कुछ अन्य विचारकों के अनुसार मध्ययुग का आरम्भ 11वीं शताब्दी से हुआ। निश्चित रूप से हम इसे मध्ययुग का आरम्भ मान सकते हैं। 11वीं से 13वीं शताब्दी तक का युग चर्च का स्वर्णयुग कहलाता है। इसमें पोप और चर्च अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गये थे।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू का विश्वास था कि सामाजिक संगठन का सबसे उत्कृष्ट रूप नगर राज्य है। नगर राज्यों में ही मनुष्य श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में नगर राज्य का उद्देश्य केवल अपने नागरिकों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना मात्र नहीं है वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास का उत्तरदायित्व उसी पर है। इन दोनों दार्शनिकों ने व्यक्ति को राज्य में इतना आत्मसात कर दिया था कि उसका स्वयं में कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया था। परन्तु प्लेटो और अरस्तू के बाद आने वाले दार्शनिकों ने राज्य की सदस्यता को शुभ जीवन के लिए बिल्कुल आवश्यक नहीं माना। शुभ जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य को राज्य से बाहर रहना चाहिए। यदि राज्य का पूर्ण बहिष्कार न कर सकें [redacted] राज्य से कम से कम संबंध रखें। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों के और उनके बाद आने वाले राजनैतिक विचार से चलकर जब हम रोमन्स के विचार पर आते हैं तो हमें एक भिन्न मानसिक वातावरण का अनुभव होता है। रोमन दार्शनिकों की महत्त्वपूर्ण देन कानून तथा न्यायशास्त्र है। उनके अनुसार कानून धर्मनिरपेक्ष है जिसकी शक्ति शासक की इच्छा के द्वारा निकली है। यूनानी दार्शनिकों के विचारों के विपरीत रोमन विचारधारा के अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व सुरक्षित है, उसका राज्य में विलय नहीं किया जा सकता। रोमन विचारों में व्यक्ति ही कानूनी विचार का केन्द्र बन गया। व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य हो गया था। रोमन्स के

अनुसार जनता शासक के आदेशों का पालन यह सोचकर करती है कि शासक उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग करता है। इस प्रकार यह विचार उत्पन्न हुआ कि राज्य की अन्तिम शक्ति पर जनता का अधिकार है किन्तु वह इसे एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को सौंप देती है। सामन्तवाद भी प्रारम्भिक मध्ययुग की ही देन है। इसका जन्म उस समय होता है जिस समय प्राचीन विचारधारा धीरे धीरे समाप्त हो रही थी और एक नवीन सामन्तवादी विचारधारा सामने आ रही थी। यह सामन्तवाद मध्ययुग पर पूरी तरह से छाया रहा।

संत आगस्टीन और सहअस्तित्व सिद्धान्त

मध्ययुग के प्रारम्भिक चरण में सन्त आगस्टाइन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे रोमन चर्च फादर्स में महानतम समझा जाता है। आगे आने वाले विचारकों पर सन्त आगस्टाइन का काफी प्रभाव पड़ा।[1] उनका प्रादुर्भाव संसार के इतिहास में एक अत्यन्त नाजुक समय में हुआ। ईसाई धर्म विरोधियों का मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी सिटी आफ गोड" की रचना की। यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण और विस्तृत है। इसमें उन्होंने मनुष्य को दो राज्यों का नागरिक माना है। शरीर की दृष्टि से वह लौकिक राज्य का सदस्य है और आत्मा की दृष्टि से वह ईश्वरीय राज्य का सदस्य है। इस लौकिक नगर राज्य पर शैतान का शासन होता है जबकि ईश्वरीय नगर पर ईश्वर का शासन होता है। किन्तु जिनको ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है उन्हीं को इस ईश्वरीय राज्य की सदस्यता मिलती है। ईश्वर और उसके नागरिकों में बड़े मजबूत बन्धन होते हैं। अन्य लौकिक राज्यों की भांति ईश्वरीय नगर राज्य में अराजकता नहीं होती। धर्म और शान्ति ईश्वरीय राज्य की विशेषतायें हैं। आगस्टाइन अपनी पुस्तक में लौकिक राज्य को एक सर्वोच्च सत्ता नहीं मानता। यूनानी दार्शनिकों की भांति सन्त आगस्टाइन ने दास प्रथा को भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार दासता मनुष्य के पापों का फल है जो मनुष्यों को ईश्वर द्वारा दिया जाता है। आगस्टाइन राज्य की स्वतन्त्रता को भी स्वीकार नहीं करता। वह उसे ईश्वर की उच्चतर शक्ति के आधीन मानता है। राज्य के कानूनों का पालन करना तथा उसकी शक्ति का सम्मान करना केवल वहीं तक उचित है जहां तक वह ईश्वर के प्रति उसके कर्त्तव्यों का उल्लंघन न हो। इस धारणा से स्पष्ट है कि उसने राज्य को चर्च के अधीन कर दिया था। पर वह आगे आने वाले विचारकों की तरह धर्मतन्त्र की स्थापना नहीं करता। वह राज्य को चर्च का एक अंग नहीं बनाता। उसके अनुसार राज्य यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो उसके

1. 'His writings (St Augustine's) were a mine of ideas from which the later writers Catholics and Protestants have dug."

—Dunning

प्रति भक्ति का परित्याग कर देना चाहिए। आगस्टाइन इस बात पर भी जोर देता है कि लौकिक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति के बिना मृत्यु प्राय है।

पोपवाद और उसके समर्थक

परन्तु मध्य युग के उत्तरकाल में आने वाले विचारकों ने राज्य और धर्म के बीच एक स्पष्ट रेखा खींच दी। टामस एक्वीनास, पोप ग्रेगरी सप्तम तथा वर्नीफेस अष्ठम जैसे विचारकों ने राज्य को चर्च के अधीन करके चर्च की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। चर्च की प्रभुता के समर्थकों में पोप ग्रेगरी सप्तम सबसे पहला दार्शनिक था। वह चर्च के उद्देश्य को राज्य के उद्देश्य से श्रेष्ठ मानता था। इसी कारण राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इसी प्रकार जान आफ सैल्सबरी ने चर्च की सर्वोच्चता को स्वीकार किया। उसने राजा को राज्य में वही स्थान दिया जो शरीर में सिर का स्थान होता है। उसने चर्च की तुलना आत्मा से की है। जिस प्रकार आत्मा सिर और शेष शरीर पर शासन करती है उसी प्रकार राजा भी ईश्वर और उसके प्रतिनिधियों के आधीन है।

सन्त टामस एक्वीनास 13वीं शताब्दी का महानतम व्यक्ति ही नहीं वरन् उसे मध्ययुग के समस्त विचारकों में भी महानतम माना जाता है। एक्वीनास ने चर्च को राज्य से श्रेष्ठ बताया पर भिन्न तरीके से। यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। लेकिन दूसरी ओर वह यह भी स्वीकार करता है कि राज्य की शक्ति ईश्वर से मिली है। उसका मानना था कि मनुष्य की दो प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं—एक भौतिक आवश्यकता जिसका सम्बन्ध शरीर से होता है और दूसरी आध्यात्मिक आवश्यकता जिसका सम्बन्ध आत्मा से होता है। इन शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य द्वारा की जाती है पर आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरी संस्था चर्च की जरूरत होती है। उसके अनुसार राज्य और चर्च में कोई विरोध नहीं है। वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।[1] यद्यपि एक्वीनास राज्य और चर्च को एक दूसरे का पूरक मानता है पर साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है उसी प्रकार राज्य भी चर्च के नियन्त्रण में है।

राज्यवाद बनाम पोपवाद

दूसरी ओर कुछ ऐसे भी विचारक हुये जिन्होंने चर्च की प्रभुता को नहीं वरन्

---

1 "His (St Thomas's) Philosophy sought to construct a rational scheme of God, nature and man with in which Society, and Civil authority find their due place In the sense Thomas's Philosophy expresses most maturely the convictions, *moral* and religious upon which mediaeval civilization was founded."

—*Sabine, P. 225*

राज्य की प्रभुता को स्वीकार किया। इसमें दान्ते, मार्सिलियो, विलियम आफ ग्राकम आदि के नाम लिये जा सकते हैं। दान्ते के विचार अपने पूर्व विचारकों से भिन्न हैं। उसके पूर्व विचारकों ने चर्च का समर्थन किया पर उसने राज्य का समर्थन किया। परन्तु वह राष्ट्र राज्य की बात नहीं करता है, वह राज्य को चर्च के बंधन से बिल्कुल मुक्त कर देता है। उसका मानना था कि मानव कल्याण के लिये राजतन्त्र आवश्यक है। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह विवकी है। पर इस विवेकी जीवन को वह तभी प्राप्त कर सकता है जब समाज में शान्ति हो। पर शान्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि सारे समाज पर विश्व व्यापी सम्राट का शासन हो। दान्ते सार्वभौमिक राजतन्त्र का जोरदार समर्थक है। दान्ते ने सम्राट की प्रभुसत्ता को ईश्वर से प्राप्त बतला कर शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिये सम्राट के ऊपर से चर्च के प्रभुत्व को हटा दिया। दूसरी ओर मार्सिलियो भी चर्च का कट्टर विरोधी था और राज्य का प्रबल समर्थक था।[1] वह इटली की फूट तथा पराजय के लिये पाप को ही उत्तरदायी समझता था। मार्सिलियो धार्मिक सत्ता को अधिक से अधिक सीमित करने के पक्ष में था। पोप की प्रभुता को तो वह एकदम अस्वीकार करता है। उसके अनुसार पाप चर्च का सर्वप्रमुख प्रधान नहीं बल्कि केवल उसका मुख्य प्रशासकीय अधिकारी है। मार्सिलियो पादरियों को किसी भी प्रकार की निवारकारी शक्ति प्रदान नहीं करता। उसके अनुसार पादरी बहिष्कार करने का निर्णय तो दे सकता है पर उसे मनवा नहीं सकता क्योंकि उसके पास किसी तरह की निवारकारी शक्ति नहीं है। दान्ते की भांति इसने भी राजा के महत्व का समर्थन किया है क्योंकि राजा उस अशान्ति और अराजकता को दूर करता है जो मनुष्यों के दुःखों का कारण है। वह शान्ति और सुरक्षा के द्वारा मानव जीवन को सुखी बनाता है। मार्सिलियो राज्य को चर्च से अलग ही नहीं करता वरन् वह राज्य को चर्च से श्रेष्ठ भी मानता है।

बाइबिल–पालिटिक्स और रोमन कानून

मध्ययुगीन दर्शन के तीन मुख्य प्रेरणा स्रोत रहे—'बाइबिल, अरस्तू की पालिटिक्स और रोमन कानून।' इन तीनों की ही मध्ययुग के लेखकों ने अलग अलग ढंग से व्याख्या की है।[2] पर इनकी व्याख्या करते समय मध्ययुग के लेखक स्वयं भी भ्रम-

1. "Few theorists in any age and now in the middle ages, cared to go as far as Marsiglio in whittling down the spiritual freedom which formed the permanently important claim fostered by Christianity" —*Sabin, P 263.*

2. "*The mediaeval writers* seem like students writing essays on Political theory from text books and they are confused by multiplicity and diversity of three texts they use—the bible, the Roman law and the Politics." —*Barker.*

दुविधा में पड़ कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। मध्ययुग के चिन्तन में वास्तविकता और अवास्तविकता दोनों के ही दर्शन होते हैं। राजनैतिक सिद्धान्त की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण कार्य मध्ययुग में नहीं हुआ लेकिन राजनैतिक विचारों के दृष्टि-कोण से मध्ययुग के विचारों का महत्व है।

राज्य

लगभग सभी मध्ययुगीन विचारकों ने राज्य के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये। कुछ विचारकों ने राज्य को एक प्राकृतिक संस्था माना तो कुछ दार्शनिकों ने इसे मनुष्य के पाप का परिणाम स्वीकार किया। सन्त आगस्टाइन इस परम्परागत ईसाई विचार को स्वीकार करते हैं कि राज्य मनुष्यों के पाप का परिणाम है। ईश्वर ने राज्य को मनुष्यों के पाप के उपचार के रूप में स्थापित किया है। इसीलिये उसकी आज्ञा का पालन होना चाहिए। चर्च आगस्टाइन ने अप्रत्यक्ष रूप से राजा को चर्च के अधीन कर दिया पर उन्होंने दोनों के बीच किसी प्रकार की स्पष्ट रेखा नहीं खींची। पर सन्त एक्वीनास इस परम्परागत विचार को स्वीकार नहीं करता कि राज्य मनुष्य के पाप का परिणाम है। वह राज्य को मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम समझता है। वह अरस्तू की इस बात से सहमत है कि राज्य सामाजिक कल्याण का एक विधेयात्मक अंग है और उसका उद्देश्य नागरिकों के लिए शुभ जीवन की व्यवस्था करना है। मार्सिलियो जो कि राष्ट्र राज्य का समर्थक था उसका मानना था कि राज्य का जन्म मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है। राज्य एक जैविक ईकाई है और सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसमें विभिन्न समूहों तथा वर्गों में परस्पर सहयोग होता है। राज्य का उद्देश्य शुभ जीवन की प्राप्ति है।

राज्य के विरोध का अधिकार

राज्य का विरोध होना चाहिये अथवा नहीं इसके बारे में मध्यकाल के विचारकों के अनुसार राज्य का विरोध होना चाहिए और कुछ विचारकों के अनुसार राजा का विरोध नहीं होना चाहिये। सन्त आगस्टाइन का विचार था कि राज्य शांति और व्यवस्था बनाये रखता है, नागरिकों की सम्पत्ति की रक्षा करता है। अतः उसकी आज्ञाओं का पालन होना चाहिये, उसका विरोध नहीं किया जाना चाहिये। वैसे सन्त आगस्टाइन ने राज्य को ईश्वर की उच्च शक्ति के अधीन माना है और राज्य की आज्ञा का पालन करना केवल वहीं तक उचित बताया है जहाँ तक वह ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उल्लंघन न करे। आगस्टाइन ने लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में एक विभाजन की रेखा खींच दी है। वह आध्यात्मिक विषयों पर सम्राट को कोई अधिकार नहीं देता। यदि वह धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तो नागरिकों को उसके प्रति श्रद्धा का त्याग देना चाहिये। वह इस बात पर भी जोर देता है कि आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही शक्तियों को परस्पर सहयोग से कार्य करना चाहिये। इसी प्रकार एक्वीनास का मानना है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य जीवन के सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति

करता है। यदि शासक प्रजा लक्ष्य की अवहेलना करता है तो उसका विरोध किया जा सकता है। वह राज्य को भौतिक लक्ष्य और उच्च सत्य की प्राप्ति के लिये जरूरी मानता है। एक्वीनास मनुष्य की द्वैतमूलक प्रवृति के कारण दोनों के महत्व को स्वीकार करता है और वह मानता है कि चर्च और राज्य दोनों में कोई विरोध नहीं है। वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु फिर भी वह आध्यात्मिक आवश्यकताओं को भौतिक आवश्यकताओं से श्रेष्ठ मानता है और यह स्वीकार कर लेता है कि राज्य चर्च के अधीन है।

दान्ते चर्च का समर्थक नहीं वरन् राज्य का समर्थक था। पर वह स्पष्ट रूप से राष्ट्र राज्य की बात नहीं करता। दान्ते का मानना था कि राज्य का विरोध नहीं होना चाहिए क्योंकि वह मानव जीवन के कल्याण के लिए कार्य करता है।[1] दान्ते राज्य और चर्च दोनों के क्षेत्र को अलग अलग मानता है। उसका मानना है कि भौतिक मामलों में बोलने का पोप को कोई अधिकार नहीं है। वह यह भी मानता है कि राजा की शक्ति पोप से नहीं वरन् सीधी ईश्वर से मिली है। इसलिए पोप का राजा पर कोई अधिकार नहीं है। राज्य अपने भौतिक विषयों में चर्च से बिल्कुल स्वतन्त्र है। दान्ते सम्राट को चर्च से पृथक करके उसकी सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। मार्सिलियो जो राष्ट्र राज्य का समर्थक था उसके अनुसार व्यक्ति को राज्य का विरोध नहीं करना चाहिए। वह चर्च का राज्य से कोई पृथक अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। यह चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र मानता है। उसने चर्च को राज्य के आधीन इसलिए किया क्योंकि उसका विचार था कि दो समान शक्तियों का साथ साथ रहना असम्भव है। वह स्पष्ट रूप से चर्च को राज्य के आधीन बना कर राज्य की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है।

सरकार

मध्ययुगीन विचारक सरकार के बारे में कोई महत्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं करते। वे सरकार को एक ऐजेन्सी मानते हैं। प्रारम्भिक मध्ययुग के विचारकों ने सरकार के विषय में कोई विचार ही व्यक्त नहीं किये। किन्तु उत्तर मध्ययुग के विचारक ने राजतन्त्र का ही समर्थन किया क्योंकि वे राजा को ईश्वर का अवतार मानते थे। व प्रतिनिधित्व सरकार में कोई विश्वास नहीं करते थे। वह सरकार को सर्वशक्तिशाली नहीं मानते वरन् उसे मर्यादित मानते थे। यह विचारक ■ तलवारों के

1 "Dante's monarch is not a Universal despot but a Governor of *a higher order, set over the princes for keeping peace He is to have* the jurisdiction in modern language of an international tribunal."

—*Pollack*

सिद्धान्त में विश्वास करते थे [1] जिनके अनुसार राजा को पूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं थी यह शक्ति पोप और राजा में विभाजित थी। सन्त थामस और मार्सिलियो ने कानूनी ढंग से सरकार को देखने का प्रयास किया है पर एक्वीनास ने सिविल कानून को लागू करने वाली शक्ति को सरकार माना है। इन सब से अधिक स्पष्ट विचार दान्ते प्रकट करता है। यह सार्वभौमिक राजतन्त्र की कल्पना करता है। वास्तव में मध्ययुग में सरकार के विषय में कोई महत्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं किये गये। अगर कुछ विचारकों ने विचार किया भी तो उन्होंने राजतन्त्र का समर्थन किया और जनतन्त्र का विरोध किया।

सम्पत्ति

सम्पत्ति के विषय में भी मध्यकाल के विचारकों ने कोई महत्वपूर्ण विचार व्यक्त नहीं किये। सन्त आगस्टाइन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया क्योंकि सम्पत्ति एक सुखी जीवन के लिये अति आवश्यक है। पर सन्त आगस्टाइन ने सम्पत्ति का एक सीमित अधिकार दिया है। सन्त एक्वीनास ने भी सुखी लौकिक जीवन का आधार आर्थिक माना है। एक्वीनास का मानना है कि लौकिक जीवन को सुखी बनाने के लिए राज्य आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। निर्धनों की उचित देखभाल करना राज्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार सन्त एक्वीनास व्यक्तिगत सम्पत्ति पर जोर न देकर सम्पत्ति को राज्य के अधीन करने का समर्थक है। मार्सिलियो ने सम्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं किये। पर उसके विचारों से प्रकट होता है कि वह सम्पत्ति को लोगों के चरित्र को बिगड़ने का कारण समझता था। इस कारण वह व्यक्ति को सीमित सम्पत्ति का अधिकार भी नहीं देता।

कानून

प्रारम्भिक मध्ययुग के विचारकों ने कानून के विषय में भी अपने कोई विचार व्यक्त नहीं किये पर उत्तर मध्ययुग के विचारकों ने विशेष रूप से सन्त एक्वीनास और कुछ सीमा तक मार्सिलियो ने कानून के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मार्सिलियो कानून के विषय में एक्वीनास से भिन्न विचार प्रकट करता है। उसके अनुसार दैविक कानून ईश्वर के आदेश हैं। वहीं यह निश्चित करते हैं कि परलोक में सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को क्या कार्य करने चाहिए और किन किन कार्यों से बचना चाहिए। इसके विपरीत मानवीय कानून समस्त नागरिक समूह का आदेश है जिसे प्रत्यक्ष रूप में वे लोग बनाते हैं जिन्हें कानून बनाने की शक्ति मिली हुई है। इस प्रकार दोनों कानूनों के स्रोत अलग अलग हैं। दोनों में केवल इतनी ही साम्यता है कि दोनों का उल्लंघन करने पर दण्ड भुगतना पड़ता है। एक्वीनास जहाँ कानून को मूल रूप में तर्क और बुद्धि का आदेश समझता है वहाँ मार्सिलियो के लिए वह मानव

1. इस सिद्धान्त की मान्यता थी कि "Render unto Ceaser that is Ceasar's and render unto Peter that is Peters"

और दैविक इच्छा की अभिव्यन्जना है । मार्सिलियो कानून की विवशकारी शक्ति पर जोर देता है । *कानून को उसके अनुसार दण्ड के भय से लागू किया जाता है और* जिनको कानून के भय से लागू नहीं किया जाता वह कानून ही नहीं होते ।

कन्सीलियर आन्दोलन और मध्ययुग

15वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने मध्यकालीन विचारधारा को एक नया मोड़ दिया । इसी समय चर्च को सुधारने के लिये कन्सीलियर आन्दोलन हुआ । अब पोप अकेला ही धार्मिक शक्ति का स्वामी नहीं समझा जाता था । अब सम्पूर्ण शक्ति का निवास स्थान साधारण परिषद् में समझा जाने लगा था । इस साधारण परिषद् में पोप स्वयं भी सम्मिलित था पर आगे चलकर पोप 23वें के धर्म विमुख हो जाने पर परिषद् ने यह घोषणा की कि प्रभुता पोप सहित सम्पूर्ण परिषद् में नहीं बल्कि केवल उसके सदस्यों में है । आवश्यकता पड़ने पर पोप की प्रतीक्षा किये बिना राजा उसे बुला सकता है । इस विचार का जॉन गार्सन ने विशेष समर्थन किया । यद्यपि यह कन्सीलियर आन्दोलन, जो धर्म में सुधार लाने के लिए चर्च के विरुद्ध हुआ था, सफल नहीं हो सका किन्तु फिर भी इस चर्च के विरुद्ध प्रतिक्रिया के दो परिणाम निकले— *पहला चर्च का जनतन्त्रीकरण किया गया अर्थात् पोप जनता द्वारा चुना जाने लगा ।* दूसरा यह कि चर्च का जनतन्त्रीकरण होने से राजा की शक्ति बढ़ने लगी । इन सब का परिणाम यह हुआ कि मध्यकाल की सार्वभौमिक समाज की धारणा का अन्त हो गया । 16 वीं शताब्दी में राष्ट्र राज्यों का उदय हुआ । राष्ट्र राज्यों के उदय के साथ-साथ धर्म सुधार आन्दोलन भी आये । धर्म सुधार आन्दोलन ने मध्ययुगीन विचार को पूरी तरह से समाप्त कर दिया और राष्ट्र राज्यों तथा राष्ट्र चर्चों के विचार को दृढ़ किया । *16 वीं शताब्दी ने मध्यकालीन विचारकों के विचारों को पूरी तरह से समाप्त* कर उसे एक आधुनिक रूप प्रदान किया ।

BIBLIOGRAPHY

(1) SABINE · A History of Political Theory
(2) MACLWAIN *Growth of Political Thought in the West*
(3) GIERKIE AND MAITLAND Political Ideas of the Middle Ages
(4) HEARNSHAW Social and Political Ideas of Great Mediaeval Thinkers.

धर्मसुधार आन्दोलन और आधुनिक राजदर्शन

(REFORMATION AND MODERN POLITICAL THOUGHT)

उर्मिला गुप्ता

उस महान् बौद्धिक उथल-पुथल ने, जो कि रैनसा के नाम से विख्यात है और जिसका फल मैकियावली था, मध्यकाल का जीवन के प्राय समस्त क्षेत्रों में समाप्त कर दिया। 16वीं शताब्दी के आरम्भ में आर्थिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक क्षेत्रों में नवीन शक्तियां कार्य करने लगी थी और नवीन पद्धतियां प्रयोग की जा रही थी परन्तु रोमन चर्च एक ऐसी संस्था थी जिस पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। मध्यकालीन यूरोप का आधुनिकरण तब तक पूर्ण नहीं हो सकता था जब तक कि रोमन चर्च मध्यकालीन था। "शासन में, सिद्धान्तों में तथा जीवन में यह अब भी सबसे अधिक जोर उन्हीं परम्पराओं पर देता था, जिन्हें कि प्रारम्भिक ईसाइयत के आधार पर मध्यकाल की विशेष स्थितियों ने बनाया था और वह अपरिवर्तित के लिए ही कटिबद्ध था।" रोमन चर्च में परिवर्तन लाकर सम्पूर्ण यूरोप के ईसाई समाज सिद्धान्त को चुनौती देना और पोप की सर्वोपरि प्रधानता को नष्ट करना रिफार्मेशन का एक महान् कार्य था।

क्रान्ति अथवा प्रक्रिया

सुधार आन्दोलन किसी एक विषय तक सीमित नहीं था। इसने यूरोप की सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया पर यहां भी रिनासां की तरह प्रश्न है कि क्या इसका प्रभाव ऐसा था कि इसे स्वयं में एक क्रान्ति माना जाए या निरन्तर प्रक्रिया का एक भाग। इसके विषय में विचारकों में मतभेद है। कुछ रिफार्मेशन को एक क्रान्ति मानते हैं और कुछ एक प्रक्रिया।[1]

एल्टन और कोह्लर इन दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करते हैं और दोनों ही अपने अपने दृष्टिकोणों में सही हैं। एल्टन वहां तक सही है जब तक वह यह कहता है कि रिफार्मेशन केवल चर्च की बुराइयों के प्रति विद्रोह ही नहीं था बल्कि इसने धर्म को एक नया दर्शन दिया। जहां तक बुराइयों के विद्रोह का सम्बन्ध है उसका आरम्भ पहले ही हो चुका था, पर ईसाई धर्म दर्शन पर पुनर्विचार नहीं हुआ था। वह रिफार्मेशन

1. G R Elton के अनुसार धर्म के क्षेत्र में यह एक क्रान्ति थी किन्तु आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रक्रिया की निरन्तरता। Kohler के अनुसार धर्म के क्षेत्र में भी यह एक प्रक्रिया ही थी।

द्वारा सर्वप्रथम हुआ ईश्वर का सिद्धान्त मानव की आवश्यकताओं के आधीन हो गया था पर लूथर ने इसे भिन्न किया। उसने कहा कि ईश्वर विश्व धर्म का केन्द्र है। यहीं से मानव आवश्यकताएं ईश्वर की कल्पना के चारों ओर घूमने लगती हैं। डन्टन के अनुसार रिफार्मेशन के बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष थे। पहले का सम्बन्ध चर्च की बुराइयों से था जिसके विरुद्ध विद्रोह किया गया और यह मध्ययुग में ही शुरू हो गई थी। आन्तरिक पक्ष में सर्वप्रथम रिफार्मेशन के बाद ईसाई दर्शन पर पुनर्विचार किया गया। ईश्वर को मनुष्य की जरूरत की पूर्ति का साधन माना गया जबकि पहले व्यक्ति की आवश्यकताओं को केन्द्र माना जाता था जिसके चारों ओर ईश्वर की कल्पना घूमती थी। इस प्रकार डन्टन ने इसे धार्मिक क्षेत्र में क्रान्ति का रूप प्रदान किया।

Kohler भी अपने दृष्टिकोण में सही है। वह केवल रिफार्मेशन के संस्थागत पहलू के बारे में बताता है। उसने इस सिद्धान्त पर आक्रमण किया कि रोम का पोप चर्च का सर्वोच्च अध्यक्ष होना चाहिए और चर्च का संगठन पदसोपान आधार पर होना चाहिए। इसके विरोध में पहले ही आवाजें उठने लगी थीं। राष्ट्रीय स्वायत्त चर्च का विचार उत्तर मध्ययुग में शुरू हो चुका था जो पदसोपान संगठन के विरुद्ध था। अत रिफार्मेशन ने उस प्रक्रिया को ही आगे बढ़ाया जो उत्तर मध्य युग में शुरू हो गई थी। अतः रिफार्मेशन के आन्तरिक पक्ष में डन्टन की विचारधारा और संस्थागत रूप में कोहलर की विचारधारा उचित प्रतीत होती है।

धर्म सुधार की प्रकृति

आन्दोलन के रूप में इसकी कई विशेषताएं हैं। यह केवल धार्मिक आन्दोलन न होकर इससे कहीं अधिक था। वास्तव में यह एक सांस्कृतिक घटना थी। इन इसके समान महत्व के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक पहलू हैं। कुछ आलोचकों के अनुसार रिफार्मेशन एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में उतना महत्वपूर्ण न था, जितना राजनीतिक आन्दोलन के रूप में। अत. यह बहुराष्ट्रीय घटना थी। इसीलिए कुछ लोगों ने इसे "Age of Reformation" कहा है।

धर्म सुधार अपनी उत्पत्ति में Inter-religious था। यह चर्च को आन्तरिक रूप से सुधारने का प्रयत्न था। चर्च मैन द्वारा चर्च के भीतर से सुधारने का प्रयत्न था जिसमें राजाओं ने राजनैतिक उद्देश्य से बाहरी ओर से इन सुधारों में सहायता दी।

यह किसी एक देश तक सीमित न था। वास्तव में इसका सम्बन्ध योरोप के सारे महाद्वीप से था जैसे जर्मनी, इंग्लैंड, नीदरलैंड एवं स्केंडिनेविया आदि। जर्मनी व इंगलैण्ड की देन इस क्षेत्र में अन्य देशों से अधिक थी।

विभिन्न विचारकों ने विभिन्न देशों में रिफार्मेशन के बारे में अपने अपने ढंग से अपने २ देश की पृष्ठभूमि में सोचा। अतः रिफार्मेशन का अर्थ एक समान विचारों का

मजूर नहीं है। मुख्यतः रिफॉर्मेशन स्कूल के दो भाग हैं—(1) Luther School and (2) Non-Luther School.

सुधार आन्दोलन को विकसित करने में कई तत्वों ने अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। ऐतिहासिक तत्व के कारण रिफॉर्मेशन एक प्रक्रिया की निरन्तरता थी। Anti papal Supremacy tradition इसका मूल थी जो उत्तर मध्ययुग में शुरू हो गई थी। पोप सब चर्चों पर सर्वोच्च नहीं होना चाहिए, यहाँ हेनरी द्वितीय और लुई ऑफ बवेरिया का समय लिया जा सकता है। इस समय पोप के विरुद्ध आन्दोलन था। राजा अपने राज्य में सर्वोच्च होना चाहिए—राजनैतिक मामलों में ही नहीं बल्कि धार्मिक मामलों में भी।

धर्म सुधार आन्दोलन में चर्च के आन्तरिक स्वरूप को सुधारने का भी प्रयत्न पाया जाता है। यह भी मध्ययुग के उत्तर भाग में कासीलियर आन्दोलन के रूप में शुरू हो गया था। यह आन्दोलन चर्च की परिषदों की सहायता से सुधारने का आन्दोलन था जिसकी माँग थी कि पोप को असीमित सत्ता के प्रयोग की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रवाद का तत्व वह मौलिक तत्व था जो स्वायत्त राष्ट्रीय चर्च की माँग कर रहा था। पोप ने स्वयं विभिन्न राज्यों के राजाओं को सलाह दी थी कि वे चर्चों को अपने राज्यों में नौकरी और से नियंत्रण में रखें। इससे धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्वायत्त चर्च का विकास हुआ। पहले तो राजा पोप की अधीनता से चर्च पर नियन्त्रण रखता था, पर अब वह पोप व चर्च दोनों को अधीन रखने लगा। यह इंगलैंड में हेनरी VIII के समय से शुरू हुआ।

इतिहास में साथ-साथ तत्कालीन धार्मिक व नैतिक तत्व भी सुधार में सहायता कर रहे थे। साधारण जनता का जीवन पवित्र था। लोग ईसाई धर्म के उपदेशों का सामर्थ्यानुसार पालन कर रहे थे। दूसरी ओर पोप और चर्च के अधिकारी थे जो भ्रष्टाचरण तथा धन की लालसा के कारण शैतान दिखाई देते थे। दोनों के बीच खाई थी जिसको पाटने के लिये सुधार आन्दोलन का होना आवश्यक था। इस खाई के प्रति चेतना तो उत्तरमध्ययुग में ही आ चुकी थी। धर्म सुधार ने केवल इसे एक संगठित आन्दोलन का स्वरूप दिया।

सुधार के लिए सबसे मुख्य तत्कालीन प्रभावक पहलू रिनासां था। इसने सुधार के लिए बौद्धिक पृष्ठभूमि बनाई। रिनासां के द्वारा ही सुधार आन्दोलन शुरू हुआ। सुधार ने सामान्य व्यक्ति को चर्च की सत्ता को चुनौती देने का अधिकार दिया। लूथर सुधार का शिशु था। रिनासां से बौद्धिक खोज हुई जिसने बाइबिल की उदार व्याख्या संभव बनाई। New Testament का अनुवाद किया गया। इस अनुवाद से लूथर ने प्रेरणा

ली। यह अनुवाद सुधार की ओर प्रथम प्रयास समझा जाता है। रिनासा ने ही मानव को वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से धर्म में प्रजातंत्र का विचार आया।

रिनासा ने आरम्भिक पूंजीवाद के आविर्भाव को सहायता दी, इससे आर्थिक क्षेत्र में गति आ गई। अब लोग भौतिकवादी अधिक हो गये थे। उन्होंने धीरे-धीरे धर्म को व्यक्तिगत वस्तु माना। धर्म अब सार्वजनिक वस्तु नहीं था। चर्च तभी रह सकता था जब वह आर्थिक परिवर्तन के अनुसार अपने में सुधार करे।

लूथर का नेतृत्व भी सुधार आन्दोलन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सुधार आन्दोलन को मार्ग दर्शन के लिए एक प्रभावशाली नेता की आवश्यकता थी। लूथर ने इस कार्य को पूर्ण किया, इसे सर्वपूर्ण बनाया। उसे सुधार आन्दोलन का पिता कहा जा सकता है।

धर्म सुधार का प्रभाव

सुधार आन्दोलन एक धार्मिक आन्दोलन न होकर कहीं अधिक वास्तव में एक सांस्कृतिक घटना थी। अतः इसके समान महत्व के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पहलू हैं। अतः यह एक बहुआयामी घटना थी।

राजनीतिक क्षेत्र में सुधार आन्दोलन का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। कुछ आलोचकों के अनुसार रिफॉर्मेशन एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना राजनीतिक आन्दोलन के रूप में। प्रारम्भ में अपने उद्देश्य और दृष्टिकोण में रिफॉर्मेशन विशुद्ध रूप से एक धार्मिक आन्दोलन था। उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु शीघ्र ही उसका एक बहुत बड़ा राजनीतिक परिणाम निकला। उसका तत्काल प्रभाव हुआ राज्य की शक्ति का बढ़ना और निरकुंश राजतन्त्र का यूरोप में एक सामान्य शासन रूप बनाना। यद्यपि सुधार ने पोप को अपनी गद्दी से हटाया सत्ता की स्थिति से हटाया पर इसने लौकिक शक्ति या राजा को पद से नहीं हटाया। लौकिक शक्ति के सम्मान पर जोर दिया क्योंकि वे दो मानो अर्थात् पोप व राजा से नहीं लड़ सकते थे। सुधार का युग ही राष्ट्रवाद के आरम्भ का युग था।

लूथर का आन्दोलन अपने प्रकार का सर्वप्रथम आन्दोलन नहीं था। धर्म को सुधारने के प्रयत्न पहिले भी हुए थे परन्तु वह सब विफल हो गये। लूथर ने अनुभव किया कि अपने आन्दोलन में सफल होने के लिए रोम के विरुद्ध संघर्ष में राज्य का समर्थन करना आवश्यक है। राजाओं ने इन प्रस्तावनाओं में गहरी दिलचस्पी दिखाई कि पोप का अधिकार केवल रोम के चर्च की निजी सम्पत्ति तक ही सीमित रहे और ईसाई जगत के अन्य चर्चों की असीम सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार न रहे। अपने अपने राज्यों में चर्च की सम्पत्ति के एक बड़े भाग पर स्वतन्त्र हो जाने की सम्भावना राजा के लिए स्वाभाविक रूप से ही आकर्षक सिद्ध हुई क्योंकि इस तरह वह अपने राज्य को अधिक सम्पन्न बना सकते थे। इंग्लैंड तथा जर्मनी के शासक प्रोटेस्टेंट

सुधारकों के दल में हो गये। इन देशों में राष्ट्रीय प्रोटेस्टेन्ट चर्चों की स्थापना हुई और नवीन धर्म प्रणाली का प्रधान अथवा संरक्षक वहाँ का शासक बना। इन गति-विधियों का स्वाभाविक परिणाम हुआ राज्य की शक्ति का बढ़ना।[1]

धर्म सुधार और राज्य विरोध

रिफोर्मेशन ने एक बहुत बड़ा प्रश्न यह पैदा किया कि क्या नागरिकों को अपने शासकों की अवहेलना करने का अधिकार है? इसके दो विभिन्न उत्तर दिये गये। एक विचार तो यह था कि नागरिकों को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। उन्हें चुपचाप राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए। स्वयं लूथर इसी का उपदेश देता था। आगे चलकर यही बात राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विकसित हो उठी। दूसरी धारणा यह थी कि नागरिक राजा की शक्ति का विरोध कर सकते थे क्योंकि राजा अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता था। इसलिए उचित कारणों के लिए उससे जबाब तलब किया जा सकता था। यह 17 वीं शताब्दी में संविदा सिद्धान्त का पूर्व-सूचक बन गया। यद्यपि स्वयं काल्विन का जो, कि एक महान् प्रोटेस्टेन्ट सुधारक था, यह विचार था कि विधिवत् निर्मित राजकीय शक्ति की अवज्ञा करना गलत है किन्तु फ्रान्स तथा स्काटलैंड में उसके अनुयायियों ने इसके विपरीत इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि धार्मिक सुधार के हित में राज्य की अवज्ञा की जा सकती है। स्काटलैण्ड के जान नाक्स ने कैथोलिक शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया। दैविक अधिकारों के सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया।

लौकिक राज्य के कार्यों को विनियमित तथा नियंत्रित करने वाली कोई उच्चतर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति न रही। इस उच्चतर शक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए एक प्राकृतिक कानून, जिसे पोप भी नहीं बदल सकता था, की धारणा को पुनर्जीवित किया गया जिसका मध्यकाल में बहुत प्रचार था। यह प्राकृतिक कानून एक विश्व-व्यापक आदर्श अथवा मापदण्ड था जिसके द्वारा मानव सम्बन्ध विनियमित होते थे। प्राकृतिक कानून के इस मध्यकालीन विचार को आधुनिक संसार में लाने वाला रिचर्ड हूकर था।

लूथर के राजनीतिक विचार

मार्टिन लूथर के राजनीतिक विचारों में बहुत अधिक विरोधाभास पाया जाता है। उसका कोई संगतिबद्ध राजनीतिक दर्शन नहीं है। जो कुछ भी राजनीतिक विचार

1. लूथर के अनुसार चर्च को शुद्ध रखने तथा उसके वैभव को कायम रखने का कार्य ईश्वर ने राजाओं को सौंपा है। उसने प्रजाजन के ऊपर राजाओं के अधिकार को और भी अधिक दृढ़ बनाया। यह दूसरा ढंग था जिससे कि रिफार्मेशन ने राजतन्त्र को सम्बल पहुँचाया।

हम उसकी कृतियों में मिलते हैं, उन सबकी उद्भावना उस उग्र वाद-विवाद में हुई जिसमें कि वह जीवनपर्यन्त उलझा रहा। यदि हम यह मान भी लें कि उसका कोई राजनीतिक दर्शन भी था, तो वह एक विलक्षण विरोधाभास ही था।

उसकी आरम्भिक शिक्षा यह थी कि यदि धार्मिक अधिकारी अर्थात् पादरीगण दुराचार की चेष्टा न रोकें तो उनका सुधार करना व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। किन्तु जब जर्मनी के कृषकों ने सामाजिक न्याय के नाम पर शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया तो उस समय लूथर ने शासकों का पक्ष ग्रहण किया और 'कृषक युद्ध' की निन्दा करने लगा। उसने सामन्तों को यह भी सलाह दी कि विद्रोह को कुशलतापूर्वक दबाने के लिए उन्हें निर्दयतापूर्वक विद्रोहियों की हत्या करनी चाहिए।

एक ओर तो लूथर इस बात के ऊपर बल देता है कि व्यक्ति को शासकों की आज्ञा का पालन चुपचाप करना चाहिए और सक्रिय विरोध की निन्दा करता है क्योंकि उसके विचार से ईश्वर ने मनुष्य को यह आदेश दिया है कि उसे शासकों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। दूसरी ओर वह इस बात को मानता है कि वे राजा-गण जो सम्राट के अधीन थे, सम्राट की अवहेलना कर सकते थे यदि सम्राट अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे। इस असंदिग्ध परामर्श का कारण यह है कि लूथर सम्राट की शक्ति को कम करने के लिए और राजाओं को अपने पक्ष में करने के लिए चिन्तित था।

लूथर राजाओं को साधारणतया धरती पर सबसे बड़े मूर्ख और निकृष्टतम धूर्त समझता था। ऐसे मूर्खों और धूर्तों की आज्ञा पालन के सर्वसाधारण के प्रथम कर्तव्य पर बल देना कहाँ तक संगत है? दूसरी ओर वह कहता है कि यदि कोई राजा किसी व्यक्ति से अपना धर्म छोड़ने के लिए कहे तो उसे राजा की आज्ञा का पालन करने से इन्कार कर देना चाहिए। लूथर की विचारधारा में राज्य के प्रति भक्ति ईश्वर के प्रति निष्ठा से सीमित है।

एक ओर लूथर ने मानव समानता के सिद्धान्त का प्रचार किया और उसे धर्म-संगठन तथा पादरियों के विशेष अधिकारों तथा विमुक्तताओं के ऊपर आक्रमण का आधार बनाया तो दूसरी ओर उसका जनसाधारण में कोई विश्वास न था। उन्हें वह शैतान कह कर पुकारता था। उसके अनुसार "जनता के सही काम करने की अपेक्षा मुझे राजा का गलत काम करना भी अच्छा लगता है।"

लूथर ने राज्य के ऊपर चर्च के अंकुश को भंग किया और लौकिक शासकों को समस्त उच्चतर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण से विमुक्त कर दिया। चर्च लौकिक शासकों को न धर्म-बहिष्कृत कर सकता है, न पदच्युत। पादरीगण जो कि अब तक पोप के अधीन थे, अब राज्य के अधिकार-क्षेत्र में आने वाले थे क्योंकि लूथर उनमें तथा साधारण नागरिकों में कोई अन्तर न देखता था। उसने यह भी कहा कि राज्य को स्वयं चर्च पर नियन्त्रण करना चाहिए। उसका तर्क यह था कि धार्मिक पुरोहित-

शाही के लुप्त हो जाने पर—इस चर्च के बाह्य तथा भौतिक स्वरूप को विनियमित तथा नियन्त्रित करने के लिए एक शक्ति की आवश्यकता थी। वह जनतन्त्रवादी नहीं था और जनसाधारण में उसे कोई विश्वास न था। इस प्रकार प्रत्येक राज्य का शासक अपने क्षेत्र के समस्त लूथरवादियों का प्रधान विषय बन गया। "आध्यात्मिक तथा लौकिक का वह अन्तर जो कि मध्यकालवादियों के लिए इतना महत्वपूर्ण था, लूथर में धुंधला पड़ गया।"[1]

राज्यवाद का सन्देशवाहक

इस सिद्धान्त ने कि पादरीगण साधारण नागरिक हैं और इसलिए राज्य के कानूनों तथा न्यायालयों के अधीन हैं, 16वीं शताब्दी में राजतन्त्र को काफी सम्बल पहुँचाया। आधुनिक यूरोपीय विचार में लूथर उदारवाद का प्रवर्त्तक नहीं, बल्कि राज्य-वाद का सन्देशवाहक सिद्ध हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि लूथरवाद पुनर्जागरण की उदारवादी शक्तियों को उसके मानववाद तथा लोकतन्त्र की सम्भावना से दूर ले जाने वाला एक बड़ा प्रतिगामी कदम था।

काल्विन के विचार

रिफार्मेशन के राजनीतिक विचारों के अधिक संगतिबद्ध, अधिक क्रमबद्ध तथा अधिक गतिशील विवेचन का श्रेय जान काल्विन को है जिसे कभी-कभी रिफार्मेशन का सिद्धान्त-वेत्ता (Law-giver) कहा जाता है। काल्विन के अनुसार राज्य और चर्च भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। दोनों की स्थापना ईश्वरीय कानून की पूर्ति के लिए हुई है। काल्विन ने कहा है—"लौकिक शासन का उद्देश्य है कि जब तक हम समाज में रहते हैं वह हम में ईश्वर की बाह्य उपासना की भावना प्रेरित करे, विशुद्ध सिद्धान्त तथा चर्च की सत्ता की रक्षा करे, हमारे जीवन को मानव समाज के अनुरूप बनाये। राजकीय न्याय के अनुसार हमारे जीवन को ढाले और सामान्य शान्ति कायम रखे।"[1] इस प्रकार काल्विन के अनुसार राज्य का प्रथम कार्य भक्ति तथा धर्म का परिपालन है, शान्ति और व्यवस्था की रक्षा नहीं। राज्य को मूर्तिपूजा, नास्तिकता तथा सच्चे धर्म की निन्दा का दमन करना चाहिए। इसका अर्थ है सैद्धान्तिक रूप से राज्य को धर्मतन्त्र बनाना।

वास्तव में जहाँ-जहाँ भी काल्विनवाद का स्वतन्त्र हाथ रहा, वहाँ-वहाँ साम्प्र-दायिक राज्य स्थापित हुये जिनमें पादरीगण तथा सामन्ती वर्गों में गठ-बन्धन हुआ और जिसने सर्वसाधारण को बिल्कुल अलग रखा गया। इसका परिणाम हुआ एक ऐसे धर्मतन्त्र की स्थापना जो कि 'अनुदार, दमनकारी तथा प्रतिक्रियावादी' था।

काल्विन के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। उसकी अवज्ञा करना ईश्वर

1 *Allen*—A History of Political Thought in the Sixteenth Century.

की अवज्ञा करता है। काल्विन ने यह भी कहा है कि राजा की ज्यादतियों का समय रहना छोटे न्याय रक्षकों का कर्तव्य है। यदि वे राजा की आततायी प्रवृत्तियों को न रोक सकें और उनके विरुद्ध जनता की रक्षा न कर सकें तो वे कर्त्तव्यहीनता के दोष के भागी हैं।

काल्विन यह भी कहता है कि शासकगण कोई ऐसा कार्य करना चाहें जो कि ईश्वर के आदेशों के विरुद्ध हो तो जनता को उनके ऊपर तनिक भी ध्यान नहीं देना चाहिए।

जहाँ तक राज्य धर्मतन्त्र की आज्ञा का पालन करने को तैयार था, काल्विन उसके पक्ष में था, किन्तु जहाँ पर सरकार उसकी विरोधी थी, काल्विन उसके ऊपर आक्रमण करने लगता है। फ्रांस के राजतन्त्र के निरंकुशता को उखाड़ फेंकने तथा स्काटलैंड में कैथोलिक और कुलीनतन्त्रीय अल्पमतों की शक्ति को भंग करने में उसने मध्यवर्ग के प्रयास को सम्बल पहुँचाया।

रिफार्मेशन और राजनीति

धार्मिक क्षेत्र में रिफोर्मेशन का बहुत अधिक प्रभाव है। सुधार आन्दोलन मुख्यतः धर्म में उत्पन्न हुई बुराइयों को दूर करने के लिए ही हुआ था। रिफोर्मेशन के जन्मदाता मार्टिन लूथर थे जिन्होंने इसे ईसाई धर्म-ग्रन्थों की पुनर्व्याख्या तथा सुधार के रूप में आरम्भ किया था। जहाँ-तक कि इसका उद्देश्य चर्च के संगठन का सुधार करना, चर्च में पोप की निरपेक्ष शक्ति के दावे को ठुकराना तथा चर्च के परिष्कार के लिए एक व्यापकतर आधार की माँग करना था, इसे कान्सीलियर आन्दोलन की ही प्रत्यावृत्ति कहा जा सकता है। यदि कान्सीलियर आन्दोलन सफल हो जाता तो रिफोर्मेशन का जन्म ही न होता। लूथर से पहिले भी धर्म के सुधार के लिए आन्दोलन चले थे परन्तु उनका प्रभाव सीमित था और वे सफल नहीं हुए। रिफोर्मेशन ने धार्मिक क्षेत्र पर जो प्रभाव डाला उसके दो पहलू थे।[1]

नकारात्मक और सकारात्मक

नकारात्मक रूप में यह मध्ययुगीन रोमन पोप के पदसोपान व्यवस्था पर एक आक्रमण था। यहाँ सुधार के नेताओं ने एक पोप के सारे योरोप की चर्चों पर सर्वोच्च होने का विरोध किया और साथ ही चर्च में संगठन व पदसोपान का भी विरोध किया। यहीं राष्ट्रीय स्वायत्त चर्च का विचार पैदा हुआ।

दूसरे पोप के प्रति जो कि भ्रष्टाचार और भौतिक लालसा में डूबा हुआ था, आघात किया। सुधार नेताओं के अनुसार पोप रोम में सबसे भ्रष्ट व्यक्ति था, जो अपने को ईसा का प्रतिनिधि कहता था। भ्रष्ट पोप ईसाइयत के लिए शर्मनाक बात थी।

1 Ibid
2 Ibid

इसके अतिरिक्त पोप पर ईसाइयों से एकत्र किये धन को स्वयं पर खर्च करने का भी आरोप लगाया गया।

पोप ही भ्रष्ट नहीं था, अन्य चर्च के पादरी भी अपने २ क्षेत्रों में इन्हीं बुराईयों से युक्त थे।

तीसरे पोप ने ईश्वर को मानव की आवश्यकताओं के आधीन कर दिया था। ईश्वर को केंद्रीय स्थान नहीं दिया गया परन्तु सुधार आन्दोलन ने ईश्वर को केन्द्रीय स्थान दिया। अब मनुष्य की आवश्यकताएं व व्यक्तित्व की कल्पना ईश्वर की कल्पना के चारों ओर घूमने लगी।

नकारात्मक तत्व से ही सकारात्मक तत्व निकलता प्रतीत होता है। सुधार नेताओं ने पुरानी मान्यताओं पर ही आक्रमण नहीं किया वरन् एक नया वातावरण भी बनाया। इसी में सुधार का स्थायी प्रभाव निहित है। सुधार रिनासां से प्रभावित था। कई सुधार नेताओं ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित किया और कहा कि धर्म में विभिन्न दृष्टिकोण रखना पाप नहीं है, इस तरह धर्म में प्रजातन्त्र आया। यह सकारात्मक पहलू आधुनिकता और उदारवाद की ओर था। इसने धर्म निरपेक्ष प्रजातान्त्रिक विचार के लिए पथ-प्रदर्शन किया।

सुधार नेताओं ने मानवीय सत्ता के विरुद्ध मानवीय चेतना के विकास पर जोर दिया। मनुष्य बाइबिल की व्याख्या स्वयं अपने लिए कर सकता था, अपने अन्तःकरण के अनुसार। लूथर के अनुसार ईसाईयों को ईश्वर व विश्व के लिए बाइबिल के अनुसार विश्वास करना चाहिए पर उन्हें अपने अन्तःकरण के अनुसार न्याय करना चाहिए। यहां पर पोप की व्याख्या करने का एकाधिकार की सीमाएं सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष था। हर व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता क्रान्तिकारी वस्तु थी।

लूथर के अनुसार हर ईसाई एक पादरी है, अतः उसे धार्मिक संस्कार करने, बाईबिल की अंतःकरण के अनुसार व्याख्या करने व अनुसरण करने का अधिकार था। पादरियों को कोई विशेष अधिकारपूर्ण स्थिति ईसाई समाज के अन्तर्गत नहीं दी जानी चाहिए। ईसाई चर्च का पदसोपानीय संगठन समाप्त हो जाना चाहिए, और हर ईसाई अपने में एक उपदेशक बन जाना चाहिए। सुधार आन्दोलन ने सामान्य व्यक्ति व ईश्वर के बीच के माध्यमों, पोप व पादरी को समाप्त करके व्यक्ति व ईश्वर में सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। सब ईसाई ईश्वर के पास पहुँचने में समान रूप से समर्थ हैं।

मध्ययुगीन धार्मिक शक्ति के केन्द्रीकरण की परम्परा टूट गई व शक्ति को ईसाई समिति में बांट दिया गया। अब चर्च के प्रबन्धक स्वेच्छा से कार्य नहीं कर सकते थे। संवैधानिक दृष्टि से उन्हें आचरण करना था। इस तरह संवैधानिक तत्व चर्च में आने से राज्य में भी आया।

आर्थिक क्षेत्र में भी सुधार आन्दोलन का प्रभाव पड़ा है। सुधार नेताओं ने परिश्रम पर बहुत अधिक जोर दिया। हर प्रकार का कार्य करने में महत्वपूर्ण है। स्व-

स्वतन्त्र व्यापार नीति को विकसित किया जिसने अन्त में आरम्भिक पूँजीवाद का पथ प्रशस्त किया। चर्च का धन मध्यवर्ग व राज्य के पदाधिकारियों के बीच बाँटा गया और व्यापार पर जो मध्ययुगीन प्रतिबन्ध थे वे हटा दिये गये और श्रम पर बहुत अधिक महत्व दिया गया।

इस प्रकार धर्म सुधार आन्दोलन आर्थिक दृष्टि से भी क्रान्तिकारी था यद्यपि उसका धार्मिक पहलू सदैव प्रमुख था।

BIBLIOGRAPHY

1 ALLEN A History of Political Thought in the 16th Century
2. FIGGS · *Studies in Political Thought from Gerson to Grotius*
3 HEARNSHAW Social and Political Ideas of Great *Thinkers of Renaissance and Reformation*
4 CARLYLE A History of Mediaeval Political Theory in the West

---

टामस हाब्स के दर्शन में वैज्ञानिक भौतिकवाद

SCIENTIFIC MATERIALISM IN THE POLITICAL PHILOSOPHY OF THOMAS HOBBES

•

सुन्दर माथुर

•

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास को मुख्यतः तीन युगों (प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक) में विभाजित किया जाता है। प्राचीन या यूनानी राजनीतिक विचारों पर नगर राज्य के स्वरूप तथा उस तर्क प्रधान मस्तिष्क का प्रभाव पड़ा था, जिसके कारण यूनान निवासी तर्क (Reason) को संसार को समझने तथा उसमें मानव का स्थान निर्धारित करने की कुंजी समझते थे। दूसरे शब्दों में उनका राजनीतिक चिन्तन तर्क और नैतिकता से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था। मध्ययुगीन चिन्तन पर यह विश्वास छाया हुआ था कि विश्व में मानव का स्थान निर्धारित करने वाली अन्तिम तथा सर्वोपरि शक्ति धर्म में है। आस्था तथा ईश्वर द्वारा प्रेषित ज्ञान तर्क [illegible] श्रेष्ठतर है और मनुष्य के लौकिक हित आध्यात्मिक लक्ष्य के आधीन हैं। फलस्वरूप मध्य युग में सांसारिक या राजनीतिक शक्ति को धार्मिक शक्ति के आधीन समझा गया। शासन पर धर्म का यह अधिकार मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता थी। राजनीतिक चिन्तन के प्रति एक धर्म-निरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधुनिक युग में ही पैदा हुआ है। धर्म और राजनीति का स्पष्ट सम्बन्ध विच्छेद मैक्यावली (1469-1527) ने किया। परन्तु 16वीं शताब्दी तक किसी भी विचारक ने अपने राजनीतिक परिणामों को वैज्ञानिक आधार प्रदान नहीं किया था। हॉब्स वह पहला राजनीतिक विचारक था जिसने राजदर्शन में निरंकुशतावाद तथा धर्म-निरपेक्षतावाद के लिए एक वैज्ञानिक आधार बनाया तथा भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त होने वाली पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन का आधार दे कर राजनीति को विज्ञान का स्वरूप दिया। यही कारण है कि इसे आधुनिक युग का प्रणेता कहा जाता है।

हॉब्स के विचारों और पद्धति को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने काफी सीमा तक प्रभावित किया था। उसके समय में ब्रिटिश राजगद्दी पर जेम्स प्रथम था जो कि राजाओं के दैविक अधिकार सिद्धान्त का प्रतिपादक था और इसी कारण से ब्रिटिश

संसद उससे रुष्ट थी। उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम भी उसी की तरह असफल था। इसी बीच इंगलैंड में क्रामवेल की अधीनता में गणतन्त्र स्थापित हुआ पर वह भी अधिक नहीं टिक सका। ऐसी स्थिति में गृहयुद्ध भी चल रहा था। राजा और संसद के समर्थकों के बीच इस गृहयुद्ध में क्रामवेल को विजय हुई थी। इन्हीं परिस्थितियों में अपना दर्शन लिखते हुए हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र और राज्याधिकार के प्रति समर्पण की भावना का दृढ़ समर्थन किया।

विज्ञान के चरण

हॉब्स के समय में विज्ञान जगत में एक भारी क्रान्ति आ रही थी। यान्त्रिक विज्ञान (Mechanical Science) को कैपलर, गैलिलियो व डेकार्ट जैसे विद्वान सुप्रतिष्ठित कर चुके थे। प्रकृति का प्रयोगात्मक अनुसंधान करने के लिए रॉयल सोसाइटी की स्थापना एक पीढ़ी पहले ही हो चुकी थी। डेकार्ट विश्लेषणात्मक ज्यामिति की तथा लीबानेज और न्यूटन कैलकुलस की सृष्टि कर चुके थे। न्यूटन की मृत्यु के आठ वर्ष बाद उसके ग्रन्थ प्रिंसीपिया (Principia) ने ब्रह्माण्ड की एक नवीन यान्त्रिक धारणा का प्रतिपादन किया था। ऐसे समय में हॉब्स जैसे दार्शनिक के लिये समस्त ज्ञान को यान्त्रिक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित करने का प्रयत्न करना स्वाभाविक ही नहीं बल्कि महत्वपूर्ण भी था।

यूक्लिड (Euclid) की इलिमेंट्स और ज्योमिति का हॉब्स पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने उसकी पद्धति को न केवल प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करने बल्कि मनोविज्ञान और राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में भी प्रयोग करने का इरादा किया। हॉब्स का लक्ष्य गणित शास्त्र की पद्धति के प्रयोग द्वारा गति के आधार पर प्रकृति की व्याख्या करना था। दर्शन के प्रति जब उसकी रुचि जागृत हुई तो उसने राजनीति तथा मनोविज्ञान को सुनिश्चित भौतिक विज्ञानों में सम्मिलित करने का निश्चय किया। इस प्रकार वह अपने युग के उस महान विचार प्रवाह में पदार्पण करता है जिसके साथ डेकार्ट तथा गैलिलियो जैसे महान् व्यक्तियों का नाम सम्बद्ध है।

वैज्ञानिक जागृति और मानवतावाद

मध्ययुगीन व्यवस्थाओं की समाप्ति के बाद 17 वीं शताब्दी में वैज्ञानिक मानवतावाद विचार जगत का केन्द्र बिन्दु बना। वैज्ञानिक मानवतावाद का अर्थ है एक अनुभवात्मक दृष्टिकोण (Empirical Outlook) जिसकी मूल मान्यताएं थीं—धर्म से पृथक मनुष्य के सामान्य ज्ञान (Common sense) पर विश्वास, भौतिक प्रगति के लिए मानवीय कुशलता की स्वीकृति, सभ्यता की प्रगति के लिए धार्मिक प्रगति को न मानना, भौतिक प्रगति के लिए मनुष्य को प्रकृति का दास न मानना वरन् उसे विजेता के रूप में देखना और तर्क की शक्ति में विश्वास रखना। वैज्ञानिक मानवतावाद के राजनीतिक विचारों पर जो महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े वे काफी मात्रा में हॉब्स में देख जा सकते हैं। सर्वप्रथम परिणाम था कि यदि मानव प्रकृति का विश्लेषण किया जाय तो

भौतिक नियमों की भाँति मानवीय व्यवहार के बारे में भी नियम बनाये जा सकते हैं। यह प्रभाव हॉब्स में स्पष्ट है। दूसरे, मनुष्य बुद्धिमान है और उसमें स्वयं के हित के लिए कार्य करने की क्षमता है। हॉब्स, मनुष्य को यद्यपि स्वार्थी मानता है फिर भी उसका कहना है कि मनुष्यों ने आपस में स्वयं समझौता कर अपनी भलाई के लिए राज्य का निर्माण किया है। तीसरे, समझौता करने की मनुष्यों में क्षमता है और वे राजाज्ञा पालन अपनी इच्छा से करते हैं। वैज्ञानिक मानवतावाद ने व्यक्ति को स्वतन्त्रता देकर राजनीतिक विचार का केन्द्र बनाया था। हॉब्स में यही व्यक्तिवाद काफी सीमा तक अभिव्यक्ति पाता है।

हाब्स और डेकार्ट की वैज्ञानिक पद्धति

हॉब्स पर डेकार्ट का बहुत प्रभाव पड़ा था। वह भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रणेता माना जाता है जिससे हॉब्स से लेकर मार्क्स तक कोई भी विचारक अप्रभावित नहीं रहा। उसकी पुस्तक "Discourse on Method" का प्रभाव राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर पड़ा। अनुभववाद (Empiricism) उसके इस ग्रन्थ का केन्द्र-बिन्दु है। उसका मत था कि भौतिक विज्ञानों की भाँति सामाजिक विज्ञानों की भी एक निश्चित पद्धति होनी चाहिए। उसकी वैज्ञानिक पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त प्रकार थे—निर्णय देने में धीमता, पक्षपात को न आने देना, तथ्यों को देखते हुये आगे बढ़ना दूसरी व्याख्या की आवश्यकता, किसी भी वस्तु को छोटे-छोटे भागों में बाँटकर व्याख्या से सम्पूर्ण हल निकालना, सरलता से जटिलता की ओर बढ़ना, तथ्य एकत्रित कर फिर परीक्षण और तत्पश्चात निष्कर्ष निकालना आदि। इस पद्धति के परिणामस्वरूप राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक नई स्पष्टता, कुशलता, निश्चितता और एक उपयोगितावादी पहलू आया। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इस पद्धति का प्रयोग में आने के प्रभाव स्वरूप हॉब्स के राजदर्शन में शुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण (Apriori Approch) का परित्याग हुआ। राज्य के प्रति दैविक दृष्टिकोण और उसके औचित्य के प्रति नैतिक दृष्टिकोण का परित्याग कर मानव को स्वार्थी बतलाते हुये उसने राज्य की पूर्ण शक्तिमानता की प्रतिष्ठा की है।

इस प्रकार हॉब्स का सम्बन्ध नवीन विचारधारा के उन पथप्रदर्शकों से हुआ जिनका उद्देश्य यान्त्रिक आधार पर विज्ञान को क्रमबद्ध रूप से सुनिश्चित करना था। भौतिक वैज्ञानिकों की भाँति हॉब्स भी संसार को एक यान्त्रिक पद्धति मानता है जिसमें समस्त घटनाएं परमाणुओं की गतिशीलता के ही विविध रूप हैं। उसकी यह पद्धति वैज्ञानिक भौतिकवाद के रूप में विकसित हुई है।

प्राकृतिक विचार संकल्पना और मानव व्यवहार

हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन में राजतन्त्रात्मक निरंकुशता का समर्थन कोई

विशेष महत्व की बात नहीं है। उसके चिन्तन को गृहयुद्ध ने प्रेरणा अवश्य दी थी लेकिन उसके चिन्तन के महत्व का कारण गृहयुद्ध नहीं है।[1]

हॉब्स की परख उसके निष्कर्षों की परिशुद्धता के विचार से भी नहीं की जानी चाहिये। वैज्ञानिक पद्धति के बारे में उसके विचार अपने समय के विचार होते हुए भी काफी पुराने पड़ चुके थे पर उसके पास राजनीति विज्ञान जैसी एक निश्चित वस्तु थी और प्राकृतिक विचार सम्बन्धी समस्याएँ उसी का एक अङ्ग थीं जिन पर असाधारण स्पष्टता के साथ विचार किया गया है। इस कारण उसने उस विचारधारा को भी लाभ पहुँचाया जिन्होंने उसका प्रतिवाद करने की कोशिश की। इस स्पष्टता और शैली के कारण ही हॉब्स को अंग्रेजी भाषी जनता का सबसे बड़ा राजनीतिक दार्शनिक माना जाता है।

राजनीति का गैलिलियो हॉब्स

वास्तव में हॉब्स अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर एक समग्र दर्शन का निर्माण करना चाहता था। उसका राजनीतिक दर्शन उसके इस समग्र दर्शन का एक अङ्ग मात्र है। हॉब्स का यही समग्र दर्शन भौतिकवाद है। यद्यपि हॉब्स ने गणित और भौतिक विज्ञान का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया था पर उसने उस साध्य को अवश्य समझ लिया था जिसकी ओर प्राकृतिक विज्ञान बढ़ रहा था। गैलिलियो की भाँति हॉब्स ने "पुराने विषय में से एक नये विज्ञान को जन्म दिया। यह नया विज्ञान गति का था जिसके अनुसार भौतिक संसार पूर्ण रूप से एक यान्त्रिक व्यवस्था है। हॉब्स ने इसी सिद्धान्त को अपने दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बनाया।" हॉब्स का विचार था कि मूल में प्रत्येक घटना एक गति के रूप में होती है। प्राकृतिक प्रक्रियायें विभिन्न अवस्थाओं के मेल से घटित होती हैं। इन घटनाओं के मूल में भी कुछ गतियाँ ही रहती हैं। प्राकृतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए इन मूल गतियों का समझना आवश्यक है। हॉब्स के विचार से प्राकृतिक व्यापार को समझने का सन्तोषजनक उपाय यही है। प्रत्येक घटना के मूल में पिंड की सरलतम गति रहती है जो बाद में जटिलतर होती चली जाती है। इस प्रकार उसने दर्शन के तीन भाग माने हैं—पहला भाग, पिंड से सम्बन्ध रखता है और उसमें ज्यामिति तथा भौतिकी का समावेश होता है। दूसरा भाग, मानव प्राणियों के शरीर या मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। तीसरा भाग जो, सबसे अधिक कठिन होता है, समाज या राज्य के नाम से प्रख्यात कृत्रिम पिंड से सम्बन्ध रखता है।

1. सेबाइन के अनुसार, "वास्तव में हॉब्स प्रथम आधुनिक दार्शनिक था जिसने राजनीतिक सिद्धान्त का आधुनिक विचारधारा के साथ पूरा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने अपने राजनीतिक दर्शन का निर्माण करते समय प्रकृति के समस्त तथ्यों पर जिनमें मानव व्यवहार के व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों पक्ष शामिल थे, विचार किया था। इस प्रकार की परियोजना ने उसके चिन्तन को सामयिक और विवादास्पद साहित्य की श्रेणी से परे रखा।"

हॉब्स के दर्शन में सारी वस्तुओं का मूल आधार ज्योमिति और यान्त्रिकी है।

ज्योमिति प्रणाली और मनोविज्ञान

हॉब्स के दर्शन का उद्देश्य यह था कि मनोविज्ञान तथा राजनीति को विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाये। उसने मनोविज्ञान तथा राजनीति में इसी पद्धति का प्रयोग किया है। 17वीं शताब्दी के सम्पूर्ण विज्ञान पर ज्योमिति का जादू छाया हुआ था। हाब्स भी इसका अपवाद नहीं था। उसके विचार में श्रेष्ठ पद्धति वह थी जिसमें वह अपने चिन्तन को दूसरे विषयों में भी ले जा सके। ज्योमिति के क्षेत्र में यह बात विशेष रूप से सत्य थी। इस दृष्टि से हाब्स के विचार गलम और डेकार्ट के बहुत निकट हैं। ज्योमिति, सर्वप्रथम सरलतम वस्तुओं को लेती है और जब वह आगे चल कर जटिल समस्याओं में उलझती है तब उन्हीं चीजों का प्रयोग करती है जिन्हें वह पहले प्रमाणित कर चुकी होती है। इस प्रकार ज्योमिति का आधार बड़ा सुदृढ़ होता है। किसी वस्तु को इसमें स्वयं स्वीकृत नहीं माना जाता। एक वस्तु को प्रमाणित करने के बाद ही आगे बढ़ा जाता है। इस प्रकार ज्योमिति में गलती की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। हाब्स ने भी अपने दर्शन का इसी प्रकार निर्माण किया है। उसका दर्शन पिरामिड के समान है। शासन कला मनुष्य के सामाजिक व्यवहार पर निर्भर करती है। सामाजिक व्यवहार मानव व्यवहार का वह पक्ष है जिसमें मनुष्य एक दूसरे से व्यवहार करते हैं। अतः राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान पर आधारित है और उसकी प्रक्रिया विधि निगमनात्मक (Inductive) है। हाब्स का लक्ष्य यह प्रकट करना नहीं था कि शासन वास्तव में क्या होता है। उसका लक्ष्य तो यह था कि शासन को कैसा होना चाहिए जिससे कि वह उन प्रणालियों पर सफलतापूर्वक नियन्त्रण कर सके जिनकी अभिप्रेरणा मानव यंत्र की भाँति ही होती है।

मनोविज्ञान को भौतिक शास्त्र के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है या नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है, लेकिन हाब्स ने गति के नियमों से संवेदन भावनाओं और मानवीय आचरण को पहिचानने की कोशिश अवश्य की है। उसने सामान्य रूप से मानवीय व्यवहार के लिए एक सिद्धान्त निकाला और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि विभिन्न परिस्थितियों में वह सिद्धान्त किस प्रकार क्रियान्वित होता है। इस पद्धति के द्वारा वह मनोविज्ञान से राजनीति में पहुँचता है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद

वैज्ञानिक भौतिकवाद का शाब्दिक अर्थ दो पद्धतियों का सम्मिश्रण है। वैज्ञानिक शब्द का अर्थ है व्याख्या। कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause and Effect Relationship), व्यवस्था और निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति—हाब्स में हम यह सब पाते हैं। वह इन्हीं आधारों पर अपने राजदर्शन का निर्माण करता है जैसे वह सर्वप्रथम मानव स्वभाव और उसके चरित्र का अध्ययन करता है। उसकी भावनाओं, इच्छा, विचारों का विश्लेषण

करता है और तभी वह इस परिणाम पर आता है कि इस प्रकार के प्राणी के साथ व्यवहार करने तथा उसके कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य को कैसा होना चाहिए। वह समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति बतलाता है पर इससे पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके पश्चात् नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ था। इस प्रकार हॉब्स व्यवस्थित और क्रमागत आधार पर सर्वप्रथम मानव स्वभाव का विश्लेषण, फिर प्राकृतिक कानून, तत्पश्चात् प्राकृतिक अवस्था और अन्त में समझौते द्वारा राज्य का निर्माण करता है। कारण एवं प्रभाव उसके सम्पूर्ण दर्शन में देखे जा सकते हैं। वह राज्य से आरम्भ करके उस निर्णायक सत्ता को पृथक् कर उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकता था लेकिन ऐसा न करके वह राज्य के निर्णायक अंगों अर्थात् व्यक्तिगत मानव प्राणियों से अपना दर्शन आरम्भ करके बतलाता है कि किस प्रकार मानव स्वभाव मनुष्य के लिए राज्य की सृष्टि आवश्यक बना देता है और उसका स्वरूप भी क्या होना चाहिए।

भौतिकवाद शब्द का अर्थ है कि धार्मिक अन्धविश्वास, नैतिकता और ईश्वर विश्वास, इन सब से पृथक् वास्तविकता वस्तु जगत है। वह वातावरण में विश्वास करता है और उसके दर्शन में व्यक्ति को वातावरण से अधिक महत्व देता है। भौतिकवादियों के अनुसार देखा हॉब्स इन अर्थों में पूर्णतया भौतिकवादी है। वह व्यक्ति को अधिक महत्व देता है। उसके मनोविज्ञान के कारण ही समझौते और शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना होती है। हॉब्स का विश्वास था कि संसार में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है और जो कुछ 'प्रकृति अथवा पदार्थ' नहीं है वह विश्व का अंग नहीं है। सेबाइन के अनुसार, "हॉब्स पूर्णतः भौतिकवादी था और उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता केवल एक काल्पनिक वस्तु मात्र थी। वह यह नहीं कहता कि अनुभूति नहीं होती या आध्यात्मिक सत्य नहीं होते। लेकिन उसका स्पष्ट मत है कि उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।"[1]

अतः हॉब्स की सम्पूर्ण प्रणाली संसार के तीनों भाग—प्रकृति, पदार्थ और मनुष्य, तथा राज्य की व्याख्या, भौतिक सिद्धान्त के आधार पर हुई है। वह भौतिक वातावरण को बहुत महत्व देता है। उसके अनुसार यही मानव मनोविज्ञान का आधार व आरम्भ बिन्दु है। वैज्ञानिक भौतिकवाद से वह यह सिद्ध करता है कि वातावरण मानव मनोवृत्तियों का निर्धारित करने में महत्वपूर्ण है। यहाँ वह मॉण्टेस्क्यू का पथ-प्रदर्शक है। बाह्य वातावरण के प्रभाव से ही मानव की आन्तरिक शारीरिक व्यवस्था प्रभावित होती है और फिर उसमें भावना, इच्छा, प्रेम तथा घृणा आदि का जन्म होता है।

---

1 हॉब्स का विचार था कि, "अभौतिक वस्तुओं में विश्वास करना एक ऐसी गलती है जिसे हमने अरस्तू से ग्रहण किया है और जिसका प्रचार धर्माचार्य सदैव अपने लाभ के लिए करते आये हैं।"

भौतिकवाद तथा प्राकृतिक कानून

सेबाइन ने इसके लिए "भौतिकवाद तथा प्राकृतिक विधि" शब्द का प्रयोग भी किया है। भौतिकवाद हॉब्स द्वारा दिये गए प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त का मूल है। वह प्राकृतिक कानून का यन्त्रवादी दृष्टिकोण देता है जो प्राकृतिक कानून के दैविक या अति भौतिक रूप से पृथक् है और मनुष्य की व्याख्या और समझ से पर की वस्तु नहीं है। "यद्यपि यह प्रक्रिया विधि वैसी ही थी जिसके द्वारा ग्रोशस ने न्यायशास्त्र को आधुनिक रूप दिया था, लेकिन हॉब्स के परिणाम ग्रोशस से भिन्न थे। ग्रोशस ने प्राकृतिक विधि को धर्मशास्त्र के बन्धन से अलग किया था पर उसने प्रकृति को यान्त्रिक रूप देने की कभी कल्पना तक नहीं की थी। हॉब्स के दर्शन ने न्याय के किसी आवश्यक नियम को मान्यता नहीं दी। उसके विचार प्रकृति और मानव प्रकृति के कार्य कारण का व्यापार मात्र थे। आगे चल कर स्पिनोज़ा ने यह प्रयत्न किया कि वह नीतिशास्त्र तथा धर्म को गणितीय प्राकृतिक विज्ञान के अनुकूल बना दे।" हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक कानून, विधि और परिणाम की संगठित व्यवस्था का ही दूसरा नाम है। इस संसार की गति की प्रक्रिया जिन कारणों व परिणामों से निरन्तर बनी है वही प्राकृतिक कानून है।

मानव स्वभाव तथा मानव मनोविज्ञान

मानव स्वभाव व मानव मनोविज्ञान के विषय में हॉब्स के विचार उसके समस्त राजनीतिक दर्शन की आधार शिला है। वह समाज का एक यन्त्र के रूप में और मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में अध्ययन और विश्लेषण करता है। मानव स्वभाव तथा मानव मनोविज्ञान का यह विश्लेषण भी हॉब्स वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर ही करता है। उसके अनुसार मनुष्य चलवत शरीर है, एक ऐसा यन्त्र है जो कि पौधों और पशुओं के सदृश्य गतिमान अणुओं का सम्मिश्रण है, जिसे मृत्यु पर्यन्त क्रियाशील रहना है। मनुष्य जिस वस्तु की इच्छा करता है उसे अच्छा कहता है, जिसे वह नापसन्द करता है उसे वह बुरा कहता है। हॉब्स मनुष्य की अनेक भावनाओं की एक अधिकारपूर्ण विवेचना करता है और अन्त में उन्हें दो मौलिक तथा प्रारंभिक भावनाओं—इच्छा व अनिच्छा तक सीमित कर देता है। इच्छा वह भावना है जो किसी बाह्य वस्तु द्वारा उत्पन्न गति से शरीर व मन की प्राण प्रक्रियाओं को उत्कट बनाती है और तीव्र करती है। इसके विपरीत अनिच्छा वह भावना है जो इन प्रक्रियाओं को अवरुद्ध करती है। इच्छा किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास है जबकि अनिच्छा उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न। प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्ष होता है और उसके खो जाने पर दुःख होता है। इसी तरह हॉब्स वैभव, ईर्ष्या, दया, नम्रता आदि भावनाओं का आधार भी इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों—इच्छा और अनिच्छा को मानता है। उसका समस्त भावनाओं का केन्द्र मनुष्य का निजत्व बतलाता है। ये मनुष्य के अहंकार और स्वार्थपरता के विभिन्न रूप हैं। हॉब्स की धारणा थी कि मनुष्य पूर्ण रूप से स्वार्थी है। समस्त मानव व्यवहार को अहम् पर आधारित करने के इस प्रयास ने ही

हॉब्स की प्रणाली को एक निश्चित वैज्ञानिक रूप दिया है जो उसे मैकियावली से श्रेष्ठ-तर बनाता है।

प्राकृतिक अवस्था और अनुबन्ध

मानव प्रकृति के विश्लेषण के स्वाभाविक परिणामस्वरूप हॉब्स प्राकृतिक अवस्था, सामाजिक समझौता और नागरिक समाज पर आता है। हॉब्स के अनुसार प्रकृति की अवस्था पूर्व सामाजिक और पूर्व राजनीतिक थी। इसमें हर व्यक्ति का सब व्यक्तियों के विरुद्ध संघर्ष था, मनुष्य किसी प्रकार की भी सभ्यता से दूर था और साथ ही सही और गलत के ज्ञान [redacted] जो परे था। ऐसी स्थिति में मनुष्य सभ्य और शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने की इच्छा से (हॉब्स के अनुसार मनुष्य में समस्त बुराइयों के साथ-साथ विवेक का तत्व भी है) आपस में समझौता करते हैं जिससे एक सम्प्रभु का जन्म होता है और वह पूर्ण शक्तिशाली है, मृत्यु देव (Mortal God) है। इसे सब व्यक्ति अपने को शासित करने का अधिकार सौंप देते हैं, मानो प्रत्येक व्यक्ति ने प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहा हो, कि 'मैं अपना स्वशासन का अधिकार इस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को सौंपता हूं बशर्ते तुम भी इसी प्रकार अपने अधिकार सौंप दो"। इस प्रकार हॉब्स के अनुसार समझौते द्वारा नागरिक समाज की स्थापना होती है। शान्ति व्यवस्था रखना और मनुष्य के अस्तित्व की अधिक अच्छी तरह रक्षा करना इस संप्रभु का उद्देश्य है। यद्यपि यह पूर्ण राजतन्त्र है और संप्रभु इसके किसी प्रकार से बाध्य नहीं है, परन्तु अराजकता की प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र यही विकल्प है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जिस बात ने हॉब्स को महान् राजनीतिक विचारक बनाया वह उसका निरंकुशवाद का समर्थन नहीं है, वह तो उसके प्रभावक राजनीतिक विचार का एक ऊपरी भाग है, न ही उसमें राजनीति और धर्म का पूर्ण विच्छेद है। यह तो मैकियावली और बोदा उससे पहले कर चुके थे। हॉब्स ने अनुभव किया कि राजाओं के दैविक अधिकार के आधार पर निरंकुश राजतन्त्र को उचित ठहराना ऐसा ही है जैसा कि रेत पर महल बनाना। उसने उसका आधार मानव प्रकृति के सम्बन्ध में उस मानव स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त पर रखा जिसे वह निर्विवाद समझता था। उसने धर्म को राज्य की अधीनता में रखने का एक वैज्ञानिक तथा तर्कसम्मत आधार प्रस्तुत किया। मैकियावली की भांति उसने स्वार्थी और प्रतिस्पर्धी समग्र मानव स्वभाव को पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया और मानव स्वभाव की वैज्ञानिक व्याख्या सर्वप्रथम की।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की दृष्टि से हॉब्स का राजनीतिक विचारों के इतिहास में स्थान विवादास्पद है। जब लिवायथन प्रकाशित हुई तब सभी ने उसके नास्तिकवाद एवं वैज्ञानिक भौतिकवाद की घोर निन्दा की थी। हेनरी मोर तथा कडवर्थ जैसे दार्शनिकों, क्लैरेंडन जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिल्मर जैसे राज-

नैतिक दार्शनिकों ने उसके नास्तिकवाद तथा भौतिकवाद के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की थी।

यद्यपि हॉब्स ने अपने दर्शन के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया परन्तु इस दृष्टि से भी उसका लिवायथन प्रभावहीन ग्रन्थ रहा। सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक पद्धति को ज्योमिति की पद्धति या निगमन पद्धति (Deductive) के अनुरूप समझा जाता था। हॉब्स के बाद यह सिद्ध हो गया कि ज्योमिति के नमूने पर एक राजनीतिक विज्ञान या मानवविज्ञान के निर्माण का प्रयास केवल एक भ्रम है। राजनीतिक कल्प-विकल्प के क्षेत्र में इस पद्धति का अनुकरण स्पिनोज़ा के अतिरिक्त और किसी विचारक ने नहीं किया था। परन्तु हॉब्स की पद्धति को हमें इस कसौटी पर नहीं कसना चाहिए कि उसके परिणाम कहां तक सही या गलत निकले या वह मानव तथा राजनीति विज्ञान के बीच सम्पर्क स्थापन में सफल रहा अथवा विफल। उसकी विशेषता यह है कि उसका चिन्तन क्रमबद्ध तथा समन्वित है और उसने संगतिबद्ध युक्तियां प्रस्तुत की हैं और अपने निष्कर्ष पर वह दृढ़ता से कायम है। यदि हम उसके आरम्भ बिन्दु को स्वीकार करलें तो उसके अन्तिम परिणाम को ठुकराना असंभव होगा।

अनुभववाद

मैक्सइन का कहना है कि "यह पद्धति मूलतः निगमनात्मक (Deductive) थी।" इसमें अनुभव प्रधानता का अभाव है, और वास्तविकता का पुट नहीं आ पाया है। "हॉब्स का राजनीतिक दर्शन यथार्थपरक राजनीतिक निरीक्षण पर आधारित नहीं है। मनुष्य के नागरिक जीवन में प्रेरक तत्व कौन-कौन रहते हैं इससे हॉब्स पूरी तरह परिचित नहीं था। उसका मनोविज्ञान भी निरीक्षण पर आधारित नहीं है। वह इस बात का विवरण नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य वास्तव में क्या है, प्रत्युत वह इस बात का विवरण था कि सामान्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये मनुष्य को कैसा होना चाहिये।" आज अनुभववाद (Pragmatism) वैज्ञानिक पद्धति का महत्वपूर्ण तत्व है जिसका तात्पर्य है जीवन के निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर विश्लेषणात्मक ढंग से निष्कर्ष निकालना। परन्तु हॉब्स अपने मस्तिष्क द्वारा पूर्व निर्धारित उपकल्पनाओं (Hypothesis) से आरम्भ कर निष्कर्ष निकालता है, जीवन की व्यावहारिकताओं से नहीं। वे स्वयं एक सिद्ध सत्य से आरम्भ होती है और उन से परिणाम निकाले जाते हैं। परन्तु इस आलोचना के बावजूद भी यह स्मरणीय है कि सत्रहवीं शताब्दि की वैज्ञानिक पद्धति में जो उस समय विकसित हो रही थी, अनुभववाद पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना आज दिया जाता है। इसके विपरीत वैज्ञानिक पद्धति गणितीय और भौतिक विज्ञानों की भांति अधिक थी। अतः यहां हॉब्स की यह युक्ति ठीक होगी कि वह वैज्ञानिक पद्धति की खोज में अपने समय की सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सका। इस सम्बन्ध में वह सत्रहवीं शताब्दी का शिशु था।

सेबाइन का मत

सेबाइन ने एक अन्य आलोचना करते हुए लिखा है कि हॉब्स स्वयं अपनी को व्यवहार में लाने में असफल रहा। उसने अपनी पद्धति कुछ ऐसी मान्यताओं से आरम्भ की जो तर्क की दृष्टि से तो सही थी, किन्तु व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से स्वयं में गलत थीं। वह गणितीय पद्धति में इतना अधिक विश्वास करता है कि गणितीय ज्ञान और ज्योमिति पद्धति तथा अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान के सम्बन्ध में भ्रम में पड़ जाता है और फलस्वरूप यह मान बैठता है कि जिन निष्कर्षों पर वह अपने गणितीय ज्ञान और ज्योमिति पद्धति से पहुंचा है वे व्यावहारिक जीवन में भी सही होंगे। दूसरे हॉब्स मानव जगत और भौतिक जगत के अन्तर को भी भुला बैठता है और दोनों में एक ही पद्धति से व्यवहार करने का असफल प्रयास करता है। उसकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्योमिति की सहायता से हम जटिल से जटिल वस्तु का अध्ययन कर सकते हैं वैसे ही मानव के जटिल व्यवहार के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। हॉब्स ज्योमिति की सहायता से केवल मानव मनोविज्ञान का अध्ययन ही नहीं कर रहा था वरन् उसका विचार था कि भौतिक विज्ञान के नियमों (Laws of Physics) की भांति 'मानवीय व्यवहार के नियम' (Laws of Human Behaviour) भी बनाये जा सकते हैं जबकि मानव व्यवहार के बारे में ऐसा करना निश्चय ही कठिन है।

"सेबाइन ने हॉब्स के दर्शन पर केवल उपयोगितावादी होने का आरोप लगाया है।" हॉब्स के लिये विज्ञान का यही अभिप्राय था कि सरल-सरल वस्तुओं के आधार पर जटिल वस्तुओं का निर्माण किया जाय। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ज्योमिति है। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि हॉब्स ने शासन को पूरी तरह से लौकिक और उपयोगितावादी माना। उसके लिए शासन का महत्व केवल इस बात पर निर्भर करता है कि वह क्या कार्य करता है। चूंकि शासन का विकल्प अराजकता है अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि एक उपयोगितावादी को क्या चुनना चाहिए। इस चुनाव में भावना का कोई स्थान नहीं है। शासन के लाभ बिल्कुल ठोस हैं और ये व्यक्तियों को ठोस तरीके से ही प्राप्त होने चाहिये— शान्ति, सुविधा, सुरक्षा और सम्पत्ति के रूप में। यही एकमात्र ऐसा आधार है जिस पर शासन या उसका औचित्य निर्भर है। सार्वजनिक इच्छा की भांति ही सामान्य या सार्वजनिक हित केवल कल्पना की वस्तु है। केवल व्यक्ति ही अपने जीवन सापनो के लिये रहना और संरक्षण का उपयोग करना चाहता है।" इस प्रकार हॉब्स के अनुसार राज्य के अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा व्यक्ति की सुरक्षा की कल्पना के लिये है। उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। उसके भौतिक अधिकारों का स्रोत शान्ति की अनुभूति है। हॉब्स कोई जनतन्त्रवादी नहीं था और उसके लिये जनता की सामान्य इच्छा (General Will) जैसी किसी चीज का अस्तित्व भी नहीं है। अस्तित्व केवल व्यक्तियों का है उनकी रक्षा करना उसका अपना कर्तव्य है। उनके निजी हितों का योग ही सामाजिक हित है। हॉब्स के सिद्धान्त

के इस पहलू को बैंथम तथा उसके अनुयायियों ने विकसित किया। राज्य की व्यक्तियों के परस्पर विरोधी हितों का सम्बन्ध बना कर यह उपयोगितावादियों का पूर्व सूचक बन गया।[1]

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति के विकास में महान् योग दिया है। अब तक के इतिहास में राजनीतिक पद्धति की आवश्यकता के प्रति कोई चेतना नहीं थी। हॉब्स ने यह अनुभव किया कि एक विकसित पद्धति के बिना राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं बन सकता। दूसरे हॉब्स इस दिशा में निर्देशन करने वाला वह सर्वप्रथम विचारक था जिसकी मान्यता थी कि राजनीतिक पद्धति में भौतिक विज्ञानों की पद्धतियों से बहुत कुछ लिया जा सकता है। उसने राजनीति के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण आरम्भ किया। दूसरे, शब्दों में हॉब्स की महानता इस बात में है कि उसने अपने राजनीतिक परिणामों का आधार उस पद्धति पर रखा जिसे उस युग में पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाने लगा था। इस पद्धति का सार यह है कि समस्त दार्शनिक खोज ज्योमिति की पद्धति पर होनी चाहिये और भौतिक जगत को एक विशुद्ध यांत्रिक प्रणाली के समान समझना चाहिये, जिससे प्रत्येक घटना की व्याख्या उसकी पूर्ववर्ती घटना अथवा घटनाओं के प्रकाश में की जा सके। वह राजनीति विज्ञान का भवन मनोविज्ञान की भित्ति पर बनाना चाहता है। उसकी पद्धति में अधिकार पूर्ण व्यक्तियों के उद्धरण देने के लिये, या इतिहास की शिक्षाओं के लिये या धर्म ग्रन्थों के लिए कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि हॉब्स को आधुनिक माना जाता है चूंकि उसने भूत से अपना पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है।

आज 20वीं शताब्दी में बड़ी सरलता से हम उसकी उस पद्धति में दोष निकाल सकते हैं जिसका प्रयोग उसने मनुष्य तथा राज्य के अध्ययन के लिए किया और यह कह सकते हैं कि गत सौ वर्षों में सामाजिक विज्ञानों के विकास ने यदि कोई बात सिद्ध की है तो वह यह कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भौतिक विज्ञानों की पद्धति का प्रयोग एक सीमित पैमाने पर ही किया जा सकता है। प्राकृतिक विज्ञानों के नमूने पर एक मानव विज्ञान की रचना करने का प्रयास हॉब्स का एक कोरा भ्रम था। पर यदि हॉब्स के प्रति हम न्याय से काम लें तो हम यह याद रखना चाहिए कि सत्रहवीं शताब्दी में समस्त विज्ञान पर ज्योमिति की एक अमिट छाप थी। इस पद्धति को अपना कर ही ज्योमिति को सफलता प्राप्त हुई थी और उसे सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में अपना लेना उस समय के डेकार्टे, स्पिनोज़ा, लिबनिज जैसे महान विचारकों की धारणा थी। अतः उस

1 इस प्रसंग में सेबाइन ने लिखा है कि "यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि बैंथम यहाँ भी हॉब्स का उतना ही ऋणी है जितना कि उसके सब विपरीत विचारों का। भले बाकी सिद्धान्तों का मत इससे मतभेद रहा है परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उसने एक ऐसी बात लिखी है जिसका स्वरूप व्यक्तिवाद के लिये भी सुन्दर है क्योंकि उसमें से उपयोगितावाद पनप सकता है।"

कि लॉक भी जिसे सामान्यतः अनुभव प्रधान प्रणाली का जनक माना जाता है, राजनीति को ज्योमिति की भाँति एक प्रदर्शनात्मक विज्ञान बनाना चाहता था। फिर हॉब्स ने यदि ऐसा प्रयास किया तो इसमें आश्चर्य क्या ?

हॉब्स ने अपने परवर्ती अनेक राजनीतिक चिन्तकों और राजनीतिक विचार-धाराओं को प्रभावित किया है। उसके भौतिकवाद की छाप मान्टेस्क्यू और कार्लमार्क्स पर देखी जा सकती है। उसमें उपयोगितावाद का भी आरम्भ मिलता है और बावजूद इस तथ्य के कि समझौता नागरिक की स्वतन्त्रता पक्ष न होकर दासता का बन्धन है, हॉब्स को उदारवाद का दार्शनिक और बेन्थम तथा मिल का पूर्वज समझा जाता है। वह एक ऐसी राजनीति तथा आचार शास्त्र का प्रतिपादन करता है जिसका आधार मनुष्य है और जहाँ से व्यक्तिवादी विचार पद्धति प्रजाजन को अपने शासकों को तोलने के लिए आधार प्रस्तुत करती है। "यदि मनुष्यों को एक प्राग् राजनीतिक (Pre political) अधिकार प्राप्त है (जिसे सुरक्षित रखना राज्य का कार्य है) तो उसका परिणाम स्पष्ट है (चाहे उसे कोई कितनी ही अनिच्छा से स्वीकार क्यों न करे) और वह यह है कि वह राज्य जो प्रायः उस अधिकार की पूर्ति करने में विफल रहता है उसकी अवहेलना की जा सकती है।" हॉब्स के दर्शन को उसके युग का सबसे क्रान्तिकारी सिद्धान्त बनाने वाला तत्व उसका व्यक्तिवाद है। उसने लेसेज फेयर (Laissecky Faire) की उस भावना को पकड़ लिया था जिसने सामाजिक चिन्तन को दो शताब्दियों तक अनुप्राणित रखा। अतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद पर अपने दर्शन को आधारित कर हॉब्स ने राजनीतिक इतिहास के विकास में महान योग दिया है।

BIBLIOGRAPHY

(1) SABINE A History of Political Theory
(2) LEO STRAUSS *The Political Philosophy of Hobbes*
(3) ZAGORIN Political Thought in the English Revolution
(4) STEPHEN Hobbes.
(5) WARENDER Thomas Hobbes

जॉन लॉक के राजदर्शन में व्यक्तिवाद

(INDIVIDUALISM IN THE POLITICAL PHILOSOPHY OF J. LOCKE)

•

—शशि रिखी

•

जॉन लाक सत्रहवीं शताब्दी इंगलैण्ड का एक महान विचारक था। अनुभववादी होते हुए भी इसके राजनीतिक विचार हॉब्स से बहुत कुछ भिन्न हैं। यद्यपि लॉक के ग्रंथ में उतनी क्रमबद्धता नहीं है जितनी कि हॉब्स के लेवियाथन (Leviatthan) में पाई जाती है किन्तु फिर भी व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में वह हॉब्स के लेवियाथन दर्शन से अधिक श्रेष्ठ है। लॉक का ट्रीटाइज (Treatise) उसके युग की आत्मा को अभिव्यक्त करता है। उसने सन् 1668 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के लिए एक सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया था। वॉन(Vaughan) ने अपनी पुस्तक स्टडीज इन दी हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल फिलासफी (Stud.es in the History of Polutical Philosophy) में लाक के ट्रीटाइज के लिए लिखा है कि "वह अपने प्रकाशन के बाद से कम [illegible] पीढ़ियों बाद तक इंगलैंड और फ्रांस में स्वतन्त्रता की बाइबिल बनी रही।" इसने अमेरिका के क्रान्तिकारियों के लिए भी औचित्य प्रस्तुत किया। केवल राजनीतिक विचार क्षेत्र में ही नहीं वरन् दर्शन शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के क्षेत्रों में भी लॉक की रचनाओं ने कुछ ऐसी विचार रेखायें निर्धारित की हैं जिनका अनुसरण दार्शनिक और चिन्तक आज तक करते आये हैं।

लॉक का राजनीतिक दर्शन

राजनीतिक दर्शन की जो परिभाषा लॉक ने दी, वह उसके राजनीतिक दर्शन का सर्वोत्तम आरम्भ बिन्दु है। उसका कहना था कि "सम्पत्ति को नियमित तथा सुरक्षित रखने, कानूनों का क्रियान्वित करने, राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने तथा समाज की शान्ति के प्रयोजनार्थ कानून बनाने और उन्हें भंग करने पर दंड देने के अधिकार को राजनीतिक शक्ति कहते हैं।" कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए राज्य द्वारा बल प्रयोग केवल तभी न्यायोचित हो सकता है, जबकि इसे सम्पूर्ण समाज का समर्थन प्राप्त हो और उसका प्रयोग जनहित के लिए किया जाए। लॉक एक ऐसा दार्शनिक है जो अपने राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति और समुदाय दोनों को पर्याप्त महत्व प्रदान करने की चेष्टा करता है।

हॉब्स और लॉक

लॉक के अनुसार शासन विशेष रूप से राजा के प्रति तथा राजा के साथ-साथ संसद और अन्य राजनीतिक अभिकरण जैसे जनता अथवा समुदायों के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी शक्ति कुछ तो नैतिक विधि द्वारा निश्चित होती है और कुछ देश के इतिहास में लिखित संवैधानिक परम्पराओं और अभिसमयों द्वारा जन्म लेती है। शासन के बिना कार्य नहीं चल सकता, इसीलिए शासन का अधिकार आवश्यक है। लेकिन, यह अधिकार इस अर्थ में जनता से लिया गया है कि यह राष्ट्र के कल्याण के हित में है। यह तर्क समुदाय को एक सामाजिक यथार्थता के रूप में ग्रहण करता है। लॉक के युग में यह सिद्धान्त पूर्णत: स्वाभाविक भी था क्योंकि समाज लोकाचार द्वारा नियमित होता था। हॉब्स के विश्लेषण का उद्देश्य यह प्रकट करना था कि वास्तविक समुदाय एक कल्पना है। उसका अस्तित्व केवल उसके सदस्यों के सहयोग पर निर्भर है। यह सहयोग केवल इस कारण है कि उसके सदस्यों को कुछ लाभ होता है। यह समुदाय का रूप उसी समय धारण करता है जबकि कोई व्यक्ति प्रभुशक्ति का प्रयोग कर सकता हो। इस विश्लेषण के आधार पर ही हॉब्स ने यह निष्कर्ष निकाला था कि शासन चाहे कैसा भी क्यों न हो उसमें स्वाधीनता आवश्यक है। उसके अनुसार संविदा, प्रतिनिधित्व और उत्तरदायित्व जैसे विचार राज्य के अन्तर्गत ही वैध हैं, राज्य के लिए नहीं।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आधारभूत अन्तर है। पहले दृष्टिकोण में कार्यों पर बल दिया गया है। इसमें व्यक्तियों तथा संस्थाओं दोनों के बारे में यह कल्पना की गई है कि ये दोनों सामाजिक दृष्टि से उपयोगी कार्य करते हैं। शासन सब की भलाई के विचार से उनका नियमन करता है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार समाज स्वार्थी व्यक्तियों का एक संगठन है। ये व्यक्ति अपने समान ही अन्य स्वार्थी व्यक्तियों से अपनी रक्षा के लिए विधि तथा शासन का आश्रय चाहते हैं। यदि लॉक इनमें से किसी एक दृष्टिकोण को पूरी तरह अपना लेता और दूसरे को अस्वीकार कर देता तो उसके दर्शन में अधिक संगति रहती।

लॉक ने जिन परिस्थितियों में लिखा था, उनमें दोनों ही दृष्टिकोणों को अपनाने की आवश्यकता थी। लॉक ने अपने सामाजिक दर्शन में हॉब्स द्वारा दी गई बहुत सी स्थापनाओं को भी स्थान दिया। वह प्राकृतिक विधि की व्याख्या इस रूप में करता है कि वह व्यक्ति में निहित कुछ अन्तरङ्ग और अभेद्य अधिकारों का दावा है। इन अधिकारों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार एक आदर्श अधिकार है। शासन और समाज दोनों का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। इन अधिकारों की अलंघ्यता दोनों की सत्ता के ऊपर एक सीमा है। लॉक बार-बार यह आग्रह करता है कि शासन का उद्देश्य समाज का हित है। राज्य एक ऐसा यन्त्र है जिसे मनुष्य ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाया है। हॉब्स और स्पिनोज़ा दोनों के लिए यह एक अच्छा उत्तर था। लॉक ने एक भाग में व्यक्ति और उसके अधिकारों की प्रधानता दी है तो दूसरे भाग

में समाज की। इसीलिए कहा जाता है कि लॉक व्यक्तिवादी था। उसकी दर्शन प्रणाली का केन्द्र है व्यक्ति तथा उसके अधिकार।

सम्पत्ति और प्राकृतिक अधिकार

लॉक ने हॉब्स द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था की विशेष रूप से आलोचना की है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लड़ता रहता था। इसके विपरीत लॉक का विचार है कि "प्राकृतिक अवस्था शांति सद्भावना पारस्परिक रक्षा और सहायता की अवस्था थी।" प्राकृतिक विधि मानवी अधिकारों और कर्त्तव्यों की पूरी तरह से व्यवस्था करती है। प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र दोष यह था कि उसमें मजिस्ट्रेटों, लिखित विधि और निश्चित दण्डों की कोई व्यवस्था नहीं थी, जिससे कि अधिकार सम्बन्धी नियमों को मान्यता मिल सकती। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता की जिस प्रकार भी हो सकता था, रक्षा करता था। इस अवस्था में उसे अधिकार था कि वह अपनी वस्तु की रक्षा करे, और उसका यह कर्त्तव्य भी था कि वह दूसरों की वस्तु का सम्मान करे। उसका यह अधिकार और कर्त्तव्य उतना ही पूर्ण होता था जितना कि किसी शासन के अन्तर्गत सम्भव है।

लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति इस अर्थ में एक थी कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति से अपने जीवन निर्वाह की सामग्री प्राप्त करता था। यहाँ लॉक आधुनिक विचारों को ला रहा है। मध्य युग में यह विचार सर्वमान्य नहीं था कि, समान स्वामित्व, व्यक्तिगत-स्वामित्व की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है और इसीलिए अधिक स्वाभाविक भी। व्यक्तिगत सम्पत्ति मध्ययुग में मनुष्य के पतन तथा उसके पापों का चिन्ह मानी गई थी। रोम की विधि में इससे बिल्कुल भिन्न सिद्धान्त पाया जाता था। वह सिद्धान्त था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म उसी समय हुआ जबकि लोगों ने वस्तुओं पर अनाधिकार कब्जा आरम्भ कर दिया। इससे पूर्व सब लोग सभी चीजों का मिलजुल कर प्रयोग करते थे, यद्यपि उस समय भी सामुदायिक स्वामित्व नहीं था। लॉक ने इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न अपना सिद्धान्त रखा है।

उसने कहा कि जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम से प्राप्त किया है उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है। उदाहरण के लिये, यदि वह किसी जमीन के चारों ओर दीवार बनाता है या उसे जोतता है तो वह उसकी हो जाती है। उस समय अमरीका जैसे नए उपनिवेशों में यही हो रहा था। लॉक पर यहाँ के उदाहरण का प्रभाव पड़ा। इसके साथ ही लॉक यह भी मानता था कि व्यक्तिगत कृषि अर्थ-व्यवस्था में आदिम काल की सामूहिक खेती की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता है। लॉक का विचार था कि अधिक उत्पादन होने से सम्पूर्ण समुदाय का जीवन-स्तर ऊँचा बनता है। लॉक के सिद्धान्त का मूल चाहे कुछ भी रहा हो, उसका तर्क यह था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार इसीलिए उचित होता है, जब व्यक्ति परिश्रम

करता है तब वह अपने परिश्रम से अर्जित पदार्थ में अपने व्यक्तित्व का आरोपण कर देता है। अपनी आन्तरिक शक्ति पर विश्राम करके वह उन्हें अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेता है। सामान्यतः उसकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके सम्बन्ध में कितना परिश्रम किया गया। इस प्रकार लॉक के सिद्धान्त ने समाजवादी अर्थ व्यवस्था के श्रम सम्बन्धी मूल्य सिद्धान्तों (Labour Theories of Value) का पथ प्रशस्त किया।

लॉक ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का जो सिद्धान्त दिया है उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार आदिम समाज से पहले का है। लॉक ने इस आदिम समाज को प्राकृतिक अवस्था का नाम दिया है। उसने यह भी कहा है कि "सम्पत्ति समस्त साधारण जनों के स्पष्ट समझौते के बिना भी रहती है।" यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है। *इस प्रकार समाज अधिकार की सृष्टि नहीं करता, समाज और शासन दोनों* का उद्देश्य सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करना है। यद्यपि लॉक ने सम्पत्ति विषयक विवरण प्रसंगवश ही दिया है तथापि इसका उसके सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। "सम्पत्ति" शब्द का अर्थ लॉक बहुत व्यापक अर्थों में करता है। उसके लिए सम्पत्ति में जीवन, स्वतन्त्रता तथा मनुष्य का धन सम्मिलित है। लॉक जहाँ कहीं किसी अधिकार के सम्बन्ध में कहना चाहता है, *वह सम्पत्ति शब्द का प्रयोग करता है।* चूँकि सम्पत्ति ही एकमात्र ऐसा अधिकार है जिसकी उसने विस्तार से परीक्षा की है। अतः स्पष्ट है कि उसने इस अधिकार को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। चाहे कुछ भी स्थिति हो, उसने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को व्यक्ति का महत्त्वपूर्ण अधिकार माना है। अतः ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुल्लंघनीय दावे हैं। समाज का उद्देश्य इन दावों की रक्षा करना है अतः समाज उन पर उतना ही नियन्त्रण रख सकता है जितना उनकी रक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पदा पर उसी सीमा तक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है, जिस सीमा तक कि उस कार्य से दूसरे व्यक्तियों को वैसे ही अधिकारों की रक्षा करने में सहायता प्राप्त होती है। वर्तमान स्थिति में इसका मतलब यह है कि यह सरकार की शक्तियों के ऊपर एक सीमा है। सरकार जन-इच्छा के बिना सम्पत्ति का हरण नहीं कर सकती क्योंकि कानून सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही बनाए जाते हैं। इस प्रकार लॉक की सरकार नागरिकों के कुछ अहार्य अधिकारों के कारण मर्यादित हो जाती है। इन सब विचारों से स्पष्ट है कि सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। सरकार अच्छी है या नहीं, इस बात को अन्तिम निर्णायक जनता है।

सामाजिक संविदा

लॉक ने अपने दर्शन में सबसे पहले प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है। इस अवस्था को उसने शान्ति और पारस्परिक सहायता की अवस्था बताया है। उसने

प्राकृतिक अधिकारों को भी सम्पत्ति के आधार पर समाज से पहले विद्यमान माना है। इसके पश्चात् वह नागरिक समाज के उद्भव का वर्णन करता है। यह समाज अपने सदस्यों की सहमति पर आधारित है। उसके सिद्धांत के इस पक्ष में अनेक दुर्बलताएं थीं।[1]

नागरिक शक्ति का अधिकार प्रत्येक—व्यक्ति को अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का अधिकार है। शासन सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए जिस विधायी और कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है, यह वही शक्ति है जिसे व्यक्ति ने समुदाय को अथवा जनता को सौंप दिया है। इस शक्ति को हस्तान्तरित करने का कारण यह है कि यह प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने का अधिक अच्छा उपाय है। इसके द्वारा मनुष्य समुदाय का या राजनीतिक समाज का निर्माण करते हैं। यह समझौता सब का सबके साथ होता है। इसका स्वरूप सामाजिक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को अपने केवल वे अधिकार देने को तैयार होता है जिनके प्रयोग से प्राकृतिक अवस्था में कुछ गड़बड़ पैदा होती थी और शान्ति खतरे में पड़ती थी। ये अधिकार थे : अपने लिए *प्राकृतिक कानून की व्याख्या करना, उसे क्रियान्वित करना और उसे भंग करने वालों* को दण्ड देना। शासन के शेष अधिकार, व्यक्तियों के पास सुरक्षित रहते हैं और राजनीतिक नियंत्रण को मर्यादित करते हैं।

लॉक के अनुसार समझौता करके कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता पर कोई ऐसा बंधन स्वीकार नहीं करता जो दूसरों के आक्रमण से उसे सुरक्षित रखने के लिए तैयार न हो। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने वाला राज्य स्वयं भी उससे उतना ही बाधित है, जितना कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति।[2]

इस प्रकार सरकार के ऊपर दोहरा नियंत्रण लग जाता है। उसे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के उन प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है जिनका उपभोग मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में करते थे और उसे स्वयं भी प्राकृतिक कानून का *पालन करना पड़ता है। सारांश यह है कि हॉब्स के सामाजिक समझौते के विपरीत,* जो कि शासक को अपरिमित तथा निरंकुश शक्तियां प्रदान करता है, लॉक का मौलिक

1. लॉक ने नागरिक सत्ता की परिभाषा इस प्रकार की थी, "यह सम्पत्ति की रक्षा और उसका नियमन करने के लिए दण्ड सहित कानूनों को बनाने का और इन कानूनों के निष्पादन में सार्वजनिक हित के लिए समुदाय की शक्ति के प्रयोग करने का अधिकार है।" इस प्रकार की शक्ति केवल सहमति के द्वारा ही उत्पन्न होती है। यह शक्ति सीमित रूप में ही दी जा सकती है लेकिन इसे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए ही दे सकता है।

2. लॉक स्वयं कहता है कि "प्राकृतिक कानून की सीमायें समाज में समाप्त नहीं हो जातीं।"

समझौता शासक को केवल सीमित शक्तियाँ ही प्रदान करता है। लॉक का समझौता हॉब्स की तरह दासता का पट्टा नहीं वरन् स्वतन्त्रता का पत्र है। लाक के द्वारा भी पड़ कर संविदा सिद्धांत उस उद्देश्य की पूर्ति करता है, जिसके लिए मूल रूप से उसका प्रतिपादन किया गया अर्थात् शासक की निरंकुश शक्ति के दावे के विपरीत व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना। लाक इस संविदा का प्रयोग व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता को अधिकाधिक सुरक्षित रखने के लिए करता है।

लॉक की संविदा की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि यह सर्व सम्मति से की जाती है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वतन्त्र और स्वाधीन है इसीलिए किसी को भी किसी की इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। जो लोग बाहर रहना चाहें वे प्राकृतिक अवस्था में रह सकते हैं। अभिप्राय यह है कि लॉक के अनुसार राज्य जन इच्छा के अनुकूल होना चाहिए। यह संविदा न केवल सर्व-सम्मति से होती है बल्कि लॉक के अनुसार यह अटल भी है। क्योंकि एक बार समझौता कर लेने पर लोग इसके विपरीत नहीं जा सकते। हाँ, यदि किसी संकटवश उनके द्वारा बनाई गई सरकार ही विनष्ट हो जाए तो दूसरी बात है। लॉक अपनी संविदा में यह मानता है कि यद्यपि राज्य का निर्माण करने वाले मूल समझौता के लिए सर्वसम्मति आवश्यक है किन्तु राज्य के लिए यह निर्धारित करने में कि अपराध क्या है, और उसका क्या दण्ड होना चाहिए, सर्वसम्मति आवश्यक नहीं है। राज्य द्वारा बनाए जाने वाले कानूनों में बहुमत शासन का नियमन कार्य करता है। सामाजिक समझौते में बहुमत-शासन का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से निहित है। इस सिद्धांत को स्वीकार किए बिना कोई भी सामूहिक कार्य असम्भव हो जाता है और संविदा का सारा महत्व ही जाता रहता है।[1]

लॉक की यह धारणा सही है कि एक जीवित समाज के निर्णयों को सर्वसम्मति के आश्रित नहीं किया जा सकता। ऐसा हो सकता है कि कुछ लोग किसी कारणवश कार्य वाही में भाग न लें और कुछ लोग मत की विभिन्नता के कारण उसे स्वीकार न करें। अल्पमत के लिए बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लेना अति आवश्यक है। परन्तु लॉक ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया कि उस अल्पमत के विषय में, जिसे सहमत न होने हुए भी बहुमत के निर्णय को मानना पड़ता है, यह कैसे कहा जा सकता है कि

1. लॉक के अपने शब्दों में—"प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ एक सरकार की आधीनता में एक राज्य के निर्माण करने की अनुमति देता है। इस प्रकार वह अपने आपको बहुमत के निर्णय के सामने झुकने तथा उसमें सम्मिलित होने के लिए बाधित करता है। अन्यथा वह मूल संविदा, जिसके द्वारा उसने दूसरों के साथ मिल कर समाज की रचना की है, निरर्थक हो जाएगी और वह संविदा ही नहीं रहेगी।"

—(On Civil Government Book II)

सब स्वतन्त्र और समान हैं और उनकी सहमती से ही उन पर शासन होता है। यदि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार अहस्तांतरणीय हैं तो बहुमत को भी उनसे वंचित करने का अधिकार उतना ही अधिक नहीं है जितना कि किसी एक व्यक्ति का है। इस बात का भी कोई उचित कारण नहीं कि कोई व्यक्ति अपना निजी निर्णय केवल इसीलिए परित्याग कर दे क्योंकि बहुमत के लोग उससे सहमत नहीं हैं। लॉक ने इन समस्याओं का कोई युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। केवल यह कह देना कि बहुमत शासन मूल संविदा में ही निहित है तो इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं माना जा सकता।[1] बहुमत का शासन सिद्धान्त इतना मान्य नहीं है जितना कि लॉक इसे समझता था।

लॉक के इस संविदा सिद्धान्त में कुछ अस्पष्टताएँ और अनिश्चितताएँ भी पाई जाती हैं। पहली बात यह है कि लॉक बार-बार मूल संविदा (Original contract) की बात करता है, जिसके द्वारा मनुष्य एक राजनीतिक समाज में संगठित होने के लिए सहमत होते हैं। इस प्रकार से प्रतीत होता है कि लॉक केवल एक ही संविदा की कल्पना करता है। और उसके इस संविदा द्वारा राजनीतिक समाज अर्थात् राज्य की स्थापना हो जाती है। इससे ऐसा नहीं लगता कि वह सरकार तथा उसके संस्थानों की भी सृष्टि करता है। क्योंकि राज्य और सरकार दो भिन्न वस्तुयें हैं और लॉक इस तथ्य को मानने वाले प्रथम विचारकों में से एक था। परन्तु लॉक ने यह बात स्पष्ट नहीं की कि सरकार का निर्माण कैसे हुआ और कब हुआ?[2]

इस कठिनाई का हल वॉहन जैसे विद्वान यह कह कर करना चाहते हैं कि "लॉक की स्थिति अल्थूसियस तथा पुफेन्डॉर्फ के समान थी जिन्होंने कि दो संविदाओं की कल्पना की थी—एक व्यक्तियों के बीच में, जिसके द्वारा समाज की रचना हुई और, दूसरा समाज और सरकार के बीच में।" परन्तु इस दूसरे समझौते का उल्लेख लॉक ने कभी नहीं किया। हालाँकि यह उसके शब्दों में निहित अवश्य मालूम होता है।

कुछ दूसरे लेखकों की धारणा यह है कि यद्यपि लॉक राज्य और सरकार में भेद नहीं करता तथापि सरकार की रचना के लिए दूसरे समझौते का वह न्यास द्वारा भी संकेत नहीं करता। उसमें केवल एक ही समझौता पाया जाता है जिसके द्वारा राजनीतिक समाज की रचना होती है। कहीं भी राजनीतिक समाज सरकार के बिना न तो जीवित रह सकता है और न ही कार्य कर सकता है। इसीलिए उसका प्रथम कार्य होता है सरकार की स्थापना करना, जिसका कार्य है समाज में जीवन, शरीर तथा सम्पत्ति की रक्षा करना।

1. "It is plain the world never was and never will be without numbers of men in that state".—*Laski*

2. "*I affirm* that all *men are naturally* in that state and *remain* so till by their own consent they make themselves members of some Political Society".—*Locke*.

लॉक स्वयं कहता है—'कोई भी राजनीतिक समाज अपने समस्त सदस्यों के अपराधों को दण्डित करने की शक्ति के बिना न हो सकता है और न कायम रह सकता है। इसीलिए राजनीतिक समाज वहां और केवल वहीं हो सकता है जहां कि प्रत्येक सदस्य ने अपनी प्राकृतिक शक्ति का परित्याग करके उसे सम्पूर्ण समाज के हाथों में सौंप दिया हो। जो लोग एक समाज में संगठित होते हैं और एक सामान्य कानून तथा न्यायपालिका की स्थापना करते हैं, जिसे उनके झगड़ों का निर्णय करने तथा अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार होता है, एक राजनीतिक समाज में एक दूसरे के साथ एक-मत हो जाते हैं।'' (सेकण्ड ट्रीटाइज सेक्शन 87)

लॉक के उपर्युक्त विचारों से परिणाम यह निकलता है कि राजनीतिक समाज का निर्माण तब तक पूर्ण नहीं समझा जा सकता जब तक कि वह सरकार की स्थापना न करे। जिस उद्देश्य से सिविल समाज की स्थापना हुई, उसकी पूर्ति के लिए सरकार का निर्माण करना उसका प्रथम कार्य होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि समाज तथा सरकार का जन्म साथ-साथ होता है।

एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि क्या वह समझौता जिसके द्वारा लॉक राज्य की स्थापना होना मानता था एक ऐतिहासिक तथ्य है अथवा केवल एक दार्शनिक विचार? लॉक के विचारों से प्रतीत होता है कि वह इस समझौते को दार्शनिक एवं ऐतिहासिक दोनों ही मानना चाहता है। उसने अपनी ट्रीटाइज के 14वें भाग में यह सिद्ध किया है कि संविदा एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसके विपरीत भाग 15 का प्रत्येक वाक्य यह जाहिर करता है कि वह संविदा को एक ऐसी धारणा मानता है जिसके द्वारा हम राज्य को केवल सहमति पर आधारित कर सकते हैं।

समाज और शासन

सब मिलाकर लॉक ने शासन की स्थापना को नागरिक समाज का निर्माण करने वाली मूल संविदा से कम महत्व की घटना माना है। जहां एक बार बहुमत शासन का निर्माण करने के लिए तैयार हो जाता है, समुदाय की सम्पूर्ण शक्ति स्व-भावतः बहुमत के साथ हो जाती है। शासन का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि बहुमत अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। बहुमत इस सत्ता को अपने पास रख सकता है अथवा वह उसे किसी विधायी सत्ता को भी सौंप सकता है। इंगलैंड की क्रांति के अनुभव के आधार पर लॉक ने यह मान लिया था कि शासन में विधायी शक्ति सबसे ऊँची है। तथापि वह यह भी मानता था कि कार्यकारिणी विधि-निर्माण में भाग ले सकती है। अर्थात् दोनों की शक्तियां सीमित हैं। विधायी शक्ति स्वेच्छाचारी नहीं हो सकती। स्वेच्छाचारी शक्ति तो उन लोगों के पास भी नहीं थी जिन्होंने विधानमण्डल का निर्माण किया था। वह अपनी मनमानी आज्ञाओं के द्वारा शासन नहीं कर सकती। वह सहमति के बिना सम्पत्ति भी नहीं ले सकती। लॉक के अनुसार सहमति

का अर्थ बहुमत का निर्णय है। वह अपनी विधायी शक्ति किसी दूसरे को भी नहीं सौंप सकती। यह शक्ति तो वहीं रहती है जहां समाज ने उसे प्रतिष्ठित किया है। सर्वोच्च शक्ति जनता के पास रहती है। जब विधान मण्डल जनता की इच्छा के प्रतिकूल चलाता है तब जनता उस की शक्ति को वापस ले सकती है। कार्यपालिका की शक्ति तो और भी सीमित होती है—वह कुछ तो विधान मण्डल के ऊपर निर्भर करती है और कुछ उसके ऊपर विधि का नियन्त्रण रहता है। स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि विधायी और कार्यकारी शक्ति एक ही हाथों में केन्द्रित न रहें। लॉक ने विधानमण्डल और कार्यपालिका के सम्बन्धों का जो विवरण दिया है, वह राजा और संसद के किसी न किसी वाद विवाद के पहलू का प्रकट करता है।

लॉक के दर्शन की असंगतियां

लॉक ने शासन के ऊपर जनता की शक्ति इतनी पूर्ण रूप से स्थापित नहीं की है जैसा कि बाद के अधिक लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों में पाया जाता है। यद्यपि उसने विधान-मण्डल की शक्ति को एक अमानत (Trust) बताया है और यह कहा है कि समुदाय के नाम पर कार्य करने वाला बहुमत यह शक्ति विधानमण्डल को सौंपता है, लेकिन उसने यह भी स्वीकार किया है कि जब तक शासन अपने कर्तव्यों का पालन करता रहता है उस समय तक जनता अपने अधिकारों से वंचित रहती है। इस दृष्टि से लॉक द्वारा प्रतिपादित शासन जैसा कि बाद में रूसो ने भी कहा था, वस्तुतः कुछ स्वेच्छाचारी था। यदि शासन जनता का ट्रस्टी है, तो यह समझ में नहीं आता कि लॉक ने इस ट्रस्ट की पूरी तरह से क्रियान्वित करने का प्रयास क्यों नहीं किया? जनता की विधायी शक्ति में केवल एक ही कार्य आता है और वह है सर्वोच्च विधानमण्डल की स्थापना। यदि समुदाय अपनी शक्ति को हमेशा के लिए वापस लेना चाहे तो वह उस समय तक ऐसा नहीं कर सकता जब तक कि शासन का विघटन न हो जाए। रूसो जैसा लोकतंत्रवादी भी इसे जनता की अपना शासन प्राप्त करने की शक्ति पर अनुचित प्रबन्ध मानता था। लॉक के इस विचार के अनेक कारण थे। वह बड़ा सावधान और गम्भीर व्यक्ति था। यद्यपि उसे एक क्रान्ति का समर्थन करना था, लेकिन वह इन्हें जनता का बिल्कुल प्रोत्साहन नहीं देना चाहता। इसके अतिरिक्त वह लोकतंत्रात्मक शासन को, कम से कम इंगलैंड में एक बौद्धिक प्रश्न मानता था। जिस प्रकार इंगलैंड की क्रान्ति ने इंगलैंड की शासन परम्परा को नहीं तोड़ा था, उसी प्रकार उसका दार्शनिक व्याख्याता लॉक भी क्रान्तिकारियों में सबसे अधिक अनुदार था।

लॉक का उद्देश्य 1688 की क्रान्ति की नैतिक चेतना का समर्थन करना था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने हूकर के सिद्धान्त को स्वीकार किया, जो इस प्रकार था कि "इंगलैण्ड का समाज और इंगलैण्ड का शासन दो भिन्न वस्तुएं हैं। शासन समाज की भलाई के लिए है और जो शासन समाज को नुकसान पहुंचाता है, उसे बदला जा सकता है।"[1] इस युक्ति की पुष्टि में लॉक ने क्रांति के आधार का विस्तृत

विवेचन किया है। लॉक का कहना है कि यह अधिकार विजय के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। लॉक ने यहां उचित और अनुचित युद्ध में भेद माना है। आक्रामक को कोई अधिकार नहीं मिलता। न्यायपूर्ण युद्ध में कोई विजेता अपने ऐसे अधिकारों की स्थापना नहीं कर सकता जो विजित लोगों की सम्पत्ति और स्वाधीनता के विरुद्ध हो। यह तर्क शासन के ऐसे प्रत्येक सिद्धान्त के विरुद्ध है, जिसके अनुसार शासन, बल के मनमाने प्रयोग के द्वारा अपनी न्यायपूर्ण शक्ति प्राप्त करता है। लॉक के तर्क का आधार प्रायः वही है जिसका बाद में रूसो ने विकास किया था। यह आधार नैतिक औचित्य और बल को दो भिन्न वस्तुएं मानता है। बल के आधार पर नैतिक औचित्य नहीं किया जा सकता। इसीलिए जो शासन बल से आरम्भ होता है, वह उसी समय तक न्यायपूर्ण माना जा सकता है जब तक कि वह व्यक्तियों और समुदायों के पूर्वनिहित अधिकारों को मान्यता दे। दूसरे शब्दों में नैतिक व्यवस्था स्थायी और शाश्वत है और शासन नैतिक व्यवस्था में केवल साधनमात्र। लॉक के लिए प्राकृतिक विधि का प्रायः वही अभिप्राय था, जो उसका सिसरो, सिनेका और सम्पूर्ण मध्य युग के लिए था।

समाज से पृथक शासन का उसी समय विघटन हो सकता है, जबकि या तो विधायी शक्ति के केन्द्र में परिवर्तन हो, या शासन उस विश्वास का उल्लंघन करे जो लोगों ने उसमें किया हो। लॉक के सामने दो घटनाएं थीं और दोनों ही इंगलैण्ड के पिछले पचास वर्षों के इतिहास पर आधारित थीं। लॉक यह सिद्ध करना चाहता है कि क्रांति होने या न होने का वास्तविक कारण राजा है। राजा ने अपने परमाधिकार को बढ़ाने की ओर संसद के बिना शासन करने की कोशिश की थी। यह उस सर्वोच्च शक्ति का विस्थापन था जो लोगों ने अपने प्रतिनिधियों में प्रतिष्ठित की थी। उसे उस समय की पार्लियामेंट के अशिष्ट व्यवहार का भी स्मरण था, इसीलिए वह विधानमण्डल को भी अनियंत्रित नहीं छोड़ना चाहता। प्रजाजनों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर आक्रमण करना स्वतः अवैध है और जो विधान मण्डल ऐसा अन्याय करता है वह अपनी शक्ति से हाथ धो बैठता है। इस अवस्था में शक्ति जनता के पास वापस आ जाती है और जनता नए संविधान द्वारा नए विधानमण्डल की स्थापना करती है।

लॉक के "विधिसंगत" शब्द ने कई बार अनावश्यक भ्रम उत्पन्न किया है। वह कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका के अवैध कार्यों की बार बार चर्चा करता है, जबकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि यह कोई सुधारात्मक उपाय नहीं है। इसी प्रकार वह अत्याचारी शासन के विधिसंगत प्रतिरोध की चर्चा निरंतर करता है जब *कि उसका वास्तविक अभिप्राय विधि बाह्य उपायों का आश्रय लेना है।* लॉक ने नैतिक रूप से उचित, और वैधानिक रूप से व्यावहारिक के बीच में कोई भेद नहीं माना है। यह विचार इस धारणा के आधार पर विकसित हुआ था कि प्राकृतिक और नैतिक विधियां एक ही वस्तु हैं और इसीलिए कुछ ऐसी मूल विधियां भी हैं जिनकी रचना

उच्चतम विधानमण्डल तक नहीं कर सकते। इंगलैंड में इस प्रकार के नियमों की वैधता उस क्रांति के साथ ही समाप्त हो गई थी, जिसका लॉक समर्थन करने का प्रयास कर रहा था। तथापि यह विश्वास बराबर बना रहा कि संसद के ऊपर कुछ नैतिक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं।

तार्किक गुत्थियां

लॉक के राजनीतिक दर्शन का सरल शब्दावली में व्यक्त करना कठिन है। इसका कारण यह है कि जब उसका विश्लेषण किया जाता है तो उसमें अनेक तार्किक कठिनाइयां दिखाई देती हैं। ऊपर से देखने पर यह दर्शन काफी आसान मालूम पड़ता है और अपनी इस सरलता के कारण काफी लोकप्रिय भी रहा है, लेकिन वास्तव में इसमें अनेक गुत्थियां हैं। इन गुत्थियों का प्रधान कारण यह है कि सत्रहवीं शताब्दी में लॉक ने बहुत से प्रश्नों को देखा और इन सबका एक साथ समाधान करने का प्रयास किया। लेकिन उसका सिद्धान्त इतना तर्क सम्मत नहीं था कि एक ऐसी जटिल और विषम वस्तु को सम्भाल सकता। यद्यपि परिस्थितियों ने उसे क्रांति का समर्थक बना दिया था लेकिन वह किसी प्रकार से आमूल परिवर्तनवादी नहीं था। बौद्धिक मनोवृत्ति से वह सिद्धान्तवादी दार्शनिक भी नहीं था। उसने अपने सिद्धान्तों को अधिकतर उत्तराधिकार से प्राप्त किया था और उनकी पूरी परीक्षा भी कभी नहीं की थी। लेकिन वह वास्तविक तथ्यों के प्रति संवेदनशील था और उसने उनका बुद्धिमत्तापूर्ण समाधान करने का प्रयास किया है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्यान्ह में इंगलैंड की राजनीति और इंगलैंड की विचारधारा बिल्कुल बदल गई थी। लॉक ने अपने दर्शन में भूतकाल और वर्तमान काल का मिलान की कोशिश की है। उसने एक ऐसी आधार भूमि ढूंढने की चेष्टा की कि जहां सभी दलों के बुद्धिमान व्यक्ति आकर मिल सकें। लेकिन उसने जो कुछ जोड़ा, वह उसका विश्लेषण नहीं कर सका। जिस प्रकार उसने भूतकाल के विभिन्न तत्वों को अपने दर्शन में जोड़ा था, उसी प्रकार आगामी शताब्दी में उसके राजनीतिक दर्शन के आधार पर अनेक सिद्धान्त भी निकले हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता

लॉक के दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण अंश यह है, जिसमें उसने राजनीतिक दमन के स्थान पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सुझाव दिया है। लॉक के दर्शन में मनुष्य समुदाय के सदस्य हैं। उसने समाज को व्यक्तियों की सहमति पर आधारित माना है, जिनके व्यवहार में अभिजात्य दुर्लभ है। तथापि उसने समुदाय को एक निश्चित इकाई और व्यक्तियों के अधिकारों का ट्रस्टी कहा है। कुछ इसी तरह से समुदाय व्यक्ति का ट्रस्टी है। इसके, शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका विधानमण्डल की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण और कम सत्ताधारी है। स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा में उसका विधानमण्डल कार्यपालिका पर नियंत्रण रखता है और समुदाय शासन पर स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व व्यक्ति के अपने ऊपर उसी समय आता है जबकि समाज का विघटन होता है। लेकिन समाज

का विघटन होना जरा दूर की बात है। लॉक ने इस सम्भावना की गम्भीरता से कभी कल्पना नहीं की थी। लॉक के मत से समाज, राजा, विधान मण्डल इन सबके कुछ निहित अधिकार होते हैं, अथवा उनके पास स्वार्थी सत्ता होती है और इस सत्ता का अतिक्रमण केवल कुछ विशिष्ट लक्ष्यों के लिए ही किया जा सकता है। लेकिन लॉक के मत में स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार ऐसे हैं जिनका किसी भी दशा में अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। लॉक ने यह कहीं नहीं बताया कि संस्थानों को व्यक्तियों के समान और अविच्छेद्य अधिकारों से किस प्रकार शक्ति प्राप्त है। इस कारण लॉक के सिद्धान्त में कल्पना का तत्व बढ़ गया है।

प्रभाव

लॉक का चिन्तन ऊपर से देखने से तो बड़ा स्पष्ट लगता है परन्तु उसके अन्दर अनेक जटिलताएं छिपी हैं। इस जटिलता के कारण यह समझना बड़ा कठिन है कि उसका बाद के सिद्धान्तों से क्या सम्बन्ध है। विचारकों ने उसके दर्शन के जिन तत्वों को तुरन्त ग्रहण किया, वे उसके सबसे स्पष्ट, लेकिन साथ ही सबसे कम महत्वपूर्ण तत्व थे। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लॉक का दर्शन काफी लोकप्रिय हुआ। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि वह बहुत सरल लगता था, जबकि वह इतना सरल था नहीं। उसका दूसरा कारण यह था कि वह व्यावहारिक बुद्धि से सम्बन्ध रखता था। क्रांति के बाद जो उदारवादी दर्शन जारी रहा था, वह लॉक के दर्शन की अन्तरात्मा को लेकर आगे बढ़ता रहा। इस दर्शन में धार्मिक सहिष्णुता के तत्व की प्रधानता थी। अठारहवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में इसका बहुत महत्व था।

लॉक के दर्शन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उसने अमरीका और फ्रांस की तत्कालीन व्यवस्थाओं पर प्रभाव डाला। इसकी चरम परिणति अमरीका तथा फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में होने वाली महान क्रांतियां थी। लॉक ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सहमति तथा सम्पत्ति के अर्जन और उपभोग के अविच्छेद्य अधिकारों का प्रतिपादन किया था। लॉक का कहना था कि इन अधिकारों के नाम पर शासन शक्ति का विरोध भी किया जा सकता है। लॉक के इस मत का सुदूरव्यापी प्रभाव पड़ा। ये विचार बीज रूप में लॉक से काफी पुराने थे। यह सोलहवीं शताब्दी के बाद ही से योरोप के समस्त राष्ट्रों का जन्मसिद्ध अधिकार रहा था। इसीलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमरीका और फ्रांस में विचार अकेले लॉक के माध्यम से ही पहुँचे लेकिन उनका महत्व राजनीतिक दर्शन की ओर ध्यान देने वाले प्रदेश पर्याप्त को ज्ञात था। ईमानदारी, नैतिक विश्वासों में दृढ़ता, स्वतन्त्रता, मानव अधिकार और मानव प्रकृति की गरिमा में विश्वास, सौम्यता, और सद्भावना उसके कुछ ऐसे गुण थे जिन्होंने उसे मध्यवर्ग की क्रांति का आदर्श प्रवक्ता बना दिया। लॉक उदारवादी विचारों का प्रबल समर्थक था। इस दृष्टि से उसकी स्थिति बेजोड़ है। व्यक्तिपूजकवाद

और बहुमत के निर्णयो में आस्था जैसे उसके अधिक संदेहास्पद विचार भी लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त के अंग बन गये। लॉक ने व्यक्तिगत अधिकारो को आदर्शरूप दिया, उपयोगितावाद को समस्त राजनीतिक बुराइयो का उपचार माना, सम्पत्ति के अधिकारो के प्रति आदर-भावना को कायम रखा और इस बात पर बार बार जोर दिया कि सार्वजनिक हितो पर व्यक्तिगत कल्याण के सन्दर्भ मे विचार करना चाहिए।

BIBLIOGRAPHY

1. SABINE A History of Political Theory
2. VAUGHAN : Studies in Political Theories
3 MACGOVERN : From Luther to Hitler.
4 MAXEY : Political Philosophies

रूसो का राजदर्शन और सामान्य इच्छा सिद्धान्त

(POLITICAL PHILOSOPHY OF ROUSSEAU AND HIS DOCTRINE OF GENERAL WILL)

—ओमप्रकाश भट्ट

रूसो का दर्शन तथा राजनीति सम्बन्धी समस्त साहित्य उसके जटिल और आनन्द-विहीन व्यक्तित्व का परिणाम था। उसके कन्फेशन्स से उसके विभक्त व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्शन होता है। उसके इस विभक्त व्यक्तित्व में यौवन तथा धर्म-विषयक अनेक असंगतियां थीं। उसने कहा भी है कि—"मेरी रुचियां और विचार सदैव ही—उच्च तथा अधम के बीच झूलते हुए रहे।"[1]

रूसो ने अपने सामाजिक समझौते को हॉब्स और लॉक से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। हॉब्सके अनुसार राज्यकी स्थापना का केवल एकही ढंग है और वह है समस्त व्यक्तियों का अपनी समस्त शक्ति को एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को प्रदान करना। समझौता केवल जनता में होता है। हॉब्स अपने सामाजिक समझौते द्वारा निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना करता है। उसने कहा है कि समझौता सरकार और जनता के बीच नहीं है। हॉब्स यह नहीं दिखाना चाहता कि सरकार और जनता में समानता है। इसीलिए वह सरकार को निरंकुश और शक्तिशाली बना देता है। लॉक का तर्क इसके विपरीत है। वह कहता है जनता सरकार से अधिक शक्तिशाली है। सरकार में जनता के प्रति कर्त्तव्य है। सरकार जनता की एजेन्ट हो सकती है, भागीदार नहीं। यदि हम सरकार को भागीदार कहें तो वह जनता के बराबर बन जाती है। इसलिए सरकार एक ट्रस्टी के रूप में है। जनता के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों के कारण लॉक की सरकार संवैधानिक मानी जाती है। सरकार अच्छी है या नहीं, इस बात की सर्वोत्तम निर्णायिका जनता है। लॉक,हॉब्स की तरह सारी शक्ति राजा को नहीं देता, बल्कि कुछ ही शक्तियां राजा को प्रदान की जाती हैं। जनता सरकार को हटा भी सकती है। इस प्रकार लॉक ने हॉब्स की निरंकुशता के स्थान पर अपने समझौते में उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया है। परन्तु रूसो को सामाजिक संविदा के इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध ही नहीं है कि प्रथम राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई। समझौते में वह भूत का इतिहास नहीं लिखता बल्कि केवल राज्य के मूल स्वरूप की समीक्षा प्रस्तुत करता है और

1. *Sabine* : History of Political Theory.

इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास कर रहा है कि एक आदर्श समाज को किस प्रकार संगठित किया जाये कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्याधिकार में संगति स्थापित की जा सके। इस प्रकार के समाज की स्थापना की पद्धति थी सामाजिक संविदा। उसका यह सामाजिक समझौता "एक ऐसी चीज नहीं है, जैसा कि साधारणतया माना जाता है। यह वह समझौता नहीं है जिस पर हम सब ने बहुत पहिले, प्रथम समाज की स्थापना करने के लिए अपने हस्ताक्षर किये थे। यह एक ऐसी चीज है जिसे हमें आदर्श समाज की स्थापना के लिए स्वीकार करना होगा। यह इतिहास नहीं है, पर किसी दिन इतिहास हो सकता है।"[1]

1749 में रूसो ने डीजोन की अकादमी द्वारा घोषित इस विषय पर कि "विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में योग दिया है अथवा इसके विशुद्धिकरण में" निबन्ध लिखा। उसके निबंध का सार यह था कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है किन्तु अस्वभाविक सभ्यता द्वारा उत्पन्न किये गये भ्रष्ट संस्थानों द्वारा वह बुरा बन जाता है। मनुष्य यदि अपना वास्तविक आनन्द तथा निरङ्कुशता प्राप्त करना चाहता है तो उसे प्राकृतिक जीवन की ओर लौट जाना चाहिये। इस निबन्ध ने न केवल पुरस्कार जीता बल्कि 'विवेक युग' के कृत्रिम समाज में एक बड़ी हलचल मचादी। रूसो के अनुसार जब तक राज्य कायम है, शान्ति असम्भव है। उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट जाना है। रूसो का यह विचार फ्रांस के कृत्रिम जीवन पर एक करारा प्रहार था। इस आक्रमण का एक निशाना फ्रांस का निरंकुश राजतन्त्र भी था।

मानव प्रकृति का अर्थ

रूसो के अनुसार—"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है किन्तु सर्वत्र वह जंजीरों से जकड़ा हुआ है। बहुत से व्यक्ति अपने आपको दूसरों का स्वामी समझते हैं, तथापि वे दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक पराधीन हैं।"[2] मैकियावेली तथा हॉब्स जैसे विचारकों की यह धारणा रही थी कि मनुष्य स्वभाव से ही इतना बुरा है कि सच्ची कला का उद्देश्य उसे उसकी दुष्ट प्रकृति से मुक्ति दिलाना है। इसके विपरीत प्लेटो और रूसो की यह धारणा है कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है, इसलिए सच्ची कला का उद्देश्य उसकी स्वाभाविक अच्छाई का विकास

1. *His Social Pact—"Is not as commonly supposed, a thing that we all signed long ago to start the first Society. It is what we must sign now, if we are to have the right one. It is not history, but may some day become history."—Wright, Meaning of Rousseau, p. 71.*

2. "Man is born free and everywhere he is in chains. Many a one believes himself the master of others, and yet he is a greater slave than they." —*Rousseau.*

करता है। रूसो का विश्वास था कि समाज में पाया जाने वाला पाप, भ्रष्टाचार तथा दुष्टता मनुष्य की जन्मजात दुष्टता का परिणाम नहीं है, बल्कि व पूर्ण रूप से गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। एक गलत समाज तथा संस्कृति ने उसे पथ भ्रष्ट कर दिया है। रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है, जिन्हें भला या उदार नहीं कहा जा सकता। पहली प्रवृत्ति है—आत्म प्रतिरक्षण की भावना अर्थात् "मनुष्य का प्रथम कानून स्वयं अपना प्रतिरक्षण करना है, और सबसे पहिले स्वयं अपनी चिन्ता रहनी है।"[1] दूसरी प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है, और सम्पूर्ण जीवधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। क्योंकि ये भावनाएं शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिये। परन्तु पारिवारिक हित की इच्छा कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो कि समाज के हितों से तालमेल नहीं खाता। दोनों भावनायें पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं की जा सकतीं। इसीलिए व्यक्ति इनमें समझौता करने के लिए विवश होता है। इस प्रकार के निरन्तर समझौता से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण (Conscience) कहा जाता है। अन्तःकरण बुद्धि तथा शिक्षा दोनों से प्राचीन है। यह प्रकृति का उपहार है। अन्तःकरण केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्ग-दर्शन के लिए मनुष्य को एक दूसरी शक्ति पर निर्भर करना पड़ता है जो कि उसमें विकसित होती है और वह शक्ति है विवेक। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए, किन्तु उससे वह उस कार्य को करा नहीं सकता। सत्कार्य की ओर प्रवृत्त करने वाला एकमात्र अन्तःकरण है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्व दिया तो उसका कारण यही था कि उसके समय में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी।

रूसो का विवेक और विज्ञान के विरुद्ध विद्रोह

रूसो ने विवेक पर आक्षेप किये हैं। उसने बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान का विरोध किया और इनके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। रूसो के अनुसार बुद्धि भयानक है, क्योंकि वह श्रद्धा का नाश करती है, विज्ञान विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है, विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में तर्क-वितर्क को प्रधानता देता है। विज्ञान को केवल प्राकृतिक कार्य व्यापार से ही सम्बन्ध रखना चाहिए जिससे कि वह हृदय की प्रेरणाओं, धर्म तथा नैतिक विधियों को नुकसान न पहुँचा सके।

1. "His first law is to attend to his own preservation, his first cares are those which he owes to himself."

—*Social Contract, Book I.*

रूसो के राजनीतिक दर्शन का प्रारम्भ विवेक के विरोध में नैतिक भावों की प्रतिष्ठा के साथ हुआ था। रूसो का विश्वास था कि नैतिक सद्गुण अपने शुद्धतम रूप में सामान्य लोगों के बीच ही पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में उसने एमील में कहा है कि—"सामान्य लोग ही मानव जाति का निर्माण करते हैं। जो चीज लोगों से सम्बन्ध नहीं रखती उस पर ध्यान नहीं देना चाहिये। मनुष्य सभी श्रेणियों में एक सा रहता है। अतः जिस श्रेणी के मनुष्य सबसे अधिक हों, हमें उसी श्रेणी का सबसे अधिक आदर करना चाहिए।"[1]

प्रकृति और सरल जीवन

रूसो के अनुसार सिद्धान्तों की चर्चा करने वाला अतर्कतापूर्ण अहम्‌वादी मनुष्य प्रकृति में नहीं पाया जाता। वह केवल विकृत समाज में ही पाया जाता है। दार्शनिक इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि—"लन्दन अथवा पेरिस का नागरिक क्या है, लेकिन वे यह नहीं जानते कि मनुष्य क्या है?"[2] वास्तव में प्राकृतिक मनुष्य कौन है, इस प्रश्न का उत्तर इतिहास से प्राप्त नहीं किया जा सकता। रूसो के विचार में प्राकृतिक मनुष्य केवल कल्पना की वस्तु है क्योंकि स्वार्थ रुचि, दूसरे के विचारों के प्रति आदर, कला, युद्ध, दासता, अधर्म, वात्सल्य तथा पैतृक स्नेह ये सारी बातें केवल मनुष्यों में ही पाई जाती हैं, क्योंकि वह एक सामाजिक प्राणी है जो छोटे-बड़े समुदायों में मिल-जुल कर रहते हैं। कोई भी समाज पूर्णरूप से सहानुभूति पर आधारित नहीं होता। रूसो ने यह एक तर्क ऐसा दिया है जो युक्ति की दृष्टि से बिल्कुल असम्बद्ध था। उसकी रचनाओं में सामाजिक संविदा की अपेक्षा निराशावाद अधिक पाया जाता है। उसका यह विश्वास हो गया था कि तत्कालीन फ्रेंच समाज शोषण का एक साधन मात्र है—एक वर्ग दरिद्र है तो दूसरा अमीर। आर्थिक शोषण का परिणाम अनिवार्यतः राजनीतिक निरंकुशता होता है। रूसो ने इस विकृत समाज के विरोध में एक आदर्श रूप से सरल समाज की स्थापना का स्वप्न प्रस्तुत किया।

रूसो के चिन्तन में राज्य का महत्व

"राजनीतिक समाज अपनी इच्छा से सम्पन्न एक नैतिक इकाई भी है और यह सामान्य-इच्छा जो सदैव ही सम्पूर्ण तथा प्रत्येक भाग की रक्षा तथा कल्याण के लिए प्रेरित होती है और विधियों का स्रोत होती है, राज्य के समस्त सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय क्या है, इस नियम का निर्माण करती है।"[3] रूसो के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता हमें केवल राज्य की सदस्यता से ही प्राप्त हो सकती है। राज्य से अलग रहकर हम 'मूर्ख तथा परिमित पशु' ही बने रहते हैं और हमारे

1. Quoted by Morley, "Rousseau" (1885) *Vol. II, PP.*
2. 226 f. L'etat deguerre, Vaughan *Vol. I P. 39.*
3. Vaughan Vol. I, *P. 241.*

कार्यों को कोई नैतिक गुण प्राप्त नहीं होता। राज्य की सदस्यता के कारण ही शारीरिक प्रवृत्तियों के स्थान पर कर्त्तव्यशीलता प्रतिष्ठित होती है और मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के सामने झुकने से पूर्व अपनी बुद्धि की वाणी सुनने लगता है।

रूसो डिस्कोर्सेज में इस प्रश्न का उत्तर देना चाहता था कि मनुष्य ने अपने प्रथम समाज का निर्माण किस प्रकार किया? उसके लिए उसने यह कल्प-तथ्य (Hypothesis) प्रस्तुत किया कि राज्य का जन्म सम्भवतः इसीलिए हुआ कि कुछ चालाक व्यक्तियों ने जो कि धनाढ्य बन गये थे और जो गरीबों के ऊपर अपने प्रभुत्व को स्थायी तथा अमर बनाना चाहते थे अपनी युक्तियों द्वारा गरीबों को राज्य की स्थापना में उनके साथ सहयोग करने के लिए बहका लिया। प्रकट रूप से राज्य का उद्देश्य महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को संयत रखना तथा गरीबों की रक्षा करना बताया गया है। इस प्रकार के समाज की स्थापना के परिणाम अधिकतर बुरे निकले। इसीलिए रूसो मनुष्य को प्रकृति के सरल जीवन की ओर लौट जाने का परामर्श देता है।

सामाजिक समझौता (Social Contract)

रूसो के सामाजिक समझौते का इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है कि प्रथम राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई। वह राज्य के मूल स्वरूप की समीक्षा कर रहा है और उसमें इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास करता है कि एक आदर्श समाज को किस प्रकार संगठित किया जाये, जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राज्याधिकार में संगति स्थापित की जा सके। इस प्रकार के समाज की रचना की पद्धति थी—'सामाजिक संविदा'। रूसो की युक्ति यह है कि केवल वही समाज, जो उसकी कल्पना की सामाजिक संविदा पर आधारित हो, अपने सदस्यों को वह नैतिक स्वतन्त्रता और सुरक्षा प्रदान कर सकता है जो कि बुद्धि के अनुसार आचरण करने से प्राप्त होती है। राजकीय विधि व्यवस्था का फल है। रूसो पर संविदा का प्रभाव इसीलिए था क्योंकि उसके समय के बौद्धिक वातावरण का सामाजिक संविदा सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग था।

हॉब्स, लॉक, अल्थूसियस तथा कोन्डार्स सरीखे विचारकों ने इस संविदा सिद्धान्त को पहिले ही जनप्रिय बना दिया था। परन्तु रूसो जिन परिणामों पर पहुँचा उनसे इसकी संगति नहीं बैठती। वह इसे समाज के विरुद्ध व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का आधार नहीं मानता। वह संवैधानिक शासन को संविदा पर आधारित नहीं करता जैसा कि लॉक ने किया था। रूसो के हाथों में संविदा सिद्धान्त राज्य की व्यक्तिवादी धारणा का पोषण नहीं करता। निस्सन्देह यह बात आश्चर्यजनक है कि रूसो संविदा सिद्धान्त द्वारा इस परिणाम पर पहुँचा कि राज्य एक सावयविक इकाई है तथा उसका अपना एक नैतिक एवं सामूहिक व्यक्तित्व है। इस स्थिति में वेबाहन का यह कथन कि रूसो का संविदा शब्द का प्रयोग भ्रमात्मक है, बहुत कुछ सार्थक सा लगता है।

रूसो के अनुसार सामाजिक संविदा की शर्तें क्या होनी चाहियें, यह उन बातों पर निर्भर करता है जिनकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं। इस उद्देश्य के दो अंग हैं, प्रथम, मनुष्य समूह इसलिए बनाते हैं कि उनके धन-जन की रक्षा में उन्हें सम्पूर्ण समाज की सहायता प्राप्त हो सके। दूसरे, वे अधिकतम स्वतन्त्रता चाहते हैं। ये दोनों लक्ष्य विश्वव्यापी हैं, इसलिए इनकी पूर्ति करने वाले समझौते की शर्तें भी इतनी ही विश्वव्यापी होनी चाहिएं। समस्त देश काल के लिये केवल एक ही यह समझौता हो सकता है। समझौते की शर्तें विभिन्न कालों में और विभिन्न समाजों में अलग-अलग नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स, लॉक तथा अन्य विचारकों द्वारा वर्णित समझौते की शर्तें रूसो को मान्य नहीं हो सकती और वह उन्हें आदर्श राज्य के संगठन का आधार नहीं बना सकता।

समझौते की शर्तों का वर्णन रूसो इन शब्दों में करता है—"हममें से प्रत्येक अपने शरीर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सब के साथ सामान्य रूप से 'सामान्य इच्छा' के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। समस्त व्यक्तियों के संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्तित्व को पहिले नगर कहते थे। अब इसे गणराज्य कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो इसे राज्य कहते हैं और जब यह सक्रिय हो जाता है तो संप्रभु। ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने पर इसे शक्ति कहा जाता है।[1]

उपरोक्त सामाजिक संविदा के क्रियाशील एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ यह है कि समाज का प्रत्येक सदस्य अपने समस्त अधिकार सम्पूर्ण समाज को समर्पित कर देता है। इसके इस समर्पण से प्रत्येक को लाभ होता है और हानि किसी को नहीं होती। हानि इसलिए नहीं होती कि अपने आपको सब के प्रति समर्पित करने में व्यक्ति किसी एक के प्रति समर्पण नहीं करता और जो कुछ भी वह सब को देता है, उसे वह सम्पूर्ण का एक अविभाज्य अङ्ग होने के नाते वापिस पा लेता है। किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते और सब का स्थान समान होता है। इस प्रकार रूसो के राज्य में नागरिक को स्वतन्त्रता तथा समानता प्राप्त होती है।

रूसो के अनुसार संविदा व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होती है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील संप्रभु भी। एक संप्रभुतापूर्ण संघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति उतना स्वतन्त्र नहीं रहता है जितना कि वह पहिले था, बल्कि उसकी स्वतंत्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है। रूसो के समझौते से उत्पन्न होने वाले समाज का स्वरूप सावयविक (Organic) है, हॉब्स या लॉक की धारणा के समाज के सदृश व्यक्तिवादी नहीं। समझौते एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है जिसका अपना निजी जीवन है,

1 Social Contract, Book I (Chapter VI)

अपनी निजी इच्छा तथा अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति (Public Person) कह कर पुकारता है।

संविदा के महत्व को बतलाते हुए रूसो कहता है कि जो चीज मनुष्य को पशुओं के स्तर से ऊपर उठाती है और उसे सचमुच मानव बनाती है, वह है उसकी राज्य की सदस्यता। इसके द्वारा ही मनुष्य में भावनाओं के स्थान पर कर्तव्य की प्रतिष्ठा होती है और यही इसके कार्यों को नैतिक गुण प्रदान करती है, जो कि उसमें पहिले नहीं थे। सामाजिक संविदा से पूर्व उनके पास उन वस्तुओं पर जिन्हें कि वे अपनी कहने का साहस करते थे, एक अस्थिर आधिपत्य था। संविदा के उपरान्त उन्हें अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)

रूसो के विचार से मानव में दो तरह की असमानता होती है, पहली शारीरिक या प्राकृतिक और दूसरी नैतिक तथा राजनीतिक। प्राकृतिक असमानता प्राकृतिक राज्य में पाई जाती है। यहां नैतिक और राजनीतिक असमानता नहीं थी। प्राकृतिक राज्य में मनुष्य अकेला रहता था। उसका जीवन स्वतन्त्रतापूर्ण था। उस समय न संघर्ष था न प्रतियोगिता। प्राकृतिक व्यक्ति न तो नीतिवादी ही था और न दुष्ट ही। वह दुखी नहीं था, लेकिन वह सुखी भी नहीं था। स्पष्ट है कि उसके पास सम्पत्ति भी नहीं थी। उसमें इतना साहस भी नहीं था कि वह दूसरों से लड़ता। प्राकृतिक अवस्था में रूसो ने मानव में दो मूल प्रवृत्तियों को पाया। प्रथम यह कि मानव स्वयं को प्यार करता है और इसलिए वह शान्ति बनाये रखता है। दूसरे उसमें सहयोग की भावना होती है इसलिए वह अपने साथियों से नहीं लड़ता। रूसो का मानव हाब्स की संघर्षमय प्राकृतिक अवस्था में नहीं रहता। उस का प्राकृतिक राज्य एक शान्तिपूर्ण राज्य था। परन्तु यह मानव विकास की स्थिति नहीं थी, क्योंकि उस अवस्था में मानव एक दूसरे से अलग रहते थे और जब तक वह दूसरों से मिलकर नहीं रहते तब तक उसका विकास नहीं हो सकता।

समाज (Civil Society)

रूसो यह मानता है कि प्राकृतिक राज्य और नागरिक समाज के बीच एक अन्तरिम समय था। इस अवस्था में मानव साथ मिलकर कार्य करने लगे थे। परन्तु इस अवस्था में संगठित समाज नहीं था। यह सम्पर्क की स्थिति थी। परन्तु इस समय में तीन प्रक्रियायें प्रारम्भ हो चुकी थीं। पहली तुलना की प्रक्रिया, दूसरी प्रतिद्वन्दिता की और तीसरी मनोवैज्ञानिक स्तर पर असमानता की। इस अन्तरिम अवस्था में मानव ने एक दूसरे पर निर्भर होना सीखा। यह समाज स्वार्थों, लालचों और घृणा पर आधारित था। यहीं से नागरिक समाज (Civil Society) का आरम्भ होता है। नागरिक समाज में सम्पत्ति की समस्या सामने आई। इस समय मानव सम्पत्ति को प्यार करने लगा। कृषि का विकास हुआ और इस कारण मनुष्यों ने सम्पत्ति की ओर अधिक

ध्यान दिया। कुछ व्यक्तियों ने भूमि पर अधिकार कर लिया और कुछ व्यक्तियों ने उनके भूमि-स्वामित्व को स्वीकार किया। यहीं से वास्तव में नागरिक समाज का आरम्भ होता है। इस समाज में दो वर्ग उत्पन्न हुए; धनी और गरीब। परन्तु धनी व्यक्तियों को यह चिन्ता लगने लगी कि जिस भूमि पर उन्होंने अधिकार किया है वह उनकी नहीं है। आज वे अधिकारी हैं परन्तु कुछ समय बाद निर्धन संगठित होकर अधिकारी बन सकते हैं। अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए उन्होंने राज्य और सरकार की स्थापना करनी चाही। इसलिए, रूसो के अनुसार राज्य का जन्म कुछ चालाक व्यक्तियों ने (जो कि धनाढ्य बन गये थे और जो गरीबों के ऊपर अपने प्रभुत्व को मान्य तथा अमर बनाना चाहते थे), अपनी युक्तियों द्वारा गरीबों को राज्य की स्थापना में उनके साथ सहयोग करने के लिए बाध्य कर किया।

रूसो की सामान्य इच्छा (General Will)

रूसो के चिन्तन में सबसे महत्वपूर्ण दो बातें थीं—सामान्य इच्छा का सिद्धान्त और प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना। रूसो का विश्वास था कि नगर-राज्य जैसा एक छोटा सा समुदाय सामान्य इच्छा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। रूसो के सामान्य-इच्छा सिद्धान्त का उसकी लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यथार्थ इच्छा और वास्तविक इच्छा (Actual Will and Real Will)

चैतन्य व्यक्ति होने के नाते हम भिन्न समयों पर विभिन्न पदार्थों की कामना करते हैं। एक व्यक्ति की इच्छित वस्तुओं का परस्पर सामंजस्य तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उनको निर्दिष्ट करने वाला उसके जीवन का एक केन्द्रीय लक्ष्य न हो और जिसकी प्राप्ति द्वारा मनुष्य को पूर्ण संतोष प्राप्त हो सके। इसे हम उसकी वास्तविक इच्छा कह सकते हैं। क्षणिक इच्छाओं को, जिन्हें कि मनुष्य समय समय पर अपने सामने रखता है, यथार्थ इच्छा कहा जा सकता। ये इच्छायें स्थाई रूप से मानव व्यक्तित्व में क्षण-क्षण में उठती हैं। इस यथार्थ इच्छा की एक विशेषता यह होती है कि यह वास्तविक इच्छा की पूर्ण मांग को तृप्त नहीं कर सकती और केवल उसकी तृप्ति मात्र से व्यक्ति को पूर्ण संतोष प्राप्त नहीं होता। यथार्थ इच्छा जितनी ही वास्तविक इच्छा के समीप होती है उतनी ही अधिक मात्रा में उससे तृप्ति प्राप्त होती है।

रूसो इस बात को जानता था कि एक मनुष्य होने के नाते एक व्यक्ति की इच्छा विशेष उसी व्यक्ति की एक नागरिक होने के नाते सामान्य इच्छा के विपरीत हो सकती है। रूसो के शब्दों में—"सामाजिक संविदा में यह बात निहित है कि जो कोई भी सामान्य इच्छा की आज्ञा पालन करने से इंकार करता है उसे सम्पूर्ण समाज द्वारा ऐसा करने के लिए विवश किया जा सकता है।

सामान्य इच्छा तथा 'सामूहिक इच्छा' में विभेद करने के लिए रूसो काफी परिश्रम करता है। उसका कहना है कि समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में

सदस्यों के व्यक्तिगत हितों का मिश्रण होता है जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सही सामान्य हितों से ही होता है।

सामान्य इच्छा की विशेषतायें

सामान्य इच्छा निष्काम होती है। रूसो की धारणा है कि यह निष्कामता सामान्य इच्छा में दो प्रकार से होती है—प्रथम इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और दूसरे यह सदैव जन सेवा भाव से ही प्रेरित होती है। सामान्य इच्छा एकात्मक होती है क्योंकि इसे अभिव्यक्त करने वाला सम्प्रभुताधारी निकाय एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय होता है। सामान्य इच्छा को उत्पन्न करने के लिए किसी समाज के समस्त सदस्यों का सर्वसम्मत होना आवश्यक नहीं है। सामान्य इच्छा सदा सद् एवं उपयुक्त होती है क्योंकि वह जन हित के लिए ही होती है और केवल जन-मत अथवा बहुमत उसे जन्म नहीं देते।

सामान्य इच्छा और प्रभुसत्ता

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का उसकी लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लोकप्रिय सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन वह केवल सामान्य इच्छा सिद्धान्त से ही करता है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है अतः इसमें सम्प्रभुता की सभी विशेषतायें भी होनी चाहिए। सम्प्रभुता निरंकुश होती है और इसलिए वह इसे भी निरंकुश मानता है। सम्प्रभुता अविभाज्य तथा अदेय है अतः सामान्य इच्छा भी अदेय और अविभाज्य है। सम्प्रभुता को अविभाज्य कहने से रूसो का अभिप्राय यह है कि वह सम्पूर्ण समाज में ही रह सकती है। उसे छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं किया जा सकता जैसा कि आधुनिक बहुलवादी (Pluralists) उसे करना चाहते हैं। सरकार के विभिन्न अङ्ग जैसे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में भी उसे विभक्त नहीं किया जा सकता। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सम्प्रभुता सम्पन्न नहीं हो सकती। वे तो सामान्य इच्छा के आदेशों का पालन करने वाले अभिकरण मात्र हैं। सामान्य इच्छा का कार्य कानून बनाना है उन्हें लागू करना नहीं। इस प्रकार रूसो सम्प्रभुता सम्पन्न जनता तथा उसके आधीनस्थ और उसके प्रति उत्तरदायी सरकार में विभेद करता है। उसके अनुसार जब तक सामान्य इच्छा सम्प्रभुता-सम्पन्न रहती है तब तक इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सरकार लोकतन्त्री है या कुलीनतन्त्री अथवा राजतन्त्री।

क्या सामान्य इच्छा सम्भव है ?

सामान्य इच्छा कितनी भी वास्तविक क्यों न हो वह साकार नहीं हो सकती। उसका यह निराकार स्वरूप उसके विश्लेषण को अत्यन्त कठिन बना देता है। रूसो का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना था, तथापि उसका सिद्धान्त बहुमततन्त्रवाद का पोषक बन गया। बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को वह बहुमत के सामने झुकने के लिए विवश करता है। रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अनेक

समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को सामान्य इच्छा के सामने समर्पित कर देता है, जो कि सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। निस्सन्देह रूसो व्यक्ति के लिए किसी संरक्षण की व्यवस्था नहीं करता। सामान्य इच्छा के निवास-स्थान के विषय में उसकी अनिश्चितता निस्सन्देह एक कमजोरी है। रूसो के सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई यह है कि सामान्य इच्छा का दर्शन अस्पष्ट है और स्वयं रूसो भी इस विषय में पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है।

अपनी पुस्तक 'सोशल काण्ट्रेक्ट' में रूसो विभिन्न तथा परस्पर विरोधी बातें कहता है। कहीं कहीं उसका आशय यह दिखाई पड़ता है कि सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा है, किन्तु बहुमत में भी वह सामान्य इच्छा के समस्त गुण नहीं मानता। कुछ स्थानों पर वह यह घोषित करता है कि परिषद में एकत्रित जनसमूहों में मत की विभिन्नताएँ जब एक दूसरे के विरोधी मतों को काट देती हैं और उसके पश्चात् जो शेष रहता है वह सामान्य इच्छा है। कोल ने सामान्य इच्छा की आलोचना करते हुए लिखा है कि हमें बताया जाता है कि सामान्य इच्छा में जिस स्वतन्त्रता की अनुभूति होती है वह सम्पूर्ण राज्य की स्वतन्त्रता होती है। एक स्वतन्त्र राज्य ही न्यायकारी हो सकता है। इसके विपरीत एक निरंकुश शासक अपनी प्रजा को अत्यधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता है। इस बात की क्या गारन्टी है कि राज्य स्वयं अपने को स्वतन्त्र बनाने में अपने सदस्यों को दास नहीं बना डालेगा।[1] रूसो की सामान्य इच्छा निस्सन्देह एक कल्पनात्मक धारणा है। उसकी सम्पूर्ण युक्ति "एक हवाई उड़ान है, वह एक ऐसी कल्पना है जो तथ्यों की पहुँच से परे तथा परिणामों की चिन्ता से ऊपर शून्य में उड़ानें भरती है। रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का वास्तविक दोष यह है कि उसका व्यावहारिक मूल्य बहुत सीमित है। उसकी धारणा छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही पूरी हो सकती है। आज के राष्ट्रीय राज्यों में जहाँ कि प्रत्यक्ष जनतन्त्र प्रणालियों का स्थान प्रतिनिधि शासनप्रणाली ने ले लिया है, इस शर्त का निर्वाह नहीं हो सकता। रूसो के अनुसार यदि प्रतिनिधि सरकार सामान्य इच्छा को प्रकट करे तो वह प्रतिनिधि वर्ग की सामान्य इच्छा होगी, सम्पूर्ण समाज की नहीं।

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का रूसो द्वारा तिरस्कार आज बीसवीं शताब्दी में कोई विचित्र लगता है। वास्तव में देखा जाए तो इसका अर्थ स्वयं लोकतन्त्र का तिरस्कार करना है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त सरकार के महत्त्व को कम करता है। रूसो का कहना है कि वर्ग, ट्रेड यूनियन, राजनीतिक दल आदि के अनुसार समाज की सामान्य इच्छा के निर्माण में एक गम्भीर बाधा डालते हैं। आधुनिक काल में व्यक्ति समाज के जीवन में स्वेच्छापूर्ण समुदाय एक महत्त्वपूर्ण स्थान लेते जाते हैं, इस सिद्धान्त के मूल्य और भी कम हो गया है।

1. Cole: "Rousseau" Page 35.

रूसो की परस्पर विरोधी व्याख्याएं

रूसो फ्रेंच क्रान्ति का सबसे अग्रगण्य तथा महानतम बौद्धिक संदेशवाहक था। अपनी सबल एवं मौलिक प्रतिभा की छाप उसने राजनीति, शिक्षा, धर्म, साहित्य सभी पर छोड़ी है। लेन्सन के अनुसार आधुनिक युग को लाने वाले सभी मार्गों के द्वार पर हम उसे खड़ा हुआ पाते हैं।" परन्तु कितनी विलक्षण बात है कि समालोचकों में जितनी मत-विभिन्नता रूसो के विषय में है उतनी कदाचित् ही अन्य किसी दार्शनिक के विषय में रही हो। मार्ले का तो यहां तक कहना है कि सोचना तो उसने कभी सीखा ही नहीं था। यदि बर्क को रूसो का कल्प विकल्प मूल्यहीन दिखाई पड़ा तो काण्ट को उसमें 'बुद्धि के अनुपम गाम्भीर्य' के दर्शन हुए। रूसो एक अत्यधिक विरोधाभासी चिन्तक है। प्रकृति की ओर लौट चलने के उसके आवाहन का अर्थ यह लगाया जाता है कि उन समस्त सुखों को त्याग दिया जाय जिन्हें सभ्यता ने सपरिश्रम प्राप्त किया है। इसके विपरीत कुछ विचारकों की धारणा यह है कि रूसो एक उच्चतर संस्कृति को प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। लास्की मानता है कि रूसो का प्रगति में उत्कट विश्वास था। कुछ व्यक्तियों के मतानुसार रूसो एक पूर्ण व्यक्तिवादी था क्योंकि वह व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहता था। दूसरी ओर कुछ के अनुसार वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के आधीन बना देना चाहता था। एक अन्य लेखक काम्पटेयर का उसके विषय में कहना है कि वह प्रत्येक प्रकार के निरंकुशवाद का सबसे भयंकर मित्र था। वोगॅ (Vaughan) के अनुसार रूसो एक ओर तो राज्य का घोर समर्थक था किन्तु दूसरी ओर व्यक्ति का तीव्र पोषक, और इनमें से किसी भी आदर्श का परित्याग करने को वह तैयार नहीं था। 'डिस्कोर्सेज' में रूसो सम्पत्ति को सारे संकट का मूल कारण मानता है, किन्तु महाकोष में दिये हुए अपने एक निबन्ध में उसे वह एक पवित्र संस्थान बतलाता है। समस्त मनुष्यों के लिए वह सहिष्णुता का उपदेश देता है, किन्तु नास्तिकों का राज्य से बहिष्कार करता है। उसने विचारशील व्यक्ति को पतित प्राणी तक कह कर पुकारा है। एक बार तो वह प्रजातन्त्र का समर्थक है पर दूसरी जगह लोक-तन्त्र का अव्यावहारिक कह कर वह उसका खण्डन भी करता है। रूसो का यह मत है कि जब तक सामान्य इच्छा सम्प्रभुता-सम्पन्न रहती है तब तक इस बात में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सरकार लोकतन्त्री है, कुलीनतन्त्री अथवा राजतन्त्री। वह एक ओर जर्मन आदर्शवाद का पहला विचारक कहा जा सकता है तो दूसरी ओर उसे 'सुपर हिटलर' नामक पुस्तक में फासिज्म और नाजिज्म का जन्मदाता कहा गया है। एक ओर उसने विवेक की आलोचना की है किन्तु दूसरी ओर विवेक को एक पवित्र स्थान भी उसी के दर्शन में मिला है।

रूसो एक व्यवस्थित राजनीतिक विचारक नहीं है। उसने अपने विचारों का विश्लेषण करने में काफी स्थान रिक्त छोड़ा है। यह आलोचना

की जाती है कि जिस विश्व में वह रहता था उसके बड़े राष्ट्रीय राज्यों के लिए उसने विचार नहीं किया। उसके आदर्श छोटे-छोटे नगर राज्यों पर ही लागू हो सकते थे।

रूसो और हॉब्स

हॉब्स और रूसो दोनों ही सामाजिक संविदा सिद्धान्त के मुख्य विचारक हैं पर दोनों में आधारभूत अन्तर पाये जाते हैं। हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकारों का और समझौते का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जिनका रूसो के लेखों में पर्याप्त प्रभाव है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि रूसो के मस्तिष्क में संविदा सिद्धान्त का स्थान केवल गौण है। हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह को करता है, जिसने संविदा में कोई भाग नहीं लिया बल्कि वह उससे बाहर है। किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने आप को सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। ऐसा करने से व्यक्ति जो कुछ देता है वह उस संप्रभुता सम्पन्न समाज का घटक होने के नाते पुनः प्राप्त कर लेता है। इसलिए राज्य में भी वह उतना ही स्वतन्त्र रहता है, जितना कि वह प्राकृतिक अवस्था में था। हॉब्स में यह समर्पण एक बाहर के व्यक्ति को होता है जो प्रजाजन का स्वामी बन जाता है और जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं रहता। हॉब्स यह दावा नहीं कर सकता कि संविदा के उपरान्त भी व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र रह जाता है जितना कि वह पहले था। फिर हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था संघर्षमय है। उसने व्यक्ति को स्वार्थी, लालची और झगड़ालू बतलाया है। परन्तु रूसो की प्राकृतिक अवस्था शान्तिमय है। उसमें नैतिक तथा राजनीतिक मान्यतायें नहीं पाई जातीं। उसके अनुसार मानव की दो मूल प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक अवस्था में थीं—स्वयं को जीवित रखने की इच्छा और दूसरों के साथ सहयोग और सहानुभूति की भावना। रूसो प्रजातन्त्र का समर्थक दिखाई देता है परन्तु वास्तव में वह भी हॉब्स की तरह निरंकुशता का पक्षपाती बन जाता है। रूसो का नश्वर-देव (Leviathan) सम्पूर्ण समाज है, जब कि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति। रूसो में संप्रभुता सम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है जब कि हॉब्स में वे दोनों एक हो गये हैं।

रूसो और लॉक

रूसो और लॉक के चिन्तन में भी इसी तरह के महत्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं। लॉक भी हॉब्स की तरह सामाजिक समझौते का विस्तार पूर्वक वर्णन करता है। उसके समझौता व्यक्तियों में होता है। सरकार समझौते में भाग नहीं लेती इसलिए वह जनता को भागीदार न मानकर उसके लिए एक ट्रस्ट के रूप में है। रूसो के अनुसार समझौता एक काल्पनिक वस्तु है। वह समझौते के अनुसार राज्य की स्थापना के विषय में चिन्तित नहीं दिखाई देता। लॉक का चिन्तन व्यक्तिवादी है। वोगन के अनुसार—"व्यक्तिवाद उसके दर्शन का आधार है। परन्तु रूसो के दर्शन में व्यक्तिवाद दिखावा मात्र है। लॉक का दर्शन

व्यावहारिक और उपयोगी है परन्तु रूसो का दर्शन अव्यवस्थित और विरोधाभासी है। लॉक ने सरकार को ट्रस्ट कहा है, जिसकी शक्तियाँ धरोहर के रूप में हैं। रूसो संप्रभुता-सम्पन्न जनता को अपनी व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियों को किसी प्रतिनिधि निकाय के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है। लॉक के अनुसार व्यवस्थापिका की शक्तियों का प्रयोग साधारणतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए जबकि रूसो संसदात्मक संस्थाओं का विरोध करता है और उस प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करता है, जिसमें न प्रतिनिधि हैं और न दल। उसका यह सिद्धान्त प्राचीन नगर राज्यों पर ही लागू हो सकता है। आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए लॉक के विचार ही अधिक उपयोगी लगते हैं। लॉक संवैधानिक राजतन्त्र का पक्षपाती था। वह निरंकुश राजतन्त्र में विश्वास नहीं करता। दूसरी ओर रूसो सामान्य इच्छा सिद्धान्त के द्वारा लोकप्रिय प्रभुसत्ता का समर्थन करता है परन्तु अन्ततः उसका सामान्य इच्छा सिद्धान्त निरंकुश राजतन्त्र का पोषक बन जाता है।

BIBLIOGRAPHY

1. VAUGHAN : *Studies in the History of Political Theory*
2. ROUSSEAN : *Social Contract.*
3 COLE : *Rousseau*

८

'ग्रीन–एक उदार आदर्शवादी'

(GREEN—A SOBER IDEALIST)

•

—रामलाल वर्मा

•

ग्रीन के आदर्शवाद को उन्नीसवीं शताब्दी के हीगलवादी दार्शनिक उग्रवाद के विरुद्ध एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया कहा जाता है। ग्रीन से पूर्व भी अनियन्त्रित उद्योग-वाद (Lassez faire Polcy) के विरुद्ध उदारवादी विचारधारा का उदय हो चुका था किन्तु यह केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित था। अपने राजनीतिक दृष्टिकोण में यह विचारधारा उदार नहीं थी, अतः इतनी लोकप्रिय नहीं हो पाई। ग्रीन का महत्व इस बात में है कि उसने उस उदारवादी प्रवृत्ति को दो प्रकार से परिवर्तित कर अधिक ग्राह्य बनाया—एक ओर उसने राजनीतिक क्षेत्र में हीगल के सत्तावादी तत्व (Authoritarian element) का विरोध किया, दूसरी ओर उसने उसे इंगलैंड की संवैधानिक परम्पराओं में ढाला। उसने हीगल की इस आलोचना का कि उसमें एक वर्ग के हितों की ही प्रधानता है और हीगल की स्वतन्त्रता विषयक धारणा ऐसी है जो सामाजिक स्थिरता एवं सुरक्षा की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देती। उसने उदारवादी होते हुए भी पूर्ण नियन्त्रण एवं अनियन्त्रित स्थिति की मध्यवर्ती विचारधारा अपनाई। ग्रीन द्वारा किये गये उदारवाद के इस संशोधन को ही उदार आदर्शवाद (Sober Idealism) कहा जाता है। इसे नव हीगलवाद (Neo Hegalism) भी कहा जाता है।

राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य का एक आदर्श चित्र प्रस्तुत करता है। वैसे Ideal का शाब्दिक अर्थ विचार सम्बन्धी होता है—परन्तु प्लेटो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पूर्णता विचार में ही सम्भव है और दृश्य जगत की सभी वस्तुएं अपूर्ण होती हैं। इसीलिये Idealism का सम्बन्ध राज्य के वास्तविक स्वरूप से न होकर सर्वोत्कृष्ट अथवा आदर्श राज्य से है। यही कारण है कि इस दर्शन में राज्य का स्थान दैविक महत्ता तक पहुंच गया है। विचार-प्रधान अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रधानता होने के कारण ही बोसांके ने इसे 'राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त', हॉब-हाउस ने 'आध्यात्मिक सिद्धान्त', जड ने 'निरंकुशतावादी सिद्धान्त' तथा मैकाइवर ने 'एकत्ववादी सिद्धान्त' कह कर पुकारा है। हीगल तथा उनके कुछ जर्मन अनुयायियों के लेखों में इस सिद्धान्त ने जो रूप ग्रहण किया है उसे देखते हुए, आदर्शवाद के उपरोक्त

नाम उचित ठहराये जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने राज्य को पूर्ण विवेक (Perfect reason) का प्रत्यक्षीकरण एवं एक नैतिक संस्था मान कर व्यक्ति को पूर्णतया उसके आधीन बना दिया है। परन्तु उपरोक्त मान्यतायें ग्रीन के उदारवादी आदर्शवाद के लिये उचित नहीं ठहरतीं। यद्यपि आदर्शवाद का उदारवादी एवं व्यावहारिक मध्यमार्गी स्वरूप एक अन्तर्विरोध (Contrad ct on) सा प्रतीत होता है किन्तु ग्रीन ने अपने दर्शन में इन दो प्रवृत्तियों का सुन्दर सामंजस्य कर आदर्शवाद को व्यावहारिक एवं ग्राह्य बनाया। यहाँ ग्रीन अपनी तत्कालीन परिस्थितियों एवं राष्ट्रीय विशेषताओं से प्रभावित लगता है।

जर्मन आदर्शवादियों के विचार एक ऊँचे धरातल पर चल कर दुर्बोध एवं बोझिल इसलिये बन जाते हैं कि उस समय जर्मनी के विभाजित होने के कारण मुख्य समस्या एकीकरण थी। कांट तथा हीगल आदि ने राज्य का एक चरमवादी सिद्धान्त (Absolute theory) प्रस्तुत किया। जर्मन साम्राज्य को संयुक्त एवं सुदृढ़ बनाने के लिये जर्मन आदर्शवादियों ने राज्य की सर्वशक्तिमत्ता एवं सर्व गुण सम्पन्नता का पक्ष लिया और उसे सभी क्षेत्रों में निरंकुश बना कर व्यक्ति को बहुत ही महत्वहीन बना दिया। परन्तु इंगलैंड की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न थीं। उस समय तक इंगलैंड एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित कर चुका था तथा गौरवपूर्ण क्रान्ति द्वारा वहाँ उदारवादी सबल बन चुके थे। अतः ऐसी परिस्थितियों में ग्रीन जैसे अंग्रेज आदर्शवादी के लिये यह सम्भव नहीं था कि वह जर्मन निरंकुशतावादी प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता। अतः उसने अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं के अनुकूल आदर्शवाद को एक उदारवादी स्वरूप दिया। इसके अतिरिक्त ग्रीन के समय प्रचलित उपयोगितावादी विकासवादी एवं व्यक्तिवादी विचारधाराएं जहाँ चरम भौतिकवादी दर्शन (Matenalist c Rationalism) बन चुकी थीं वहाँ दूसरी ओर हीगल का दर्शन चरम आदर्शवादी दर्शन (Extreme Ideal sm) था। स्वभावतः ग्रीन ने व्यावहारिक एवं मध्यमार्गी दर्शन की आवश्यकता प्रतिपादित की।

ग्रीन एक औद्योगिक क्रान्तिकालीन दार्शनिक था। उसने इन परिस्थितियों में हीगल के इस सिद्धान्त को पूर्णतया दोषपूर्ण पाया कि व्यक्ति की परिपूर्णता राज्य में ही सम्भव है। ग्रीन ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के आधार पर यह पाया कि राज्य कारखानों व फैक्टरियों में मजदूरों के शोषण को दूर करने में असमर्थ है। वह उन्हें आत्मविकास की परिस्थितियाँ भी प्रदान नहीं करता था। अतः उसके समाज में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में कोई योगदान नहीं था। एक स्थान पर ग्रीन ने कहा है—
"लंदन के किसी भूखे नागरिक का इंगलैंड की सम्पत्ति में उतना अधिक कोई भाग नहीं है जितना कि एथेन्स की सभ्यता में एक दास का था। इसी तथ्य की प्रतिक्रिया

स्वरूप ग्रीन ने राज्य के स्वयंसाध्य (An end in itself) स्वरूप को अस्वीकार कर दिया और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा-हेतु राज्य की सर्वशक्तिमत्ता पर कुछ सीमायें लगाई हैं।

इस प्रकार ग्रीन जर्मन आदर्शवादियों की भाँति अव्यावहारिक एवं अनुभव शून्य दार्शनिक मात्र (Armchair Philosopher) नहीं था जो केवल कल्पना की उड़ानें भरता, इसके विपरीत उसने अपने दर्शन को ठोस यथार्थ में सम्बद्ध किया है। इस प्रसंग में रूडोल्फ मेज ने कहा है "ग्रीन ने आदर्शवाद की दार्शनिक पतवार को एक बिल्कुल नवीन दिशा की ओर घुमाया और यह दिशा थी उसकी यथार्थोन्मुखी आदर्शवादी दिशा (Sober Idealism)।" यदि ग्रीन की पुस्तक—"Lectureߋon the Principles of Political Obligation" में वर्णित राज्य, स्वतन्त्रता, अधिकार, युद्ध, दण्ड आदि से सम्बन्धित उसके विचारों पर दृष्टिपात किया जाये तो उसका यह यथार्थोन्मुखी उदार आदर्शवादी स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है—

राज्य एवं उसके कार्य

ग्रीन राज्य को मानव चेतना (Human conscience) की उपज मानता है। बार्कर के शब्दों में वह अपनी इस मान्यता के पक्ष में इस प्रकार तर्क देता है—"मानव चेतना स्वतन्त्रता की अपेक्षा रखती है, स्वतन्त्रता के लिये अधिकार आवश्यक हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"[1] अर्थात् ग्रीन मानव चेतना के विकास के लिये स्वतन्त्रता को आवश्यक स्थिति समझता है, परन्तु ग्रीन का स्वतन्त्रता से तात्पर्य केवल कुछ इच्छित एवं करने योग्य कार्यों को करने की शक्ति से है न कि प्रत्येक कार्य को करने की शक्ति से। यद्यपि कांट का भी यही मत था कि मनुष्य के साध्य रूप में बने रहने के लिए उसका स्वतन्त्र रहना आवश्यक है, परन्तु कांट की धारणा यह थी कि मनुष्य स्वतन्त्र तब होता है जब उसकी इच्छा कर्त्तव्य के निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) द्वारा निर्धारित हो। ग्रीन का मत है कि मनुष्य केवल तब स्वतन्त्र कहा जा सकता है जबकि उसकी इच्छा पाने योग्य वस्तु से सम्बन्धित हो और यह निर्धारित करने में राज्य उसकी सहायता करता है। वह ऐसी इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यक्तियों को अधिकार प्रदान करता है। इस प्रकार जहाँ कांट की स्वतन्त्रता की धारणा सत्य से स्वतन्त्र एक नकारात्मक (Abstract) धारणा है वहीं ग्रीन के हाथों में यह विधेयात्मक एवं वस्तुप्रधान स्वरूप ले लेती है। यह उसकी

1. "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights, and righ's demand the state".

—*Barker : 'Political Thought in England'.*

यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति का ही परिणाम है। हीगल भी यद्यपि स्वतन्त्रता की पूर्ण अभिव्यक्ति राज्य में ही सम्भव मानता है, हीगल के अनुसार व्यक्ति स्वतन्त्र तभी कहा जा सकता है जब वह यह अनुभव करे कि राज्य के द्वारा निर्धारित इच्छा ऐसी ही है जैसी कि स्वयं उसके द्वारा निर्धारित होती। परन्तु हीगल अपने इस मत को चरम सीमा तक ले जाता है और व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के आधीन बना देता है। ग्रीन राज्य को मनुष्य की उपयुक्त इच्छाओं की पूर्ति में सहायक मानता है। वह राज्य को स्वयं मानव इच्छा का प्रतिबिम्ब नहीं कहता। इसीलिए उसे उदार आदर्शवादी कहा जा सकता है।

ग्रीन यह भी स्वीकार करता है कि व्यक्ति में अपनी स्वातन्त्र्य भावना की चेतना के साथ ही साथ इस बात की भी चेतना होती है कि अन्य व्यक्तियों का भी समान स्वभाव होने के कारण उन्हें भी उसी की भांति सुविधाओं की आवश्यकता होती है। इसका प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए सुविधाओं की माग करता है और दूसरों की उसी प्रकार की माग के औचित्य को भी स्वीकार करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत मांगों के पीछे समाज की स्वीकृति का संरक्षण तैयार हो जाता है। इन्हें ही दूसरे शब्दों में अधिकार कहा जाता है। ग्रीन के शब्दों में "अधिकार अपने आन्तरिक विकास के लिए व्यक्ति द्वारा बाह्य परिस्थितियों की माग है जिन्हें समाज द्वारा संरक्षण मिलता है।"[1]

ये अधिकार जिन्हें ग्रीन व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में सहायक होने के कारण प्राकृतिक अधिकार कहता है, यदि राज्य द्वारा क्रियान्वित न किये जायें तो नैतिक दावे मात्र रह जायेंगे। अतः अधिकारों को क्रियान्वित करने के लिये सार्वभौमिकतायुक्त राज्य का जन्म होता है। यद्यपि व्यक्ति सामान्यतया सभी अधिकारों की सुरक्षा चाहते हैं किन्तु घृणा, क्रोध, स्वार्थ आदि के आवेश में वे अन्य व्यक्तियों के इन अधिकारों के उपभोग में बाधा डाल सकते हैं। ऐसी परिस्थितियों में राज्य उनके विरुद्ध बल का प्रयोग कर सकता है। परन्तु स्पष्ट है कि इसके मूल में हमारी इच्छा विद्यमान है और इस प्रकार "राज्य का वास्तविक आधार बल न होकर हमारी अपनी इच्छा है।"[2] ग्रीन ने स्पष्टतया कहा है—"समस्त अधिकार एवं कर्त्तव्य, समाज के समस्त संस्थान, यहाँ तक कि राज्य का जन्म भी सामान्य हित की चेतना में होता है।"

1 "Rights are the outer conditions for the inner development of man, protected by the state"

—*Green* : *Lectures on the Principles of Political Obligation*

2 "Will, not force is the basis of state."

—*Green* : *Lectures on the Principles of Political Obligation*

इसी सामान्य हित की चेतना को ग्रीन 'सामान्य इच्छा' कहता है। यद्यपि ग्रीन राज्य के उद्भव के सम्बन्ध में रूसो का समझौता सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता परन्तु वह उसका 'सामान्य इच्छा' सिद्धान्त इस रूप में स्वीकार कर ता है कि राज्य मनुष्यों के सामान्य हित की सिद्धि की इच्छा का फल है। यहां भी ग्रीन का यह सिद्धांत राज्य की उस सामान्य इच्छा का सिद्धांत नहीं है जिसके नाम पर फासिस्टों ने इतने घोर अत्याचार किये, और उसकी एक विकृत व्याख्या कर अल्पमत वालों को कुचला। यहां भी ग्रीन का उदार आदर्शवादी स्वरूप दृष्टिगत होता है। वह सामान्य इच्छा का सम्पूर्ण राज्य के हित के लिये राज्य को निर्देशित करने वाली इच्छा के रूप म प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य को न तो हीगल की भांति दैविक इच्छा की अभिव्यक्ति एवं आत्मचेतनायुक्त नैतिक तत्व मानकर अत्याचार करने की स्वीकृति देता है और न ही उसे सामान्य इच्छा की ओट में अत्याचार करने की स्वीकृति प्रदान करता है।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में ग्रीन का मत है कि राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करवाना है। वह कांट की भांति यह मानता है कि नैतिकता का व्यक्ति के अन्तःकरण से सम्बन्ध होने के कारण राज्य नैतिकता को लागू नहीं कर सकता। परन्तु ग्रीन के आदर्शवादी राज्य का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति की नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करे (To hinder the hinderances) तथा ऐसी परिस्थितियों का सृजन करे जिनमें नैतिकता का विकास हो सके। इस प्रकार वह राज्य को निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों ही प्रकार के कार्य प्रदान करता है। निषेधात्मक कार्यों में अज्ञानता, शराबखोरी आदि को दूर करना जैसे कार्य सम्मिलित हैं और विधेयात्मक कार्यों में शिक्षा की व्यवस्था आदि आते हैं। अतः ग्रीन राज्य को साध्य न मानकर वरन् व्यक्ति की नैतिकता के विकास का साधन समझता है। उसकी राज्य की कल्पना चरमतावादी न होकर बाह्य एवं आन्तरिक दोनों दृष्टियों से सीमित है।

राज्य के विरोध का अधिकार (Right to Resistance)

ग्रीन राज्य को केवल सीमित अधिकार क्षेत्र देने के अतिरिक्त उसके विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को कुछ परिस्थितियों म उचित बताकर भी उसे सीमित बना ता है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति राज्य के प्रति भक्ति इसलिये रखता है क्योंकि वह यह समझता है कि यह सामान्य हित मे सहायक है। परन्तु यदि कोई कानून विशेष सामान्य हित की धारणा के विरुद्ध हो तो व्यक्ति को कुछ दशाओं में राज्य का विरोध करने का भी अधिकार है। किन्तु ग्रीन इसे प्राकृतिक अधिकार के रूप म प्रदान नहीं करता। उसके अनुसार समाज की विरुद्ध व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकारों की धारणा में विरोधाभास है; क्योंकि अधिकार समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का ही

नाम है। वह इस अधिकार को प्रतिबन्धित करते हुए कहता है कि सामान्यतया तो सामान्य हित के विरुद्ध कानून का भी पालन नहीं करना चाहिये क्योंकि वह अधिकारों की उस प्रणाली का एक अङ्ग है जो समाज के 'शुभ' के लिये निर्मित है। एक अङ्ग के लिये सम्पूर्ण व्यवस्था को छिन्न-भिन्न किया जाना उचित नहीं इसलिये ग्रीन ने कहा है "एक व्यक्ति द्वारा एक बुरे कानून को मानने की अपेक्षा उसे तोड़ने से सामान्य हित को अधिक आघात पहुंचता है।" अत: ग्रीन का मत है कि व्यक्ति को एक घृणित कानून का विरोध तभी करना चाहिये जब उससे अधिकारों की समस्त प्रणाली के भ्रष्ट होने की सम्भावना हो एवं उसे रद्द करने के समस्त संवैधानिक साधन विफल हो चुके हों। हीगल एवं कांट के सर्वशक्तिमान राज्य में तो विरोध का यह प्रतिबन्धित अधिकार भी असम्भव है, जैसा कि संबाइन ने कहा है —'हीगल का मस्तिष्क जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न से इतना चिन्तित था कि उसने व्यक्ति को राज्य में विलीन करते समय कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। वह राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान चढ़ा देता है।" अत: राज्य की अवज्ञा के अधिकार को स्वीकार करते समय ग्रीन हिगेलियन न होकर बहुत कुछ व्यक्तिवादी है एवं इंगलिश उदारवाद की छाप उस पर स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

युद्ध का मनोविरय

ग्रीन एक उदारवादी की भांति युद्धविरोधी है एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का समर्थक है। अपने इस सिद्धान्त को वह 'जीवन के अधिकार' की सहायता से सिद्ध करता है। उसकी दृष्टि में युद्ध इस मौलिक अधिकार में बाधक होने के कारण अनुचित है।

ग्रीन युद्ध को राज्य की अपूर्णता एवं आन्तरिक सामंजस्य के अभाव का द्योतक मानता है। वह विवशतापूर्ण परिस्थितियों में भी (उदाहरणार्थ, आत्मरक्षा के लिये किये गये) युद्ध को भी पूर्ण उचित न मान कर एक निर्दयतापूर्ण आवश्यकता से अधिक कुछ नहीं मानता। उसके मत में देश रक्षा के लिये किया गया युद्ध भी एक अनुचित कार्य को रोकने के लिये दूसरा अनुचित कार्य है। उसका मत है कि ज्यों-ज्यों राज्य पूर्णता की ओर अग्रसर होते जायेंगे युद्ध का भी अन्त हो जायेगा। ग्रीन युद्ध को बड़ी मात्रा पर की जाने वाली हत्या (Multitudious murder) कहता है। हीगल का मत है कि युद्ध को हत्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हत्या में एक निश्चित हत्यारा होता है एवं उसका उद्देश्य घृणा एवं विद्वेषयुक्त होता है जबकि युद्ध में ऐसा नहीं होता। परन्तु ग्रीन का मत है कि युद्धभूमि में की जाने वाली हत्याओं का उत्तरदायित्व किसी न किसी व्यक्ति पर अवश्य होता है।

ग्रीन के अनुसार दंड सुधारात्मक इस दृष्टि से होता है कि व्यक्ति अपने को उस दंड का पात्र समझकर पश्चाताप करता है। वह सुधारात्मक इस अर्थ में नहीं हो सकता कि उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य अपराधी का नैतिक सुधार करना हो सके। उसके मत में राज्य का कार्य दुष्टता को दंडित करना नहीं वरन् उसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था के किए गये उल्लंघन के आधार पर अपराधियों को दंडित करना है, जिससे कि अन्य व्यक्ति अपराध करने को प्रोत्साहित न हों। ग्रीन न तो बर्बरतापूर्ण प्रतिशोधात्मक दंड प्रणाली अपनाता है और न ही मनुष्य के गुणों पर अत्यधिक विश्वास कर कोई सुधारात्मक दंड व्यवस्था स्वीकार करता है। मध्यवर्ती निरोधात्मक प्रणाली को अपनाकर वह एक उदार एवं व्यावहारिक आदर्शवादी के रूप में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करता है।

सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति के विषय में भी ग्रीन का आदर्श न तो समाजवादी है और न ही व्यक्तिवादी वह इन दोनों के संतुलित रूप से अपनाता है। वह कांट एवं हीगल की भांति प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्र जीवन अधिकार व प्रयोग के लिए सम्पत्ति को आवश्यक मानता है। उसे वह नैतिक विकास के लिये आवश्यक बतलाता है। परन्तु वह उन दोनों की भांति व्यक्ति को सम्पत्ति का असीमित अधिकार नहीं देता, क्योंकि इससे असमानता, प्रतियोगिता तथा शोषण जैसे दोष उत्पन्न होते हैं ऐसी स्थिति में ग्रीन तुरन्त व्यक्तिवाद से समाजवाद पर आ जाता है और कहता है कि राज्य को सम्पत्ति का यथोचित समान वितरण करना चाहिए। पूर्ण समान वितरण को वह सम्भव नहीं मानता क्योंकि सम्पत्ति का स्वामित्व व्यक्तियों की प्रकृति के अनुकूल निश्चित रूप से भिन्न होगा। परन्तु अनियन्त्रित धनसंचय को भी ग्रीन अवांछनीय बतलाता है और इस तरह एक मध्यमार्गी व्यावहारिक आदर्श प्रदान करता है।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि ग्रीन अपने सामान्य दर्शन में यद्यपि हीगलवादी था, किन्तु व्यावहारिक राजनीति में उसे एक उदारवादी विचारक कहना अधिक उपयुक्त होगा। बार्कर का कहना है कि—'ग्रीन एक ऊँची उड़ान लेने वाला आदर्शवादी तथा ठोस यथार्थवादी था।'[1] यद्यपि कुछ आलोचकों का मत है कि ग्रीन ने पूँजीवाद का पक्ष पोषण किया है और उसकी प्रवृत्ति एक अपूर्ण समाज की यथार्थ स्थिति के आदर्शीकरण करने की ओर है, परन्तु वास्तव में यह उसका दोष नहीं अपितु एक गुण है कि उसने दो प्रवृत्तियों को समन्वित किया। वेपर का मत है कि "ग्रीन की देन यह है कि उसने अंग्रेजों को उस मूल्य पर जो वे देने को तैयार थे, बेन्थमवाद

1. ' Green was a soaring idealist and a sober realist."
—*Barker* : "*Political Thought in England*"

से अधिक संतोष प्रदान करने वाला आदर्श दिया। उसने उदारवाद को एक अभिरुचि के स्थान पर एक विश्वास बनाया और व्यक्तिवाद को नैतिक एवं सामाजिक तथा आदर्शवाद को सुरक्षित एवं ग्राह्य बना कर प्रस्तुत किया।"[1]

BIBLIOGRAPHY

(1) GREEN Lectures on the Principles of Political Obligation
(2) BARKER Political Thought in England
(3) SABINE : A History of Political Theory
(4) Maxey Political Philosophies

1. Here then, is Green's achievement, that he gave to Englishmen, something more satisfying than Benthamism at a price they were prepared to give, that he left liberalism a faith instead of an interest, that he made individualism moral and social and Idealism civilised and safe".—*Waper : "Political Thought", Page 193.*

६

मार्क्सवाद के कुछ पहलू
(SOME ASPECTS OF MARXISM)

•

—कृष्णा भार्गव

•

आधुनिक विश्व-राजनीति के दो विरोधी गुटों में विभक्त होने तथा उनके इस पारस्परिक विरोध से उत्पन्न होने वाली सभी सैद्धान्तिक जटिलताओं के मूल में मार्क्सवाद है। मार्क्स की उत्तरकालीन सभी समाजवादी विचारधारायें या तो मार्क्सवादी (Marxist) हैं या मार्क्स-विरोधी (Anti Marxist) अथवा अर्धमार्क्सवादी (Inasi-Marxist)। यहाँ तक कि समस्त असमाजवादी (Non Socialist) विचारधारायें भी या तो मार्क्स को असत्य सिद्ध करने के अपने प्रयासों में व्यस्त हैं अथवा उसे आंशिक रूप में स्वीकार कर उससे प्रेरणा ग्रहण करती हैं।

मार्क्स ने अठारहवीं शताब्दी में चरम व्यक्तिवाद एवं अहस्तक्षेप नीति (Laisseg Faire) की उच्छृंखल एवं असमानतापूर्ण प्रवृत्तियों से प्रतिक्रिया पाकर उत्पन्न होने वाले समाजवाद को एक महान् जन आन्दोलन का स्वरूप दिया। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मार्क्स ने कोई सर्वथा नवीन और पूर्णतः मौलिक राजनीतिक दर्शन प्रस्तुत किया है। मूलतः उसके मुख्य सिद्धान्त नये नहीं थे किन्तु उसने पुराने विचारों को विशद एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करते हुए उन्हें एक नवीन और प्रभावकारी साँचे में ढालने का प्रयास किया है।[1]

मार्क्स ने फ्युअरबेक से प्रभावित होकर आदर्शवाद का परित्याग किया एवं विश्व के प्रति एक भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाया। उसने हीगल के विचारों में अपने समाजवादी दर्शन का वैज्ञानिक आधार ग्रहण किया। इसी प्रकार उसने पूंजीवाद के समर्थन में अपने युग के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मूल्य सिद्धान्त (Value Theory) को उन्हीं की आलोचना के लिए प्रयुक्त किया। मार्क्स की विशेषता यह है कि उसने समस्त प्राप्य सामग्री को कुशलतापूर्वक संगृहीत कर उसमें सर्वबद्धता और क्रमबद्धता उत्पन्न की और उसे विशिष्ट रूप से एक दार्शनिक ढाँचे में ढालकर श्रमजीवी वर्ग का दर्शन बना दिया। यही कारण है कि विश्व की पीड़ित एवं शोषित जनता का एक बहुत बड़ा भाग अपने त्राता और उद्धारक मार्क्स में धर्म की तरह अन्धी श्रद्धा रखती है

1. *Coker - Recent Political Thought, Chapter II*

एवं उसके कम्युनिस्ट 'मनीफेस्टो' तथा 'दास कैपीटल' को आर्थिक बाइबिल मानकर श्रद्धा और आस्था से देखता है।

शोषित एवं शोषणकारी वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण मार्क्सवाद का स्वरूप केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् आर्थिक अथवा भौतिक भी है। यही कारण है कि मार्क्सवाद में आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों का एक अविच्छेद मिश्रण है जिसके कारण कुछ विद्वान जबकि मार्क्स को विशुद्ध रूप से एक आर्थिक विचारक[1] मानते हैं तो अन्य इसे एक राजनीतिक सिद्धान्तवेत्ता[2] बतलाते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि मार्क्स का 'सर्वहारा समाजवाद' एक अविभाज्य इकाई है और इसके विभिन्न विचार जटिल रूप से एक दूसरे से गुँथे हुए तथा इस तरह अन्योन्याश्रित हैं कि इनमें से किसी भी एक विचार को दूसरे की तुलना में कम महत्वपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता। यहाँ पर हम मार्क्सवाद के चार प्रमुख सिद्धान्तों अथवा पहलुओं की विवेचना करेंगे :—

(१) इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (Materialistic Interpretation of History)

(२) द्वन्द्ववादी भौतिकवाद (Dialectical Materialism).

(३) वर्ग संघर्ष (Class War).

(४) पूँजीवाद का विनाश एवं समाजवाद की स्थापना का कार्यक्रम।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

समाजवाद को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय मार्क्सवाद को दिया जाता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या वह आधार है जिसके द्वारा मार्क्स ने समाजवाद को कल्पनावादी पृष्ठभूमि से स्वतन्त्र कर एक वैज्ञानिक भावभूमि पर खड़ा किया है। मार्क्स का मत है कि सामाजिक पुनर्निर्माण की योजनाओं में राबर्ट ओवन, साइमन आदि कल्पनावादियों को किंचित सफलता केवल इसीलिये नहीं मिली कि उनका समाजवाद प्राचीन व्यवस्थाओं के किसी स्पष्ट एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन पर आधारित नहीं था। मार्क्स ने उनकी इस विफलता से शिक्षा ग्रहण की और अपने चिन्तन में इतिहास का एक दर्शन (Philosophy of History) प्रस्तुत करने की चेष्टा की।

मार्क्स से पूर्व इतिहास की व्याख्या की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित थीं जैसे— दैविक व्याख्या, राजनीतिक व्याख्या तथा हीगल की विचारों के आधार पर दार्शनिक

1. "Marx was primarily an economic theorist and was very little concerned with political ideology as such."
—Maxey : Political Philosophies, Page 579

2. "There are some sociologists who think there will be no harm to Marxian principles if we take away his economic ideas."
—Laidler : Social & Economic Movements.

व्याख्या। मार्क्स इन सबको अस्वीकार करता है क्योंकि उसके अनुसार ये सब इतिहास की व्याख्या व आंशिक तथा दोषपूर्ण आधार प्रदान करती है। इन सब से भिन्न उसने 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' अथवा कौन के शब्दों में 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' प्रस्तुत की है। वे वस्तुएं जिन्हें वह इतिहास के विकास और निर्धारण में *क्रियाशील निर्णायक समझता है, केवल उत्पादन की शक्तियाँ (Mode of Production)* है जैसा कि हैलोवल (Hallowel) ने लिखा है —

"मार्क्स के अनुसार इतिहास न तो ईश्वर एवं व्यक्ति में संघर्ष की कहानी है, न ही आध्यात्मवाद व भौतिकवाद के विचारों के संघर्ष का वर्णन है, वरन् उसने उसे मनुष्य द्वारा अपने आर्थिक सदया की प्राप्ति का उल्लेख मात्र माना है।"[1] मार्क्स का मत था कि विचार अथवा सांस्कृतिक शक्तियाँ आर्थिक परिणामों का कारण नहीं वरन् उत्पादन के साधनों की उत्पत्ति हैं। उसके अपने ही शब्दों में "जीवन के भौतिक साधनों के उत्पादन की पद्धति ही जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की स्थिति को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती वरन् उसकी सामाजिक स्थिति, उसकी चेतना को निर्धारित करती है।"[2] मार्क्स की धारणा है कि मानव इतिहास के तीनों काल इस बात के उदाहरण हैं कि उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली में परिवर्तन होते ही तदनुरूप धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन हुए हैं। उदाहरण के लिए ग्रीक सभ्यता के कृषि प्रधान होने के कारण राजनीतिक शक्ति भूमिपतियों के पास थी। मध्ययुग का अन्त निकट आने पर जब सामन्तवाद पतन की ओर जाने लगा तो इसके साथ ही समस्त सामन्तवादी राजनीतिक संस्थायें नष्ट होगई एवं नवीन राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ। सामन्तवाद पूंजीवाद एवं समाजवाद इसी प्रकार के परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले क्रमिक सोपान हैं।

मार्क्स के इस ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि सामाजिक सम्बन्ध इतने जटिल होते हैं कि कोई भी एक कारण उनका आधार नहीं हो सकता। यदि मार्क्स के इस कथन को सही मान लिया जाय कि एक समाज की कानूनी, राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति उसकी आर्थिक प्रणाली से ही निर्धारण प्राप्त करती है तो उसके पास इस बात का कोई उत्तर नहीं है कि समान आर्थिक प्रणाली अपनाने वाले राज्य सर्वथा भिन्न सांस्कृतिक व सामाजिक विचारधाराओं को क्यों स्वीकार करते हैं।

1 Hallowell "Main Currents in Modern Political Thought"

2 Marx 'Communist Manifesto'—"It is not the consciousness of man that which determines their existence, but on the contrary, it is their social existence which determines their consciousness".

एन्जिल्स ने इन आरोप का उत्तर देते हुए लिखा है कि "यद्यपि हमारे शिष्यों ने आर्थिक कारकों पर उचित और अधिक जोर दिया है पर यह इसलिये कि हमारे विरोधी इसे अस्वीकार करते हैं। इसके विरोध के लिए हम इसके आधारभूत तत्वों पर इतना अधिक बल देने के लिए विवश हुए हैं। ऐतिहासिक प्रक्रिया के अन्य तत्वों की परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया की समुचित व्याख्या के लिए न तो हमारे पास समय था और न स्थान है।"

इस प्रकार मार्क्स ने आर्थिक कारकों को इतिहास का एकमात्र आधार न मानकर सर्वप्रमुख आधार माना है। यह मार्क्स की राजनीति दर्शन को एक उपयोगी देन है। आर्थिक कारकों के इस केन्द्रीय महत्व को स्वीकार किये बिना इतिहास का कोई भी सही अध्ययन आज असम्भव सा लगता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आकस्मिक रूप से नहीं होते वरन् एक द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार होते हैं। अतः इतिहास की आर्थिक व्याख्या को यदि सामाजिक परिवर्तन का एक सिद्धान्त कहें तो उसके अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उसका एक यन्त्र अथवा साधन है जिसके द्वारा ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया एक अवस्था से दूसरी अवस्था में प्रवेश करती है।

मार्क्स ने यह द्वन्द्वात्मक पद्धति यद्यपि हीगल से ग्रहण की तथापि दोनों में गम्भीर अन्तर है जैसा कि मार्क्स ने स्वयं कहा है—"मैंने जब हीगल का अध्ययन आरम्भ किया तो उसकी द्वन्द्वात्मकता शीर्षासन कर रही थी, मैंने उसे केवल अपने पैरों के बल खड़ा करने की कोशिश की है।" हीगल के अनुसार प्रकृति–जगत दैविक आत्मा (Divine Spirit) या निरपेक्ष (Absolute Idea) की ओर बढ़ने वाली एक प्रक्रिया मात्र है। प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति इस विश्व आत्मा की अपर्याप्त अभिव्यक्ति है और विकास की एक आन्तरिक आवश्यकता के कारण अपने विरोधी विचार को जन्म देती है। परन्तु विरोध की यह अवस्था स्थाई नहीं होती अतः एक सामंजस्य की ओर बढ़ती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि निरपेक्ष विचार के रूप में पूर्ण सत्य प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार हीगल इस परिणाम पर पहुँचा कि इतिहास घटनाओं की शृंखला मात्र नहीं है वरन् वह विकास की एक निश्चित गतिशील प्रक्रिया है और विरोध उसका मुख्य प्रेरक तत्व है। मार्क्स हीगल की इस धारणा से काफी प्रभावित हुआ था किन्तु उसके आदर्शवाद में उसे विश्वास नहीं था। वह विचारों (Ideas) के स्थान पर पदार्थ (Matter) को अन्तिम वास्तविकता मानता था। उसने अपने इस भौतिकवाद का समन्वय हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से स्थापित किया। एक ऐसा समाज जिसमें एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण न हो उसने विकास की इस

प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य माना। उनके अनुसार मानव सभ्यता के विकास के Thesis, Antithesis और Synthesis आर्थिक वर्ग हैं, अमूर्त विचार नहीं।

मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आर्थिक निर्णयवाद (Economic Determinism) के रूप में भी प्रस्तुत करता है। उसका मत है कि आर्थिक शक्तियाँ मनुष्य की इच्छा से स्वाधीन रहते हुए भी इतिहास के प्रवाह को निर्धारित करती हैं। सामन्तवाद, पूंजीवाद एवं समाजवाद इस विकास के क्रमिक सोपान हैं यद्यपि विकास एक असम्बद्ध प्रक्रिया नहीं है वरन् उसके समस्त सोपान एक दूसरे पर आधारित हैं— पूंजीवाद को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम उसे ऐतिहासिक विकास की एक प्रक्रिया में सामन्तवाद से समाजवाद के बीच की एक संक्रमण अवस्था के रूप में न देखें। मार्क्स अपने ऐतिहासिक निर्णयवाद के आधार पर ही इस एक तथ्य को अटल सत्य मानता था कि पूंजीवाद का अवसान निश्चित रूप से समाजवाद में होगा। उसकी यह धारणा थी कि पूंजीवाद अपने अन्दर अपने विनाश के बीज उसी प्रकार रखता है जिस प्रकार हीगल की थीसिस अपने अन्दर एन्टीथीसिस के तत्व लेकर चलती है। उसका मत था कि पूंजीवाद थीसिस और उसके एन्टीथीसिस सर्वहारावर्ग के बीच संघर्ष का परिणाम एक साम्यवादी समाज का जन्म होगा जिसमें न कोई वर्ग होगा और न कोई दमनकारी शक्ति। मार्क्स द्वारा मानव इतिहास के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में एन्जिल्स का मत है कि "मार्क्स को इस सिद्धान्त ने इतिहास के लिए वही कार्य किया जो डार्विन के सिद्धान्त ने जीव विज्ञान के लिए किया था।"[1]

परन्तु आलोचकों का मत है कि आदर्शवाद में सम्बद्ध रह कर तो द्वन्द्वात्मक दर्शन की फिर भी कुछ मान्यता सम्भव हो सकती है किन्तु भौतिकवाद के साथ सम्बद्ध होने पर उसमें कोई महत्वपूर्ण सत्य शेष नहीं रह जाता। भौतिक वस्तुओं में सम्बन्ध या तो समानता के होते हैं अथवा अन्तर के और वे एक दूसरे की विरोधी कभी नहीं हो सकती। पानी का गैस का विरोधी कहना निरर्थक है। आलोचकों का यह भी मत है कि मार्क्स का ऐतिहासिक निर्णयवाद आकस्मिक घटनाओं के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता। वास्तव में मार्क्स इतिहास की सामान्य दिशा को पूर्व निर्धारित मानता है और छोटी-मोटी घटनायें उसकी दृष्टि में अपवाद स्वरूप हैं।

वर्ग-संघर्ष

मार्क्स के अनुसार न केवल विभिन्न प्रकार की आर्थिक प्रणालियों में ही विरोध पाया जाता है वरन् एक ही प्रकार की आर्थिक प्रणाली में भी विभिन्न विरोधी वर्गों का

1. Engels : "This proposition in my opinion is destined to do for history what Darwin's theory has done for biology."-Quoted by Laidler in 'Social & Economic Movements".

अस्तित्व होता है जो परस्पर संघर्षरत रहते हैं। इतिहास के राष्ट्रों के युद्धों एवं राजाओं के कारनामों का लेखाजोखा न मानकर मार्क्स उसे विरोधी वर्गों के संघर्षों की शृंखला बतलाता है। इतिहास का निर्माण करने वाले सामाजिक आन्दोलन उसकी दृष्टि में वर्ग-आन्दोलन हैं। प्रत्येक काल में समाज दो विरोधी वर्गों में विभक्त रहता है—एक विशेषाधिकार प्राप्त उत्पादन के स्वामियों का छोटा सा वर्ग (Haves) तथा दूसरा श्रमिकों का Haves जैसा कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थ कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (Communist Manifesto) में कहा है—

"प्राचीन रोम में कुलीन सरदार एवं साधारण मनुष्य एवं दास थे। मध्ययुग में सामन्त, सरदार तथा सेवक थे और आधुनिक समाज पूंजीवाद तथा श्रमिक वर्ग में विभक्त है। इसमें कभी गुप्त व कभी खुल्लमखुल्ला निरन्तर वर्ग युद्ध चलता रहता है।"

मार्क्स के अनुसार इन दोनों वर्गों में संघर्ष का कारण परस्पर विरोधी हित है। एक वर्ग का लाभ दूसरे वर्ग की हानि करके ही सम्भव है। पूंजीपति श्रमिकों से अधिक काम लेकर उन्हें कम वेतन देकर स्वयं लाभ कमाते हैं (Surplus Value)। इसके विपरीत श्रमिक वर्ग का हित इसमें निहित है कि उसे उसके श्रम का अधिकतम प्रतिफल मिले। श्रमिकों के अधिक संख्या में होने पर भी पूंजीपति यह शोषण करने में इसलिये सफल होते हैं कि मजदूरों का श्रम नाशवान होता है, पर पूंजीपतियों के साथ ऐसी कोई समस्या नहीं होती। वे प्रतीक्षा करके श्रमिकों को झुकने के लिए विवश कर सकते हैं।

पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग के बीच विरोध का एक अन्य कारण मार्क्स यह भी बतलाता है कि पूंजीपति न केवल आर्थिक जीवन पर ही नियन्त्रण रखते हैं बल्कि सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं को भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करने की कोशिश करते हैं। सम्पत्तिविहीन वर्ग भी इन संस्थाओं और प्रक्रिया में भाग लेना चाहता है अतः प्रत्येक समाज में इनके नियन्त्रण के लिए वर्गों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। मार्क्स के अनुसार भूमिपति एवं कृषक वर्ग के बीच संघर्ष इसी प्रकार का था और इसने सामन्तवादी व्यवस्था की जड़ें हिलादीं। आधुनिक समय में पूंजीपतियों एवं वर्ग चेतना से भरे मजदूरों के बीच चलने वाला संघर्ष भी पूंजीवाद की जड़ें खोखली कर रहा है और इसका अन्तिम परिणाम श्रमिक वर्ग की विजय में होगा। यह स्वयं एक संक्रान्ति की अवस्था होगी और अन्त में समस्त वर्ग नष्ट हो जायेंगे और वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी।

यद्यपि मार्क्स की यह धारणा सत्य है कि समाज में निरन्तर वर्गों का अस्तित्व रहा है परन्तु यह वर्ग सदैव आर्थिक वर्ग ही रहे हैं यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता। मध्यकालीन इतिहास के एक महत्वपूर्ण विषय पोप एवं सम्राट के बीच चलने

वाला संघर्ष शासक वर्ग के आन्तरिक विरोधों का उदाहरण कहा जा सकता है, परन्तु उसे शोषक एवं शोषित वर्ग के बीच का संघर्ष कहना संदेहास्पद होगा। अतः यह कहना भी उचित नहीं माना जा सकता कि श्रमिक वर्ग की विजय के पश्चात् समस्त वर्ग संघर्षों का सदैव के लिए अन्त हो जावेगा।

पूंजीवाद का अन्त तथा साम्यवाद की स्थापना का कार्यक्रम

मार्क्स के समस्त सिद्धान्तों विशेषतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्गसंघर्ष का उद्देश्य यही सिद्ध करना था कि वर्गचेतना एवं क्रान्तिकारी श्रमजीवी वर्ग अपने पूंजीवादी विरोधियों पर अन्तिम विजय प्राप्त कर उस साम्यवादी समाज की स्थापना करेगा, जिसमें 'प्रत्येक को आवश्यकतानुसार दिया जावेगा एवं योग्यतानुसार काम लिया जावेगा।' अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो में जिसे लास्की ने समस्त काल का एक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी अभिलेख' कहा है और जिसकी तुलना फ्रांस की अधिकार घोषणा, अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा (American Declaration of Independence) एवं (French Declaration of Rights) से की जाती है। मार्क्स ने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की है जिसे अपनाकर श्रमजीवी वर्ग अपना ध्येय शीघ्रता से प्राप्त कर सकते हैं। वैसे मार्क्स के मत में इस विधि को न अपनाये जाने पर भी पूंजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, क्योंकि वह स्वयं में अपने विनाश के बीज रखता है। यह इस बात से स्पष्ट है कि पूंजीवाद ने उत्पादन तथा विनिमय के महाकाय साधनों को जन्म दिया है। पर वह उनको नियन्त्रित करने में सर्वथा असमर्थ है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन के कारण बार बार उत्पन्न होने वाले आर्थिक संकट तथा गिरती हुई लाभ दरों के कारण अविकसित देशों में पूंजी लगाना अथवा उसे नष्ट कर देना आदि घटनायें पूंजीवाद की आत्मघातक आन्तरिक अस्थिरता की सूचक हैं। विकास के साथ पूंजीवाद की उपयोगिता का ह्रास उसमें पाये जाने वाले इन्हीं विरोधाभासों के कारण हुआ है।

पूंजीवादी उत्पादन की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की ओर होती है और प्रतियोगिता के माध्यम द्वारा बड़े व्यापारी छोटे व्यापारियों को समाप्त कर देते हैं। फलतः उत्पादन के साधन थोड़े-से बड़े पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हो जाते हैं। ये ही बड़े बड़े कारखाने खोलते हैं और उनमें मजदूर वर्ग की संख्या दिनादिन बढ़ने लगती है। बड़े बड़े औद्योगिक नगर केन्द्रों का जन्म होता है और वहां भी हजारों मजदूर छोटे-बड़े क्षेत्रों में रहने लगते हैं। इस स्थिति में इनमें स्वभावतः पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होने हैं और अपनी कठिनाइयों एवं आवश्यकताओं के प्रति एक सजगता आती है। परिणामस्वरूप सभी मजदूर मिलकर पूंजीपतियों के विरुद्ध अपने संगठन बनाने लगते हैं और संघर्ष एक निरन्तर तथा ऊंचे स्तर पर चलने लगता है। यह संघर्ष इस स्थिति में

व्यक्तिगत पूंजीपतियों के विरुद्ध न रह कर अन्ततः पूंजीवादी प्रणाली के विरुद्ध बन जाता है और शनैः शनैः उसमें उग्रता आने लगती है।

पूंजीवाद का दूसरा विरोधाभास यह है कि पूंजीपति अपनी आवश्यकताओं के लिये मशीनों, यातायात एवं संवादवाहन के साधनों का विकास करते हैं, परन्तु यह सब अन्तिम रूप में श्रमिकों की वर्ग चेतना और संगठन में सहायक सिद्ध होते हैं। मशीनों द्वारा उत्पादन किया जाने के कारण श्रमिक अपने व्यक्तिगत नैतिक गुणों को खोने लगते हैं। उनकी बढ़ती हुई असमानता तथा गिरता हुआ चरित्र श्रमिकों में वर्ग चेतना का उन्मेष करता है। द्रुतगति से विकसित होते हुये परिवहन तथा यातायात के साधन संसार भर के श्रमिकों में विचार विनिमय सम्भव बनाने लगते हैं और इस प्रकार वर्गसंघर्ष जो पहले स्थानीय था, धीरे-धीरे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर विश्वव्यापी क्रान्ति का जन्म देता है।

पूंजीवाद की जड़ों को खोखला करने वाला दूसरा विरोधाभास है उसकी श्रमिक का दमन और उनके कष्टों को बढ़ाने की प्रवृत्ति। लैडलर (Laidler) ने इसे (Theory of accumulation of Wealth and Misery) पूंजी और पीड़ा का संग्रह सिद्धान्त कहा है। पूंजीवाद की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है कि "पूंजीवाद में एक सिर पर पूंजी का जमाव, दूसरे सिरे पर कष्ट, दासता एवं अज्ञानता की शृंखला का जन्म देता है।"[1] यह श्रमिकों में इस प्रणाली के विरुद्ध तीव्र असन्तोष उत्पन्न करता है और वे क्रान्तिकारी बनने लगते हैं। कोकर ने पूंजीवाद के इन विरोधाभासों का इन शब्दों में स्पष्ट किया है।

"पूंजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या बढ़ाती है, उन्हें संगठित समूहों में एक साथ लाती है, उनके परस्पर में मिलने जुलने के साधन प्रदान करती है और उन्हें अधिकाधिक शोषण द्वारा सगठित विरोध के लिये उत्प्रेरित करती है।"[2]

परन्तु मार्क्स ने केवल पूंजीवाद के इन विरोधाभासों की ओर ही ध्यान आकर्षित नहीं किया वरन् वह कार्यक्रम भी दिया है जिसे अपनाकर मजदूर लोग अपने आन्दोलन को एक स्वचालित आर्थिक संघर्ष में बदल सकते हैं। मार्क्स का यह कार्यक्रम विकासवादी एवं क्रान्तिकारी (Evolutionary and Revolutionary) दोनों प्रकार का है। मार्क्स घोषणा करता है कि—

"श्रमिक वर्ग द्वारा क्रांति में पहला कदम श्रमजीवी वर्ग को शासक वर्ग के पद

1. "Accumulation of wealth at one pole is, therefore, at the same time accumulation of misery, slavery, and brutality at the opposite pole."—Laidler : Social and Economic, Movements
2. Coker : Recent Political Thought, Chapter 2, Vol, Part 1.

पर प्रतिष्ठित करना तथा लोकतन्त्र के युद्ध को जीतना होगा।" एक लोकतन्त्री राज्य में लोकतन्त्रात्मक उपायों द्वारा विजय पाने के अनेक उपाय हैं—जैसे एक राजनीतिक दल बनाना, निर्वाचक मंडल से अपील करना, राष्ट्रीय संसद में बहुमत प्राप्त करना इत्यादि। मार्क्स चाहता है कि इन साधनों से प्राप्त समस्त शक्ति का प्रयोग मजदूरों द्वारा धीरे-धीरे पूंजीवादी वर्ग से समस्त पूंजी को छीनने एवं उत्पादन के समस्त साधनों को श्रमजीवी वर्ग के हाथों में केन्द्रित करने के लिये किया जाना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि पूंजीवाद के ध्वंस तथा पूंजी के समाजीकरण की प्रक्रिया क्रमिक होगी और पूंजीवाद एक ही चोट में समाप्त नहीं होगा।

परन्तु मार्क्स ने इस सम्भावना पर भी विचार किया है कि जो पूंजीपति इतनी दृढ़ता से जमे हुये हैं, श्रमिक वर्ग को शायद ही संवैधानिक साधनों द्वारा विजय प्राप्त करने दें। मार्क्स की धारणा थी कि ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों को संगठित शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा और क्रान्ति आवश्यक अथवा अवश्यम्भावी हो जायेगी। ऐसा कहा जाता है कि मार्क्स को क्रान्तिकारी विचारों की प्रेरणा इंगलैंड के चार्टिस्ट आन्दोलन से मिली। अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने में सहायक होने वाले मजदूरों के प्रत्येक कदम को उसने उचित बतलाया और इसी संदर्भ में मार्क्स के हिंसा और क्रान्ति के सिद्धान्त उत्पन्न हुए।

परन्तु मार्क्स के मत में क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद के विनाश के पश्चात् भी साम्यवाद की तुरन्त स्थापना सम्भव नहीं हो सकती। अतः इस बीच श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही का एक संक्रमण काल होगा। मार्क्स की इस अवस्था में पुरानी व्यवस्था की कुछ विशेषतायें बनी रहेंगी। उदाहरण के लिए मार्क्स वर्ग राज्य का विरोधी है, परन्तु उसकी इस संक्रमण अवस्था में वर्ग राज्य विद्यमान रहेगा फिर भी मजदूरों की तानाशाही वाले मार्क्सवादी राज्य में मुख्य रूप से दो महत्वपूर्ण अन्तर आजायेंगे।

प्रथम पुराने पूंजीवादी राज्य में अल्पसंख्यक राजनीतिक शक्ति का प्रयोग बहुसंख्यकों की सम्पत्ति के हरण के लिए करते थे पर यहाँ अल्पसंख्यक न्यायपूर्ण वितरण के लिये राज्य की शक्ति का प्रयोग करेंगे। दूसरा अन्तर यह होगा कि जहाँ पुराने पूंजीवादी राज्य का उद्देश्य वर्गभेद को बनाये रखना और सम्पत्तिशाली वर्ग की सुरक्षा करना था वहाँ श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही वर्गभेदों को मिटाने का प्रयत्न करेगी और ऐसा करने की प्रक्रिया में वह स्वयं अपना भी अन्त कर देगी। मजदूर अथवा सर्वहारा वर्ग जब राजनीतिक शक्ति द्वारा समस्त पूंजीपतियों एवं पूंजीवादी प्रवृत्तियों का विनाश करने में समर्थ हो जायेगा तो केवल श्रमजीवी वर्ग का ही अस्तित्व शेष रहेगा और शेष अन्य वर्ग ही नहीं रहेंगे, तो एक विशिष्ट दमनकारी शक्ति की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और वर्ग संगठन के रूप में राज्य धीरे धीरे अन्तर्ध्यान हो जायेगा। अतः मार्क्स की परिकल्पना का भावी समाज क्योंकि वर्गहीन है अतः वह राज्यहीन भी रहेगा।

इस संदर्भ में इतिहासकार सैबाइन का मत है कि मार्क्स के दर्शन में श्रमिक वर्ग की अन्तिम विजय के अटल विश्वास को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके मत में वर्गहीन समाज की कल्पना क्रान्तिकारी दल को दृढ़ता एवं प्रेरणा प्रदान करने के लिये एक प्रकार की गल्प (Myth) है और उसका यह आदर्श यूरोपियन समाजवादियों से कोई कम कल्पनावादी (Utopia) नहीं है।

मार्क्स की राज्य सम्बन्धी धारणा के विषय में यह कहा जाता है कि वह जिस राज्य का चित्रण करता है उसके सर्वोत्तम स्वरूप का विवरण नहीं देता। निस्सन्देह यह तो सत्य है कि इतिहास में शासकों ने कभी-कभी एक सीमित समूह के संकुचित हितों की सिद्धि का प्रयत्न किया है किन्तु ऐसे उदाहरणों के आधार पर राज्य के सिद्धांत का निर्माण करना उतना ही अनुचित होगा जितना कि चोरों और डाकुओं के कुकृत्यों के आधार पर एक मानव के सिद्धांत की रचना करना। यद्यपि मार्क्स का यह सिद्धांत उन्नीसवीं शताब्दी के शक्तिवादी राज्य के लिये ठीक कहा जा सकता है परन्तु बीसवीं शताब्दी के कल्याणकारी राज्य पर इसे आरोपित करने में स्वयं मार्क्स को भी काफी कठिनाई आयेगी।

यह भी कहा जा सकता है कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी भ्रान्त सिद्ध हुई है कि पूंजीवाद पतन की ओर अग्रसर हो रहा है बल्कि ऐतिहासिक सच तो यह है कि वह दिनोंदिन सुदृढ़ बनता जा रहा है। अपने को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने में पूंजीवाद ने एक अद्भुत नमनीयता और लोच का परिचय दिया है जबकि मार्क्स ने एक वैज्ञानिक की भांति केवल तत्कालीन परिस्थितियों का विश्लेषण कर उसके भविष्य में बड़े कठोर निष्कर्ष निकाले हैं। उन्नीसवीं शताब्दी की पूंजीवादी परिस्थितियों में उत्पादन क्षमता में द्रुतगति से विकास हो रहा था परन्तु मजदूरों की सुख-सुविधायें नहीं बढ़ रही थीं। इसके कारण अनेक आन्दोलन हुये। ऐसी परिस्थितियों में मार्क्स का इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक ही था कि पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ मजदूरों का संकट बढ़ता जायेगा और असन्तुष्ट मजदूर एक राजनीतिक आन्दोलन करेंगे, जिसके फलस्वरूप पूंजीवादी प्रणाली तहस नहस हो जायेगी।

मार्क्स की चाहे कुछ भी दुर्बलतायें रही हों पर इतना स्पष्ट अवश्य है कि उसके दर्शन ने समस्त विश्व के विचारकों को राजनीति की कुछ मूल समस्याओं के प्रति आकर्षित किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसने पूंजीवाद की कुछ ठोस आलोचनायें सामने रखी हैं। समाज के एक विशाल जनसमूह अथवा पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है तथा अपने भावी समाज की जो कल्पना दी है उसे प्राप्त करने के सम्भव साधनों के लिए भी विवादास्पद सुझाव रखे हैं। ये सब विशेषतायें मार्क्सवाद को एक अत्यन्त ठोस एवं तथ्यपूर्ण सिद्धान्त बना देती हैं और इसी कारण

सभी भावी समाजवादी विचारक उनके सिद्धान्तों द्वारा प्रभावित हुये हैं जैसा कि अमेरिकन समाजवादी Morris Hillguit ने कहा है—

"मार्क्सवाद आज भी समस्त समाजवादी दलों का मान्य सिद्धान्त है और प्रत्येक दल आधुनिक समाजवादी आन्दोलन के संस्थापक के सैद्धान्तिक तत्वों को सचाई से ग्रहण करने का दावा करता है और अपने विरोधी समाजवादी दलों पर आक्षेप करता है कि उन्होंने उसके मूल सिद्धान्त का त्याग कर दिया है।"

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद न केवल एक विचारधारा अथवा आन्दोलन है वरन् एक जीवनदर्शन भी है जो कुछ नये मूल्यों एवं आदर्शों को लेकर चलता है। मार्क्स के ये मूल्य चूंकि परम्परागत उदारवादी मूल्यों से मेल नहीं खाते अतः स्वाभाविक है कि वर्तमान संसार में कुछ लोग उसे एक उद्धारक के रूप में देखें तथा कुछ अन्य एक संहारक के रूप में।

BIBLIOGRAPHY

COCKER : *Recent Political Thought*
EBENSTEIN : *Today's Isms*
MAXEY : *Political Philosophies*
LAIDLER : *Social and Economic Movements*
SABINE : *History of Political Theory*

मार्क्सवाद के रूसी एवं चीनी संस्करण

(RUSSIAN AND CHINESE VERSIONS OF MARXISM)

—शकुन्तला राय

मार्क्स के सर्वाधिक स्पष्ट एवं विश्लेषणवादी विचारक होने के बावजूद भी मार्क्सवाद ने जितने परिवर्तित एवं संशोधित रूप ग्रहण किये हैं तथा उसका जितना विश्लेषण हुआ है, राजनीति दर्शन के इतिहास में शायद ही किसी अन्य विचारधारा का हुआ हो। परन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं कि मार्क्सवाद का यह भावी परिवर्तन मार्क्स के विचारों में किसी सैद्धान्तिक कमी की पूर्ति के लिये हुआ है। इसका वास्तविक कारण तो यह था कि मार्क्स ने केवल तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर ही अपना दर्शन निर्मित किया था और सामाजिक एवं आर्थिक विकास की भावी प्रवृत्तियां उसकी विवेचना में समुचित स्थान नहीं पा सकीं। अतः कालान्तर में उसके विचारों को अपनाते समय उनमें संशोधन एवं प्रक्षेपण किया जाना स्वाभाविक ही था। बर्न्स (Burns) ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मार्क्स के बाद राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन आये वे इतने त्वरित थे कि उसके बताये हुए उपाय नवीन परिस्थितियों पर लागू नहीं हो सके।[1]

मार्क्स के जीवनकाल में ही उनके विचारों की व्याख्या के सम्बन्ध में मतभेद प्रकट होने लगे थे और स्वयं मार्क्स को यह घोषणा करनी पड़ी थी कि वह पूर्ण मार्क्सवादी नहीं है। मार्क्स के बीसवीं शताब्दी में होने वाले विश्लेषण के अन्तर्गत कुछ विचारधाराएं तो ऐसी हैं जिन्हें निश्चित रूप से मार्क्सवादी तो नहीं कहा जा सकता किन्तु अपने मूल विचारों के लिये वे मार्क्स की निश्चित रूप से ऋणी अवश्य हैं। उदाहरण के लिये गिल्ड समाजवादी एवं संघवादी मार्क्स के वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास करते थे। संघवादियों ने उसके क्रान्तिकारी पहलू को भी अपनाया उसी प्रकार इंगलैंड के फेबियनवादी मार्क्स द्वारा की गई पूंजीवाद की आलोचना के सभी प्रमुख पहलुओं को स्वीकार करते हैं।

इसके पश्चात् बर्नस्टीन आदि विचारकों की गणना की जा सकती है, जिनकी

1. 'Political and economic 'conditions had changed so radically since Marx that the remedies he proposed no longer conformed to disease." —Burns : Ideas in Conflict page 146.

मान्यता थी कि बदलती हुई परिस्थितियों में मार्क्स के कुछ सिद्धान्त असत्य सिद्ध हो गये हैं। अतः यदि मार्क्स को जीवित रखना है तो उसके दर्शन में संशोधन करना आवश्यक है। इस प्रकार के मार्क्स के अनुयायियों को संशोधनवादी (Revisionists) कहा जाता है।

परन्तु इस दृष्टिकोण के विपरीत सोवियत संघ एवं चीन में मार्क्स के जो अनुयायी हैं वे सम्पूर्ण मार्क्सवाद को पूर्णतया सत्य समझते हैं और उसे अपने अपने देशों में व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। इनके अन्तर्गत लेनिन, स्टालिन एवं माओत्से तुंग आते हैं। रूढ़िवादी मार्क्सवाद (Orthodox Marxism) को व्यावहारिक स्वरूप देने की प्रक्रिया में इन्होंने उसमें समुचित परिवर्तन किये हैं, किन्तु इनका दावा है कि मार्क्सवाद की मूल धारणायें ज्यों की त्यों सुरक्षित रह सकी हैं। इन अभिनव मार्क्सवादियों (Neo-Marxists) का कहना है कि मार्क्सवाद को अक्षरशः व्यावहारिक रूप तो दिया भी नहीं जा सकता। माओत्से तुंग ने एक स्थान पर कहा है कि "अमूर्त मार्क्सवाद जैसी कोई चीज नहीं है। यह केवल साकार पदार्थ रूप में है जिसे राष्ट्रीय स्वरूप में ग्रहण किया गया है अर्थात् मार्क्सवाद को रूस व चीन में देशकालीन परिस्थितियों की अनुरूपता के संदर्भ में अपनाया गया है न कि अमूर्त रूप में।"[1]

सोवियत संस्करण—रूसी समाजवादी व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ लेखकों का मत है कि यह मुख्य रूप से रूस के प्राचीन इतिहास की उपज है। मार्क्स के सिद्धान्तों को सोवियत संघ में केवल प्रसंगतः लागू किया गया है किन्तु फिर भी इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जिन व्यक्तियों ने रूस में नवम्बर १९१७ में शासन सम्भाला था वे मार्क्स के माने हुए अनुयायी थे। १९१७ के मध्य में लेनिन ने जो "राज्य तथा क्रान्ति" (State And Revolution) नामक पुस्तक लिखी उसका ध्येय मार्क्स एवं एंजिल्स की कृतियों के उद्धरण देकर यह दिखलाना था कि उसके द्वारा आयोजित क्रान्ति और उसके फलस्वरूप स्थापित होने वाली साम्यवादी शासन-व्यवस्था मार्क्स की कल्पना के बिलकुल अनुरूप ही होगी। परन्तु वास्तविक सत्य यह है कि लेनिन एवं उसके उत्तराधिकारियों ने इसमें रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन किये हैं, क्योंकि वे मार्क्स की भांति केवल विचारक ही नहीं वरन् व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी थे।

लेनिनवाद—मार्क्सवाद को सर्वप्रथम व्यवहार में लाने का श्रेय लेनिन को है। लेनिनवाद को मार्क्सवाद का रूसी संस्करण कहा जाता है। स्टालिन ने कहा है कि "लेनिनवाद साम्राज्यवाद एवं श्रमजीवी क्रान्ति के युग का मार्क्सवाद है।" १८४८ में 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' के प्रकाशित होने की तिथि तथा १९१७ में

1. "There is no such thing as abstract Marxism but only concrete Marxism that has taken a national form, that is, Marxism applied to concrete conditions prevailing in China or Russia and not Marxism abstractly used.—MAOTSE-TUNG."

राजनैतिक क्रान्ति द्वारा लेनिन के हाथों में सत्ता आजाने के बीच के वर्षों में संसार में ऐसी बहुत सी घटनाएं घटीं जिन्होंने मार्क्सवाद में संशोधन करना आवश्यक बना दिया। इस अवधि में पूंजीवाद का तीव्र गति से विकास हुआ और उसमें अन्तर्निहित विरोध अपनी चरम सीमा तक पहुंच कर यूरोपीय राष्ट्रों के बीच साम्राज्य के लिये विरोध उत्पन्न करने लगे। सन् १९१४ में लड़ा गया प्रथम विश्वयुद्ध पूंजीवादी साम्राज्यवाद के विकास का ही भयानक परिणाम था। ऐसे समय में श्रमिक वर्ग की क्रान्ति जिसका मार्क्स ने उल्लेख किया है एक ज्वलन्त प्रश्न बनी। मार्क्स की शिक्षाओं का प्रतिपादन एकाधिकारी प्रवृत्ति के पूंजीवादी साम्राज्यवाद तथा श्रमिक वर्ग की क्रान्ति के युग से पूर्व हुआ था। अतएव उसे समय के अनुसार ढालना था। इसके अतिरिक्त मार्क्स ने श्रमिक वर्ग की क्रान्ति का उल्लेख मात्र किया था, उसे क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी युद्ध कला के विषय में वह मौन था। लेनिन ने इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति की। उसने मार्क्सवाद में पाये जाने वाले उन क्रान्तिकारी तत्वों का पुनरुत्थान किया जिन्हें द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के अवसरवादियों एवं संशोधनवादियों ने धूमिल कर दिया था। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल उसे श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही को मार्क्स के राज्य सिद्धान्त में एक केन्द्रीय स्थान देना पड़ा।

लेनिन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

लेनिन ने मार्क्स में अपने अटूट विश्वास को प्रकट करने के लिए केवल उसके साम्यवाद एवं पूंजीवाद सम्बन्धी विचारों की पुष्टि करना ही पर्याप्त नहीं समझा वरन् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास प्रकट करना भी उसे आवश्यक प्रतीत हुआ। सन् १९०८ में प्रकाशित ग्रन्थ "Materialism and Empirio Criticism" लेनिन की साम्यवाद को प्रमुख देन तथा साम्यवादी बौद्धिक कट्टरवाद का मापदण्ड माना जाता है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों का तनिक भी विरोध क्रान्ति के प्रति विद्रोह समझा जाने लगा था। इस पुस्तक में लेनिन ने बताया है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानों से अधिक समीप है। उसके अनुसार वैज्ञानिक निरासक्ति एवं दर्शन तथा अर्थशास्त्र और राजनीति में निष्पक्षता संभव नहीं है। इन्हें वास्तव में निहित स्वार्थों की पूर्ति के बहाना के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। लेनिन के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाते से दो वैज्ञानिक प्रणालियाँ हैं—एक मध्यवर्ग के हित में (पूंजीवाद) और दूसरी सर्वहारावर्ग के हित में (साम्यवाद)। श्रमजीवी सामाजिक विज्ञान को वह पूंजीवादी सामाजिक विज्ञान से श्रेष्ठतर समझता है, क्योंकि मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति उठते एवं उदीयमान वर्ग घोषित करती है। अतः लेनिन ने यह स्पष्ट किया है कि एक सामाजिक वैज्ञानिक के निष्कर्ष अपने प्रारंभिक विश्वासों के रंग में रंगे हुए होते हैं।

लेनिन ने मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति को सार्वभौम पद्धति का रूप दिया। इसका आरोपण सभी प्रश्नों पर किया जा सकता है।[1]

लेनिन और साम्राज्यवाद

लेनिन ने मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पिष्टपोषण के साथ-साथ आलोचकों द्वारा उस पर किये जाने वाले प्रहारों से भी उसकी रक्षा करने का प्रयत्न किया है। मार्क्स ने *द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर यह भविष्यवाणी की थी कि विकास की इस प्रक्रिया* में पूंजीवाद विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है और समाजवाद की स्थापना एक अवश्यम्भावी सत्य है। मार्क्स की आलोचना मुख्य रूप से इसी आधार पर की जाती है कि उसके बाद की ऐतिहासिक घटनायें उसकी भविष्यवाणी के अनुरूप नहीं होतीं। मार्क्स की आशानुसार न तो पूंजीपति एवं श्रमिकों के दो विरोधी वर्ग बने और न ही श्रमिक वर्ग की दशा उत्तरोत्तर गिरी, बल्कि इसके विपरीत श्रमिकों और पूंजीपतियों के बीच पारस्परिक सहयोग बढ़ा है और समाजवाद की स्थापना के स्थान पर साम्राज्यवाद की स्थापना हुई है। अतः लेनिन ने मार्क्स का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन सब *घटनाओं की तदनुकूल व्याख्या की है जो उसकी भविष्यवाणी के विपरीत प्रतीत होती थीं।* यह कार्य लेनिन ने अपने जिस सिद्धान्त द्वारा किया उसे पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था अर्थात् साम्राज्यवाद का सिद्धान्त कहते हैं।

साम्राज्यवाद और पूंजीवाद

अपने ग्रन्थ "साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है" (Imperialism is the last stage of Capitalism) में लेनिन ने बताया है कि वर्ग संघर्ष कुछ देशों में ओर इसलिए नहीं पकड़ सका कि वहां की आर्थिक स्थिति आधीनस्थ उपनिवेशों के कारण काफी सन्तोषजनक बन चुकी थी। इस तथ्य के कारण पराधीन राष्ट्रों एवं औद्योगिक राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध श्रमजीवी एवं पूंजीपति का बन गया और जो पहले *साम्राज्य के अभाव में श्रमजीवी थे, वे कालान्तर में पूंजीपति बन गये।* लेनिन का दावा है कि यद्यपि मार्क्स को साम्राज्यवाद की इस अवस्था का पूर्वाभास नहीं मिला था किन्तु इसका मार्क्स के मूल मन्तव्य से कोई विरोध नहीं है। वह मानता है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विरोधाभास एवं आर्थिक संकटों का ही परिणाम है। लाभ के उद्देश्य के लिए ही पूंजीपति अविकसित देशों को हस्तगत करते हैं। लेनिन के अनुसार इस साम्राज्यवाद में भी पूंजीवाद की भांति अन्तर्विरोध है। सर्वप्रथम तो इसमें पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण स्वयं पूंजीवादी देशों में युद्ध होता है और अन्ततः उन्हें

---

1. परन्तु मैक्वाइन इसे पूर्ण रूप से सारहीन कहता है। इसी प्रकार येगर के अनुसार, "लेनिन की भौतिकवाद के विषय में धारणा एक अशिष्ट धारणा है जो अट्ठारहवीं सदी के भौतिकवाद की उस धारणा से कुछ भिन्न नहीं है जिसकी मार्क्स ने निन्दा की थी।"

निर्धन बनना पड़ता है। दूसरा विरोध शोषक राष्ट्र एवं औद्योगिक राष्ट्र के हितों के बीच होता है। शोषित देश जागृति के आने पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माँग करते हैं और यह श्रमजीवी क्रान्ति के लिये उपयुक्त अवसर सिद्ध होता है। संक्षेप में लेनिन के अनुसार साम्राज्यवाद पूंजीवाद की मरणासन्न अवस्था है और यह मार्क्स की कल्पना से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है।[1]

लेनिन की इस धारणा का महत्त्व इसलिए अधिक है कि इसने अत्यन्त ही प्रशंसनीय एवं चातुर्यपूर्ण ढंग से विश्व युद्ध प्रारम्भ होने पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की व्याख्या मार्क्सवाद की मूल धारणा से हटे बिना करके, इसे सुदृढ़ बनाया।

क्रान्ति की टैकनिक और दल

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सार्वभौमिकरण तथा साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी विश्लेषण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण लेनिन की यह धारणा है कि मार्क्सवाद मूलतः एक क्रान्तिकारी विचारधारा है। इसने क्रान्ति को टैकनिक देकर इसे व्यावहारिक स्वरूप दिया। उसका कथन था कि –"पूंजीवादी राज्य के स्थान पर सर्वहारा राज्य की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति के बिना सम्भव नहीं है।" अपनी इस बात की पुष्टि करते हुए वह मार्क्स का यह कथन उद्धृत करता है कि–"यदि एक मजदूर आन्दोलन क्रान्तिकारी नहीं है तो वह कुछ भी नहीं है।" परन्तु लेनिन ने इसके साथ ही क्रान्ति के लिए अल्पमार्ग भी संभव बताया है एवं उस समय की रूस की क्रान्ति के लिए इसे परिपक्व भी माना है। उसका कहना था कि मध्यवर्गीय क्रान्ति के लिए प्रतीक्षा करना मार्क्सवाद को मृत शब्दों के लिए बलिदान करना है। मार्क्स इस मत से इनकार करता है कि सच्चे मार्क्सवादी को वास्तविक तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। लेनिन की अल्पमार्ग सम्बन्धी यह धारणा मार्क्स के इस मत से विपरीत थी कि राजनीति उत्पादन के सम्बन्धों पर निर्भर करती है और कोई भी राष्ट्र विकास की स्वाभाविक अवस्थाओं से गुजरे बिना नहीं रह सकता। लेनिन का विचार था कि क्रान्तिकारी भावनाओं का उदय श्रमिक वर्ग में स्वतः नहीं होता वरन् उनका प्रवेश श्रमिकों में बाहर से करवाया जाता है। मजदूरों में केवल यूनियन बनाने की चेतना होती है किन्तु क्रान्तिकारी भावना का संचार केवल साम्यवादी दल कर सकता है। यही क्रान्ति को सम्भव बनाता है और युद्ध के पश्चात् भी पूंजीवादी अवशेषों को समाप्त करने तथा श्रमिक वर्ग की तानाशाही स्थापित करने के लिए आवश्यक है। लेनिन के अनुसार साम्यवादी दल इस

1. इस सन्दर्भ में वेपर का मत है कि लेनिन ने अपने इस मत द्वारा मार्क्सवाद को किसी भी प्रकार से सुरक्षित नहीं बनाया क्योंकि–"लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त जहाँ तक मार्क्सवाद का समर्थक है, असत्य एवं बेईमानीपूर्ण है और जहाँ सच्चा है वहाँ वह मार्क्सवाद का समर्थन नहीं करता।"

आवश्यकताओं की पूर्ति तभी कर सकता है जब वह बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा संगठित हो। दल की यह विशेषता उसे अत्यन्त केन्द्रीकृत संगठन बनाती है जो अन्ततः सर्वाधिकारवादी स्वरूप ग्रहण कर लेता है। इसमें सम्पूर्ण श्रमिक वर्ग सम्मिलित नहीं होता। "दल का चोटी का संगठन दल का स्थान ले लेता है। समिति संगठन समझी जाती है और अन्त में अधिनायक केन्द्रीय समिति का स्थान ले लेता है।" इस लेनिनवादी परम्परा को स्टालिन ने पूर्णरूप से बनाये रखा और वह बहुत कुछ सीमा तक आज भी कायम है।

श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही

लेनिन ने श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किये हैं। स्टालिन ने 'लेनिनवाद के आधार' नामक पुस्तक में इसे लेनिनवाद की प्रमुख समस्या माना है। वह श्रमजीवी तानाशाही की अवस्था को श्रमिक वर्ग द्वारा क्रान्ति के परिणामों को बनाये रखने के लिए तथा पूंजीपतियों के प्रतिरोध को रोकने के लिए आवश्यक मानता है। श्रमजीवी तानाशाही का अन्तिम लक्ष्य चूंकि लोकतन्त्र की प्राप्ति करना है अतः लेनिन का मत था कि सोवियतों द्वारा श्रमिक लोकतन्त्र का उपयोग कर सकेंगे। परन्तु कोकर का मत है कि व्यावहारिक रूप में यह श्रमजीवी वर्ग की तानाशाही न होकर उन पर स्वयं तानाशाही बन जाती है। यह मार्क्स की कल्पना के अनुरूप श्रमजीवी वर्ग के बहुमत द्वारा चलाई जाने वाली सरकार नहीं है अपितु श्रमिक वर्ग के भीतर मुट्ठी भर समाजवादियों द्वारा चलाई जाने वाली सरकार है।

इस प्रकार लेनिन ने यद्यपि प्रारम्भ से अन्त तक अपने को मार्क्स का अनुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न किया तथापि उसकी मान्यताओं का जो परिणाम निकलता है वह वास्तव में मार्क्सवाद को विकृत करता है।[1]

लेनिन ने आर्थिक शक्तियों के स्थान पर विचारों को तथा श्रमजीवियों के स्थान पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को महत्व देकर एवं क्रान्ति का दलमार्ग बतलाकर मार्क्सवाद को जिस प्रकार सिर के बल खड़ा किया है, उसे फिर से पैरों के बल खड़ा करने वाला कोई अन्य अनुयायी आज तक नहीं हुआ। लेनिन मार्क्सवादी सूत्रों को तभी तक अपनाता है जब तक वे उसके क्रान्तिकारी उद्देश्य में सहायक होते हैं। जहां वे उसके मार्ग में बाधक बनने लगते हैं वहां वह उनको छोड़ता दिखाई देता है। मार्क्स के सूत्र बहुत कुछ सीमा तक लेनिन के भी सूत्र रहे पर लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद से बहुत भिन्न होगया है।

1. *सेबाइन ने भी यही कहा है—"मार्क्स का यह दावा था कि उसने हीगल की पद्धति को पैरों के बल खड़ा कर दिया है, लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद को उसने सिर के बल खड़ा कर दिया है।"*

स्टालिनवाद और राष्ट्रीय साम्यवाद

लेनिन के बाद स्टालिन के रूसी राजनीति में आगमन ने भी मार्क्सवाद की अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। स्टालिन ने वहीं से ही चलना शुरू किया जहाँ तक लेनिन पहुँच चुका था। उसने अपने समस्त कार्य लेनिन के नाम पर किये जिस प्रकार लेनिन ने अपने समस्त कार्य मार्क्स के नाम पर किये थे। यद्यपि यह सच है कि स्टालिन ने जिस राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन दिया एवं जिस नवीन कृषि नीति को अपनाया वह लेनिन की शिक्षाओं के एकदम विपरीत थी।

स्टालिन की 'एक देश में समाजवाद' की मान्यता लेनिन की स्थाई एवं विश्वव्यापी क्रान्ति के विरुद्ध थी। मार्क्स भी अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति का ही समर्थक था। उसने विश्व के मजदूरों को एक हो जाने के लिए कहा। परन्तु स्टालिन की इस नीति ने उस समय रूसवासियों में आत्म विश्वास पैदा किया और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम किया चूंकि दूसरे देश यह सोचने लगे थे कि स्टालिन समस्त संसार में क्रान्ति लाने को उत्सुक नहीं है।

दल बनाम नेता

परन्तु इसका परिणाम यह भी हुआ कि रूस में एक दल के स्थान पर एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित हो गई, क्योंकि स्टालिन ने देश में समाजवाद की शक्ति को [illegible] करने के लिए औद्योगीकरण की नीति अपनाई। उसकी इस नीति से राज्य की शक्तियों का विस्तार हुआ, जिसका प्रयोग दल का अधिनायक ही करता था। इस प्रकार लेनिन के काल में वाद-विवाद की जो स्वतन्त्रता थी, स्टालिन ने उसे भी छीन लिया। उसने राज्य को व्यक्तियों के कल्याण के कार्य देकर मार्क्सवादी श्रमजीवी तानाशाही की अवस्था का अनुसरण नहीं किया जिसमें मार्क्स के अनुसार राज्य का एकमात्र लक्ष्य पूंजीपतियों का दमन करना था।

मार्क्स के राज्य सिद्धान्त का भी लेनिन ने परित्याग किया था। उसके अनुसार राज्य शक्ति का विस्तार तब तक होता रहेगा जब तक कि उसके चारों ओर पूंजीवाद घेरा बना रहेगा तथा 'एक देश में समाजवाद' के सिद्धान्त द्वारा पूंजीवादी घेरे को निकट भविष्य में नष्ट होने की सम्भावना नहीं होगी। अतः स्टालिन राज्य शक्ति का विस्तार करता चला गया। यद्यपि वह साम्यवाद की अन्तिम विजय विश्वव्यापी साम्यवादी क्रान्ति में ही समझता था, परन्तु वास्तव में उसका विश्वक्रान्ति से तात्पर्य रूसी नेतृत्व में विश्वव्यापी क्रान्ति करना था। इस प्रकार स्टालिन का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद मार्क्स से बहुत भिन्न कहा जा सकता है।

ख्रुश्चेव और उदारतावादी साम्यवाद

ख्रुश्चेव के साथ रूसी राजनीति में पुनः एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ होता है। उसने एक नवीन धारणा पर विचार किया जिस पर उसके इन दो पूर्व दार्शनिकों ने

विचार नहीं किया था। ख्रुश्चेव ने पूंजीवादी शक्तियों से युद्ध की अनिवार्यता (Inevitability of War) की मार्क्स, लेनिन तथा स्टालिन की धारणाओं में आमूलचूल परिवर्तन किया। मार्क्स ने पूंजीवादी पद्धति के आन्तरिक विरोधों के कारण दोनों वर्गों में युद्ध आवश्यक बताया था लेनिन एवं स्टालिन ने इन वर्गों के स्थानीय युद्धों के अतिरिक्त पूंजीवादी देशों एवं साम्यवादी देशों में संघर्ष को अनिवार्य माना था।

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

परन्तु ख्रुश्चेव ने इसका विरोध किया। इसके अनुसार मार्क्स व लेनिनवाद की यह धारणा उस समय बनाई गई थी जब कि साम्राज्यवाद एक विश्व व्यापी व्यवस्था थी तथा अन्य शक्तियां निर्बल थीं। अतः साम्राज्यवाद को युद्ध का परित्याग करने के लिए बाध्य करना दुष्कर कार्य था परन्तु आज इनको रोकने योग्य शक्ति सम्भव है। अतः साम्राज्यवादी युद्धों को आसानी से रोका जा सकता है। इस प्रकार ख्रुश्चेव ने रूस की वर्तमान प्रगुशक्ति के बल पर युद्ध की अनिवार्यता के स्थान पर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर जोर दिया। उसके अनुसार युद्ध की अनिवार्यता का अभाव किसी भी प्रकार की क्रान्ति की प्रक्रिया को धीमा नहीं करता। ख्रुश्चेव के वर्तमान उत्तराधिकारी भी इसी नीति में विश्वास करते हैं।

इस प्रकार जहां लेनिन और स्टालिन क्रान्ति को अनिवार्य बतलाकर अपने दर्शनों को *प्रमुख रूप से क्रान्तिकारी विचारधारा बना देते हैं-वहीं ख्रुश्चेव शान्तिपूर्ण* सहअस्तित्व की नीति को अपनाकर मार्क्सवाद के विकासवादी पहलू को पुनः प्रतिष्ठित करता है। परन्तु इतना मानना होगा कि मार्क्स के उत्तराधिकारियों के हाथों में मार्क्सवाद अपने विशुद्ध रूप में नहीं रह सका है और इसी प्रकार बदल गया है जिस प्रकार कोई नई वस्तु अनेक हाथों में जाकर अपना प्रारम्भिक स्वरूप खो बैठती है।

चीनी मार्क्सवाद

चीन में साम्यवादी दल के कर्णधार माओत्सेतुंग है। उन्हीं की अध्यक्षता में अक्टूबर १९४९ में चीन में साम्यवादी दल द्वारा मजदूरों एवं श्रमिकों की तानाशाही की स्थापना की गई थी। तब से अब तक माओ ही चीन की *साम्यवादी विचारधारा के मुख्य* सूत्रधार रहे हैं। अतः चीनी विचारधारा ने रूसी विचारधारा की भांति विभिन्न रूप धारण नहीं किये।

माओत्सेतुंग मार्क्स एवं लेनिन से बहुत प्रभावित हुए हैं, किन्तु उन्होंने उनके सिद्धान्तों को चीनी परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लागू किया है। जिस प्रकार लेनिनवाद मार्क्सवाद का रूसी संस्करण था, उसी प्रकार माओवाद भी मार्क्सवाद का प्रकारान्तर है। माओ भी इस परिवर्तन को मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुरूप ही समझता क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि—"यदि हम चीन की परिस्थिति के

अनुकूल एक सिद्धान्त का निर्माण नहीं करेंगे, एक ऐसे सिद्धान्त का जो हमारी आवश्यकताओं और निश्चित प्रकृति के अनुरूप नहीं होगा तो हमें अपने आपको मार्क्सवादी विचारक कहना एक उत्तरदायित्वहीनता होगी।"[1]

माओ ने रूस में लेनिन की अक्टूबर क्रान्ति से प्रभावित होकर कहा है कि चीन में रूस की ही भाँति क्रान्ति की स्थितियां विद्यमान हैं, यद्यपि उनका स्वरूप भिन्न है। चीनी क्रान्ति रूसी क्रान्ति से भिन्न एक पूंजीवादी जनतांत्रिक क्रान्ति थी, पर इसे भी पूंजीवाद के विनाश तथा साम्यवाद की स्थापना की मध्यकालीन क्रान्ति कहा जासकता है। माओ ने भी लेनिन की भाँति क्रान्ति के लिए साम्यवादी दल और विशेष रूप से उसके बुद्धिजीवी वर्ग को महत्व दिया है।

कृषि साम्यवाद

माओ ने मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या और वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कृषक वर्ग पर महत्व दिया है, रूस की भाँति श्रमिक वर्ग को नहीं। इसका कारण यह है कि चीन प्रमुख रूप से एक खेतीहर देश है, यहां अस्सी प्रतिशत जनता खेती करती है। इसी कारण माओ मानता है कि वहाँ साम्यवाद तभी सफल होगा जब कि कृषकों के कार्यों को महत्ता दी जायेगी।

मार्क्सवादी विचारधारा की तरह माओ भी यह मानता है कि राज्य शासक वर्ग के हाथ में एक दमन यन्त्र है। उसके अनुसार भी साम्यवादी दल शक्ति प्राप्त करने के बाद राज्य की शक्ति का प्रयोग पूंजीपतियों का नाश करने के लिए करेगा। यह केवल साम्यवादियों को ही अधिकार देगा, गैर साम्यवादियों को नहीं। अतः माओवाद साम्यवादियों के लिए प्रजातन्त्र तथा गैर साम्यवादियों के लिए अधिनायक तन्त्र (Democratic Dictatorship) कहा जा सकता है।[2]

माओ और खु्रश्चेव

माओ खु्रश्चेव के अाधीन रूस की अन्तर्राष्ट्रीय नीति में किये गये परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार शक्ति सन्तुलन का साम्यवादियों के पक्ष में हो जाना पूंजीवाद की प्रकृति को बदल नहीं देता। साम्राज्यवाद के रहते सार्वभौम एवं स्थायी शान्ति स्थापित होना असम्भव है। अतः युद्ध ही वह एकमात्र साधन है जिसके

1. "If we have not created a theory in accordance with China's real necessities, a theory that is our and of a specific nature than it would be irresponsible to call ourselves, marxist theoritician." Quoted by Stuart. R. Schram in the Political Ideas of Maotse Tung.

2. स्वयं माओ ने यह कहा है कि "हमें अधिनायकवादी कहा जाता है यह ठीक है चीनी जनता के पिछले युद्ध दशक वर्षों के अनुभव ने बताया है कि जनता की प्रजातान्त्रिक तानाशाही की स्थापना की जानी चाहिए।

आधार पर विश्व व्यापी साम्यवाद की स्थापना की जा सकती है यह माओ के दर्शन पर लेनिन के प्रभाव का परिणाम है। माओ ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाता है।

वर्तमान काल म साधनो के अतिरिक्त विश्वव्यापी स्ट्रेटेजी एव नेतृत्व के प्रश्न पर भी रूस व चीन मे व्यापक मतभेद है। वह साम्यवादी शिविर की शक्ति के अनेक केन्द्रो के स्थान पर एकल केन्द्र (Monolethism) का समर्थक है। इस रूप मे भी वह लेनिन और स्टालिन का अनुगामी है।

अतः माओ की विचारधारा अथवा चीनी साम्यवादी विचारधारा के सम्बन्ध म यह फार्मूला बनाया जा सकता है—

मार्क्सवाद + लेनिनवाद + चीन की परिस्थिति = चीन का मार्क्सवाद या माओवाद।

वर्तमान काल मे रूस एवं चीन की साम्यवादी विचारधारा मार्क्स के सिद्धान्तों के दो विभिन्न पहलुओ का प्रतिनिधित्व करती है। इनम से किसी एक को मार्क्सवाद के अधिक निकट नही कहा जा सकता क्योंकि मार्क्स की विचारधारा मे दोनों को ही महत्व प्राप्त है। तात्विक दृष्टि से यह सच है कि संशोधनवादियों ने मार्क्स का सही रूप में अनुसरण नही किया। कारण स्पष्ट है और वह यह कि यदि स्वयं मार्क्स भी इन नवीन परिस्थितियो मे लिखता तो शायद इन भिन्न और संशोधित सिद्धान्तो को स्वीकार करने म उसे कोई आपत्ति नही होती।

BIBLIOGRAPHY

(1) COKER Recent Political Thought.
(2) SABINE A History of Political Theory
(3) LAIDLER : Social and Economic Movements.
(4) BURNS Idea's in Conflict.
(5) STUAR-R . Schram : Mao-Tse Tung & Pol. Thought.

११

राजनीतिक वहुलवाद

(POLITICAL PLURALISM)

●

—गोविन्दराम

१

बहुलवाद राजनीति-जगत् में पर्याप्त नवीन सिद्धान्त है। इसका प्रादुर्भाव राज्य की संप्रभुता (Sovereignty) के बारे में एकत्ववाद (Monism) तथा आदर्शवाद (Idealism) के अनुसार प्रदत्त सर्वोच्च स्थान की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ है। हीगल आदि विचारकों ने राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण'[1] मानकर इसे न केवल वैधानिक (Legal) ही अपितु नैतिक संस्तुति (Moral sanction) भी प्रदान की थी। इससे राज्य सम्पूर्ण शक्तिशाली ही नहीं, बल्कि अनुत्तरदायी (irresponsible) भी होने में सक्षम हो सका। इस अवस्था के प्रतिक्रिया स्वरूप ही इस शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशक में डा० जे० एन० फिगिस (J. N. Figgis), ए० डी० लिंडसे (A. D. Lindsay) तथा हैरल्ड लॉस्की (Herold J. Laski) आदि ने इंगलैण्ड में, लियन डिग्वी (Leon Duguit) ने फ्रांस में तथा क्रैब (Krabbe) ने हालैण्ड में इसका प्रतिपादन किया। अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker) ने इंगलैंड में तथा मिस फौलेट (Mies Follett) ने अमरीका में इसके आलोचनात्मक रूप को और भी निखारा।

यह व्यक्ति, उसकी स्वतन्त्रता एवं मानव संस्थाओं को मानव व्यवस्था में उच्च स्थान प्रदान करता है। राज्य की सत्ता को ये विचारक सर्वोच्च एवं सम्पूर्ण न मानते हुए सीमित शक्तियुक्त मानते हैं। बहुत से समुदायों के अस्तित्व के कारण ही राज्य की शक्ति को सीमित मानने का विचार रखा गया है। परन्तु बहुलवाद राज्यविरोधी दर्शन नहीं, संप्रभुता विरोधी है। इसका आदर्श निरंकुश राज्य नहीं, समाज सेवक राज्य है। उनके अनुसार राज्य को तभी आदर्श संस्था माना जा सकता है जब वह मानव आदर्शों के लक्ष्य की पूर्ति करे। इस उद्देश्य तथा व्यक्ति के बहुमुखी विकास के उद्देश्य से बहुल-वादी विचारकों ने व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति के अनुसार गठित धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक तथा राजनैतिक समुदायों के प्रति निष्ठा को मान्यता प्रदान की

1. "The state is the march of God on earth."
—Hegal's Philosophy of Rights. P.247.

है। इन्हें राज्य के समकक्ष स्थान प्रदान करते हुए, राज्य को इनके समन्वय (Co-ordination) का कार्य सौंपते [redacted] लास्की ने माना है कि सामाजिक स्वरूप संघीय होना चाहिये।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि मूलतः और तत्वतः बहुलवाद राज्य की संप्रभुता और तद्जनित राज्य सम्बन्धी एकलवादी (Monistic) सिद्धान्त का निषेध और उसके स्थान पर एक बहुलवादी राज्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

बहुलवाद एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में बीसवीं शताब्दी में ही प्रकट हुआ, परन्तु इसकी विकास की पृष्ठभूमि बहुत पहले से ही बनती चली आ रही थी।

यूनानी नगर राज्यों (Greek City-State) में राज्य सर्वोच्च सामाजिक संगठन था। उन्होंने अन्य समुदायों को भी मानव अस्तित्व के लिए अनिवार्य समझा परन्तु राज्य को विशेष स्थिति प्रदान की। प्लेटो (Plato) ने जहाँ दार्शनिक शासक (Philosopher King) को सर्वोच्च माना वहाँ अरस्तू (Aristotle) ने राज्य को सर्वोच्च संगठन की मान्यता प्रदान की।[2]

रोमन जगत् में साम्राज्य का स्वरूप प्रकट हुआ तथा रोमन सम्राट् ने साम्राज्य का स्वरूप लिया।

मध्यकाल (Middle Age) में संप्रभुता बहुत सी संस्थाओं में बँटी थी, राज्य ही एकमात्र सत्ताधारी संस्था न थी। रोमन चर्च, पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor), राजा, सामन्त (Feudal Lord), नगर अधिकारी (Chartered Town) तथा संघ (Guild) प्रभुत्व के सहयोगी थे। बार्कर ने इसीलिए मध्यकाल को अराजनैतिक तथा राज्य को चर्च का पुलिस विभाग मात्र माना है। 'दो तलवारों के सिद्धान्त' (Theory of the Double Sword) के अनुसार दो संप्रभुओं का विचार पनपा तथा 'राज्य-चर्च-संघर्ष' ने स्थान लिया। पोप तथा राजा का यह सहअस्तित्व बहुलवाद का प्रथम लक्षण माना जा सकता है। मैटलैण्ड (Maitland) तथा गीर्के (Otto Gierke) आदि विचारकों ने मध्यकाल में गिल्ड, सीनेट, चर्च आदि के अन्तर्गत इन स्वायत्त संस्थाओं (Autonomous Institutions) द्वारा शासन कार्य चलाने की बात करते हुए 'निगम सिद्धान्त' (Theory of Carporations) की उद्भावना की।

1. "The structure of social organisation, if it wants to be adequate, must be federal in character."

—Prof. Laski-"Grammar of Politics"

2. "The state is the highest of all associations ..... which embraces all the rest."

—Aristotle, "The Politics."

१६वीं एवं १७वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई तथा फिर योरोप के कुछ ऐसे देशों (ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन आदि) में राष्ट्रीय राज्यों (Nation States) का जन्म हुआ, जिनमें राजनैतिक सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित थी। ऐसे राज्यों में प्रभुत्व का रूप एकत्ववादी था तथा उनमें संघों अथवा समुदायों के प्रभुत्व का कोई स्थान न था। एकत्ववादी दर्शन ने नये राष्ट्रीय राज्यों की पुष्टि की और स्थानवादी अर्धअराजकवाद को न्यायरहित बताया। बोदाँ (Bodin) ने अपनी 'डि रिपब्लिका' (De Republica) में राज्य की सर्वोच्च संस्था के रूप में कल्पना की। इससे उसे वैधानिक संप्रभुता (Legal Sovereignty) का संस्थापक कहना अनुचित न होगा। हॉब्स (Hobbes) ने इसी विचारधारा को विकसित करते हुए अराजकता की अवस्था से तानाशाही को अच्छा समझा। रूसो (Rousseau) के अनुसार संघों की अनुपस्थिति में ही "सामान्य इच्छा" संभव हो सकती है। ऑस्टिन (John Austin) के मतानुकूल केवल "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा ही नियम है। आदर्शवाद ने इस विचारधारा को और प्रबलता दी। इन आदर्शवादियों ने संप्रभुराज्य को मानव प्रगति का चरम उत्कर्ष बताया। हीगल का राज्य "विश्वात्मा" या "सर्वव्यापक विचारतत्व" का प्रतिनिधि था वह ईश्वर तुल्य था। इन विचारकों ने राज्य को साध्य एवं व्यक्ति को साधन माना। राज्य की यह प्रभुसत्ता धीरे-धीरे इतनी अधिक बढ़ गई कि राज्य समाज की सर्वोच्च शक्ति बनकर मानव जीवन के समस्त पहलुओं पर छा गया। राज्य के कर्णधारों ने इस वातावरण से पर्याप्त लाभ उठाया। संप्रभु राज्य को आदर्श तथा ईश्वर-तुल्य बताकर जनता से कहा गया कि राजनिष्ठा से ही स्वतन्त्रता, नैतिकता एवं प्रगति सम्भव है।

कुछ मानववादी दार्शनिकों ने इस निरंकुशता में व्यक्ति व्यक्तित्व, उसकी नैतिकता एवं स्वतन्त्रता का हनन देखा। उन्होंने इस निरंकुशवाद की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना की। व्यक्ति के अस्तित्व एवं स्वतन्त्रता पर जोर देते हुए उन्होंने संघों को राष्ट्रीय जीवन में उच्च स्थान प्रदान किया। प्रभुत्व के इस केन्द्रीकरण के विरुद्ध इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप राज्यप्रभुत्व की, एकत्व विरोधी बहुलवादी विचारधारा का उदय हुआ। शायद लास्की ही प्रथम विद्वान् था, जिसने बहुलवाद (Pluralism) शब्द का प्रयोग किया।

१६वीं एवं २०वीं शताब्दी में बहुलवाद के उदय के लिए बहुत सी बातें हितकर सिद्ध हुईं, जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—

व्यक्तिवादी तत्व—बहुलवाद व्यक्ति एवं व्यक्तिस्वातन्त्र्य को ध्यान में रखते हुए हीगलवादी राज्य-सर्वोच्चता के सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ था। जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन लॉक तथा मॉन्टेस्क्यू आदि व्यक्तिवादी विचारकों ने व्यक्ति को

स्वतन्त्रता के नाम पर राजकीय सत्ता के केन्द्रीकरण का जो विरोध किया उससे उस पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ, जिससे बहुलवादी विचारधारा का उदय सम्भव हो सका।

समाजवादी तत्व—समाजवादी विचारधाराओं में से उन विचारधाराओं के प्रतिपादकों द्वारा बहुलवाद को समर्थन मिला जो राजसत्ता का विरोध करते हैं। इनमें अराजकतावाद (Anarchism), संघवाद (Syndicalism) तथा श्रेणिसमाजवाद (Guild Socialism) आदि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'सिंडीकेट' तथा संघों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिया तथा न केवल मान्यता अपितु प्रतिनिधित्व भी प्रदान करने की माँग की। क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व (Territorial Representation) के स्थान पर व्यावसायिक (Professional) अथवा कार्यानुसार (Vocational) प्रतिनिधित्व के समर्थक विचारकों ने भी बहुलवाद के उदय में योग दिया।

मध्यकालीन संघवादी तत्व—गीर्के एवं मेटलैण्ड आदि विचारकों ने भी बहुलवाद के पनपने में मदद दी। उन्होंने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि मध्यकाल में बहुत से संघ (Guilds) समाज व्यवस्था में महत्वपूर्ण कार्य करते थे तथा राज्य के समान ही महत्वपूर्ण थे। उसी ढर्रे पर इस समय भी मनुष्य के विभिन्न समूहों अथवा समुदायों को प्रभुता का भागी बनाया जाय तो समाज कल्याण अधिक सम्भव होगा। फिग्स ने भी समूहों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए, राज्य को अद्वैतवादी न बताते हुए 'संघों का संघ' बताया। यह विचार लास्की, कोल, डिगी, बार्कर आदि के लिए पथ प्रदर्शक हुआ।

राज्य की कार्य वृद्धि—१६वीं शताब्दी में राज्य के कार्य अत्यन्त बढ़ गए। इन बहुमुखीय कार्यों की पूर्ति में राज्य असमर्थ था। राज्य के कार्यों के विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) की आवश्यकता महसूस की गई, जिससे यह एक लोककल्याणकारी राज्य (Welfare State) का स्थान ले सके।

विधि शास्त्रवादी तत्व—कानून राज्य से ऊपर की वस्तु है, विधिशास्त्रियों के इस प्रतिपादन से निश्चय ही राज्य की प्रभुता की अनन्यता सम्बन्धी मान्यता को धक्का लगा और बहुलवादी विचारधारा के प्रादुर्भाव का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अन्तर्राष्ट्रवादी तत्व—अन्तर्राष्ट्रवादियों ने भी राज्य की संप्रभुता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की आवश्यकता मान कर बहुलवाद को शक्ति प्रदान की।

बहुलवादी दर्शन के सिद्धान्त

बहुलवाद एकत्ववाद (Monism) एवं अराजकतावाद (Anarchism) के मध्य की स्थिति अपनाता है। यह अराजकतावादियों की तरह राज्य का अन्त नहीं चाहता; राज्य की अनिवार्यता स्वीकार करता है। परन्तु यह अनिवार्यता एकत्ववादी अनिवार्यता का श्रेय "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ की उपस्थिति को देता है, वहाँ बहुलवाद उसकी अनिवार्यता इसलिए स्वीकार करता है कि वह 'संघों का संघ' है तथा सम-

न्वय का कार्य करता है। यह आदर्शवाद से भी भिन्न है। जहाँ आदर्शवाद के अनुसार राज्य एक संस्था है क्योंकि वह "विश्वात्मा" एवं सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ बहुलवाद के अनुसार राज्य को तभी आदर्श संस्था माना जा सकता है जब वह आदर्श ध्येय (व्यक्ति की प्रगति) में सहायक हो। अत: कोकर (F. W. Coker) के मतानुसार बहुलवाद संप्रभुता विहीन राज्य का पक्षपाती है, उसकी आदर्श व्यवस्था में राज्य का स्थान है परन्तु अद्वैतवादी संप्रभुता का नहीं।[1]

मूलत: बहुलवादी विचारधारा राज्य की संप्रभुता और तदजनित राज्य सम्बन्धी एकत्ववादी (Monistic) सिद्धान्त का निषेध और उसके स्थान पर बहुलवादी राज्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। इसलिए संप्रभुता के अर्थ और एकत्ववादी राज्य के स्वरूप के विषय में कुछ शब्द नितान्त आवश्यक हैं।

संप्रभुता का सिद्धान्त—संप्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र में एक ही संप्रभुता होती है और अन्य सभी व्यक्ति तथा समुदाय उसके अधीन होते हैं। यह सर्वोच्च सत्ता राज्य की सत्ता होती है। संप्रभु राज्य अपने अन्तर्गत सभी व्यक्तियों एवं समुदायों का नियन्त्रण करता है और उनके व्यवहार के लिए कानून बनाता है। कानून बनाने का उसका यह अधिकार मौलिक (Original), स्थायी (Eternal) सर्वव्यापी (All pervasive), अविभाजनीय (Indivisible) तथा निरपेक्ष होता है और यही राज्य की संप्रभुता होती है। चूंकि राज्य संप्रभु होता है, अत सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण एवं नियमन उसके निरपेक्ष अधिकार की वस्तु होती है। राज्य के अधिकार की इस एकदलता को ही राजनैतिक एकत्ववाद (Political Monism) कहते हैं जिसके अनुसार यह माना जाता है कि समाज की सम्पूर्ण शक्ति का सर्वोच्च केन्द्र एक राज्य होता है। बोदा (Bodin) को आधुनिक युग में संप्रभुता के विकास में हॉब्स (Hobbes), रूसो (Roussean) तथा बेन्थम (Bentham) का कार्य उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त को पूर्णता देने का श्रेय १६वीं शताब्दी के सुविख्यात अंग्रेज न्यायविद् जॉन ऑस्टिन (John Austin) को है।

राजनैतिक एकत्ववाद के इस विचार के विरुद्ध बहुसमुदायवादियों ने विचार प्रकट करते हुए राज्य की संप्रभुता पर करारा प्रहार किया। राज्य की संप्रभुता पर यह प्रहार तीन प्रकार [redacted] किया गया। प्रथम, राज्य सरकार के अन्य आवश्यक एवं महत्वपूर्ण समुदायों से उच्चतर नहीं है, अत: सर्वोच्चता विभाजनीय है एवं सीमित अन्य समूहों द्वारा भी दोनों जाने योग्य है, द्वितीय, राज्य दूसरे राज्यों से सम्बन्ध में स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए, तीसरा, राज्य कानून से ऊपर नहीं, वरन् कानून राज्य से ऊपर तथा स्वतन्त्र है। इन तीन आधारों पर बहुलवादियों के विचारों का उल्लेख निम्नानुसार जाना जा सकता है।

1. F. W. Coker : "Recent Political Thought."

राज्य सर्वोच्चता एवं समूह स्वायत्तता
(State Sovereignty and Group Autonomy)

बहुलवाद हीगलवादियों द्वारा राज्य को सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न (Omnipotent) तथा वैधानिक एवं नैतिक (Legally and morally) रूप से सर्वोच्च मान जाने का विचारधारा पर प्रहार करता है। उनका मत है कि व्यक्ति के हित के लिए बहुत से आवश्यक समुदायों में राज्य भी एक है। मनुष्य के बहुमुखीय विकास के लिए विभिन्न समुदायों की आवश्यकता है। कोकर (F W Coker) के शब्दों में, "मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के अनुसार वह धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक एवं राजनीतिक बहुत से समूहों का एकत्रता है जिनमें से कोई भी नैतिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से दूसरे उच्चतर नहीं है।"[1]

बहुलवाद की जड़ें मध्यकाल की 'गिल्ड प्रथा' (Guild System) में थी। उस समय की व्यावसायिक गिल्ड स्वायत्तता (Autonomy) का उपयोग करते हुए निगम (Corporation) का स्वरूप लिए था। राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के साथ इनका पतन हो गया। गीर्के (Gierke) ने जर्मनी में तथा मेटलैण्ड (Maitland) ने इंगलैंड में आधुनिक समय में बहुलवाद को जन्म दिया। उनके अनुसार प्रत्येक संगठित समुदाय अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तथा 'वास्तविक व्यक्तित्व' (Real Personality) तथा अलग सामूहिक इच्छा (Collective Consciousness) रखते हुए कानून निर्माण में हिस्से का अधिकार रखता है। वे राज्य को विभिन्न समुदायों में संयोजक के रूप में स्वीकार करते हैं परन्तु इनसे ऊपर नहीं मानते।

फिगिस (Dr J N Figgis) चर्च आदि सामाजिक समूहों में राज्य के अनाधिकार प्रवेश की चेष्टा की आलोचना करते हुए इन्हें स्वनिर्भर होकर विकास करने का मत रखता है। राज्य इनमें सामंजस्य पैदा कर सकता है, नियन्त्रण नहीं।

पॉल-बॉन्कर (M Paul Boncour) तथा दुर्खेहाइम (Durkheim) ने समाज के व्यावसायिक एवं आर्थिक समूहों (Professional and Economic Groups) के आधार पर शोषण तथा राजनैतिक प्रतिनिधि के प्रश्न करने की मांग की।

लास्की (Laski) ने सम्प्रभुता को बहुत से समूहों (Groups) द्वारा बाँटे जाने का विचार रखा। उसके अनुसार राज्य एक समन्वयकर्ता का कार्य करे, परन्तु सम्पूर्ण शक्ति का अधिकारी नहीं। उसके अनुसार सत्ता का सर्वोच्च स्वरूप होना चाहिए।[2]

---

1 "Man's social nature they maintain finds expression in numerous groupings, pursuing various ends religious social economic professional political no one of the groups is superior morally or practically to the others."
—F W Coker Recent Political Thought, Page 497.

2. "Authority should be federal"
—Laski 'Grammar of Politics.'

श्रेणी-समाजवादी (Guild Socialist) कोल (G. D. H. Cole) के अनुसार समाज का स्वरूप संघीय (Federal) है अतः संप्रभुता के एकत्व पर आधारित राज्य ऐसे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। साथ ही राज्य सम्पूर्ण समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। अतः केवल इसे ही शक्ति प्रयोग का अधिकार अथवा सम्प्रभुत्व प्राप्त नहीं होना चाहिए। इसकी कल्पना के समाज का संगठन ऐसा होना चाहिए जिसमें उपभोक्ताओं और उत्पादकों के स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्तर के स्वतन्त्र और पृथक संघ हों। उपभोक्ताओं के संघों का प्रतिनिधित्व प्रादेशिक (Territorial) एवं उत्पादकों के संघों का प्रतिनिधित्व व्यावसायिक (Functional) हो। इस प्रकार कोल ने भी अपनी श्रेणीसमाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रभुता की बहुलता का समर्थन किया।

मैकाइवर (Maciver) ने विभिन्न समुदायों में से राज्य को भी एक माना है, हालांकि राज्य एक विशेष कार्य की सिद्धि करता है।[1] यह एक नियम के द्वारा रखता है। राज्य के निश्चित एवं सीमित शक्तियां तथा उत्तरदायित्व हैं। राज्य का कार्य समाज की व्यवस्था में एकत्व पैदा करना है। मैकाइवर वैधानिक संप्रभुता के सिद्धान्त को भी गलत सिद्ध करता है। वह शक्ति की बात करता है जब कि राज्य की सेवा साध्य है तथा शक्ति साधन।

लिंडसे (Dr. Lindsay) ने तो राज्य के सम्प्रभुत्व के विरोध में यहां तक कह दिया है कि "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है।"[2] उसने संघों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है कि वे वह कार्य पूरा करते हैं जो राज्य नहीं कर सकता। राज्य आवश्यक तो है पर वह संघों का संघ है। उसके अनुसार मानव जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान केवल एक ही संस्था द्वारा नहीं हो सकता। उसके लिए अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है। राज्य का कार्य अधिक से अधिक विविध संघों में समन्वय स्थापित करना हो सकता है।

बार्कर (Barker) हालांकि समुदायों के 'वास्तविक व्यक्तित्व' (Real Personality) के विचार को स्वीकार नहीं करता पर वह भी यह मानता है कि समाज में पाये जाने वाले विविध समुदाय राज्य से पूर्वकालीन हैं और इनमें से प्रत्येक के राज्य से इतर अपने-अपने कार्य हैं। इन समुदायों का सामाजिक जीवन में राज्य का कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्ति की सब आवश्यकताएं राज्य के अतिरिक्त अनेक समुदायों

1. "The business of the state is merely to give a form of unity to the whole system of social relationship." —Maciver.
2. "If we look at the facts, it is clear enough that the theory of sovereign state has broken down." —Lindsay.

के बिना पूरी नहीं हो सकती। उसने व्यक्ति के स्थान पर समुदायों को समाज की इकाई मानते हुए कहा है कि अब प्रश्न "व्यक्ति बनाम राज्य" का नहीं, वरन् "समुदाय बनाम राज्य" का हो गया है। फिर भी व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा एवं उसे समुदायों के अत्याचारों से बचाने का कार्य बार्कर के अनुसार बहुलवादी समाज में भी राज्य का ही रहता है। इस सम्बन्ध में बार्कर का कहना है कि "सम्पूर्ण जीवन की योजना का प्रतीक होने के कारण राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने, अन्य समुदायों के तथा उनके सदस्यों के बीच सामंजस्य बनाये रखे। अपने सम्बन्धों का सामंजस्य बनाये रखना इसलिए आवश्यक है कि उसकी योजना सुरक्षित बनी रहे तथा अन्यों के साथ सम्बन्धों का सामंजस्य इसलिए आवश्यक है कि कानून के समक्ष सब समुदायों की समानता बनी रहे और समुदाय के सम्भावित अत्याचार से व्यक्ति की रक्षा हो सके।"[1]

वास्तव में वैज्ञानिक मानववाद तथा लोककल्याणकारी राज्य के विचार के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के इतने विकास हो जाने पर राष्ट्रीय सर्वोच्चता अथवा राज्य की सम्प्रभुता उपहास्पद सी लगती है इसलिए विश्व संघ (World Federation) का विचार पनपा।

राज्य की सम्प्रभुता एवं अन्तर्राष्ट्रवाद
(State Sovereignty and Internationalism)

कुछ समय से अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्रियों तथा विश्वशान्ति एवं व्यवस्था के समर्थकों द्वारा बाह्यसम्प्रभुता के सिद्धान्त (The Doctrine of External Sovereignty) का विरोध किया जा रहा है। उनके अनुसार आन्तरिक रूप से (Internally) चाहे राज्य सम्प्रभु हो, परन्तु बाह्य मामलों में इसे खुला नहीं छोड़ा जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सद्भावना के समर्थक लास्की (Laski) ने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से राज्य की सम्प्रभुता का विरोध किया। उसके अनुसार यह युग अन्तर्राष्ट्रीय एकता, सहयोग और पारस्परिक सद्भावना का है। ऐसी परिस्थिति में एकत्ववाद और आस्टिन के प्रभुत्व सम्बन्धी सिद्धान्त से काम नहीं चल सकता। कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से असीम प्रभुत्व वाला नहीं रह गया है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानून उसकी प्रभुता को सीमित करते हैं। कोई भी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों तथा नैतिकता की उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः यह कहना कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से राज्य

---

1. 'The state, as a *general and embracing scheme of life*, must necessarily adjust the relations of associations to itself, to other *associations and to their own members, to itself*, to maintain the entegrity of its own scheme, to other associations in order to preserve the equality of associations before law, and to their own members in order to preserve the individual from possible tyranny of the group."

—Barker

सर्वोच्च तथा सम्पन्न है, निरर्थक है। लास्की का कहना है कि "अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से स्वतन्त्र एवं सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के कल्याण के लिए घातक है।"[1] इसी कारण उसने यह प्रतिपादित किया है कि "यदि संप्रभुता सम्बन्धी सम्पूर्ण विचार का त्याग कर दिया जाय तो यह समाज के लिए एक स्थाई लाभ होगा।"[2]

राज्य की सप्रभुता एवं कानून (State Sovereignty and Law)

ड्यूगी (Duguit) ने फ्रांस में तथा क्रैब (Krabbe) ने हालैण्ड में बहुलवाद के समर्थन में कानून के दृष्टिकोण से सोचा। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि कानून बनाने का एकमात्र अधिकार राज्य को प्राप्त है। ड्यूगी के अनुसार कानून की शक्ति राज्य की शक्ति से स्वतन्त्र है।[3] इसके अनुसार कानून राजनैतिक संगठन से स्वतन्त्र, उच्च तथा प्राचीन है और कानून उद्देश्य सम्बन्धी (Objective) है, न कि अधिकरण सम्बन्धी (Subjective)।[4] कानून सामाजिक स्थायित्व अथवा मनुष्यों की अन्तर्निर्भरता की दशा है। वे सामाजिक हित में हैं, इसलिए उनका पालन होता है। कानून राज्य को बाध्य करते हैं, कानून राज्य से बाध्य नहीं। अत राज्य के कर्तव्यों पर बल दिया जाय न कि अधिकारों पर। राज्य का गुण जनसेवा (Public service) है न कि संप्रभुता का उपभोग। गैटेल (Gettell) ने उपयुक्त ही कहा है—"ड्यूगी की प्राथमिक रूप से सामाजिक समूहों का राज्य में राजनैतिक महत्व दिखलाने में ही रुचि नहीं है उसकी मुख्य रुचि प्रशासकीय कार्यों पर न्यायिक प्रतिबन्ध लगाकर एक उत्तरदायी राज्य के सिद्धान्त के विकास में है।"[5] वास्तव में सामाजिक स्थायित्व (Social Solidarity) उसके राजदर्शन का आधार है। इस प्रकार ड्यूगी ने न्यायालयों की शक्ति बढ़ा दी, कानून का समाजीकरण हुआ तथा राज्य अपनी सेवाओं के लिए न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी हुआ।

क्रैब (Krabbe) ने भी ड्यूगी के अनुसार मत रखते हुए कानून को राज्य से

1 "The notion of an independent sovereign state is on international side, fatal to the well-being of the humanity" —Laski.

2 "It would be of lasting benefit to the society if the whole concept of sovereignty is surrendered" —Laski.

3 "The authority of law is independent of state power" —Duguit

4 "Law is independent of, superior and anterior to, political organisation, and that law is objective, not subjective" —Duguit.

5 "Duguit is not primarily interested in the political importance of social groups within the state; his chief interest lies in placing judicial limitations on administrative action and in developing the theory of state responsibility." —Gettel.

उच्चतर माना है। यह राज्य के निवासियों के विवेक से सफल होता है। शक्ति राज्य का आवश्यक गुण नहीं, राज्य एक वैधानिक समुदाय है। इस प्रकार इन विचारकों ने राज्य पर भी कानून की सीमा मान कर राज्य की सम्प्रभुता सम्बन्धी इस विचार का विरोध किया कि 'कानून सम्प्रभु का उद्देश्य है।'[1]

राज्य की सम्प्रभुता के बारे में ए० डी० लिंडसे (A D Lindsay) का मत है कि 'यदि हम तथ्यों पर देखते हैं तो यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त भग हो चुका है।"[2] बार्कर (Barker) के अनुसार "कोई भी राजनैतिक धारणा इतनी निष्फल नहीं हो गई है, जितना कि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त।'[3] लास्की (Laski) की राय में "सम्प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त को राजनैतिक दर्शन के लिए मान्य बना देना असम्भव है।"[4] क्रेब (Krabbe) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "सम्प्रभुता की धारणा को राजनीतिशास्त्र में से निकाल देना चाहिए।"[5]

इन विचारों से स्पष्ट है कि एक के स्थान पर अनेक की प्रतिष्ठा बहुलवाद है। समाज में राजनैतिक सम्प्रभु एकमात्र राज्य ही नहीं, अनेक हैं। इसके अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र एवं राज्य के समकक्ष अनेक समुदायों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया जाता है। ये समुदाय राज्य के अधीन न होकर उसके समकक्ष होने चाहिए और इस प्रकार समाज का संगठन प्रभुता की दृष्टि से एकात्मक न होकर संघात्मक होना चाहिए।

सैद्धान्तिक दुर्बलतायें

एकत्ववाद (Monism) की अतिशयता के विरोध में जब बहुलवादी भी अति शयता से काम लेते हैं, तो उनका दृष्टिकोण निश्चय ही ऐसा हो जाता है जिसे एकत्ववादी अनर्थवाद के जोड़ में बहुलवादी अनर्थ की संज्ञा दी जा सकती है। उदाहरणार्थ लिंडसे के इस कथन को मानकर कि "सम्प्रभु राज्य का सिद्धान्त वस्तुतः खण्डित हो चुका

1 'Law is the command of the sovereign"

2 "If we look at the facts it is clear enough that the theory of the sovereign state has broken down" —A D Lindsay

3 'No political phenomenon has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign state' —Barker

4 "It is possible to make the legal theory of sovereignty valid for political philosophy —Laski.

5 'The notion of sovereignty must be expunged from political theory' —Krabbe.

है।"[1] बार्कर की इस टिप्पणी को ठीक मान कर कि "राजनीतिशास्त्र में संप्रभु राज्य के सिद्धान्त से बढ़कर शुष्क और व्यर्थ का विषय कोई नहीं है,"[2] क्रेब के इस सुझाव को मान कर कि "सम्प्रभुता के सिद्धान्त को राजनीति से हटा देना चाहिये," [3] कोल के इस मत को मानकर कि "सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी तथा सार्वभौम राज्य की कल्पना अब अतीत की बात हो गई है" अथवा लास्की के इस सुझाव को मान कर कि "यदि सम्प्रभुता के विचार को त्याग दिया जाय तो राजनीतिशास्त्र को स्थाई लाभ होगा,"[4] यदि बिना राजकीय सम्प्रभुता के राजनैतिक समाज की कल्पना की जाय तो अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा, क्योंकि ऐसी दशा में सब समुदाय अपनी-अपनी चलायेंगे, वह एक अराजकता (Anarlhy) की दशा होगी।

सभी बहुलवादी विचारक इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि एक संस्था को संप्रभु बनाये बिना राजनैतिक समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि सभी ने विविध समुदायों के अस्तित्व, उनकी स्वतन्त्र सत्ता के विकेन्द्रीकरण आदि की बात करते हुए भी, एक ऐसी संस्था के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार किया है जो विविध समुदायों के सम्बन्धों में सामंजस्य बनाये रख सके तथा समन्वय (Coordination) का कार्य कर सके। लास्की जैसा स्वतन्त्रता (Liberty) का तीव्र समर्थक भी राज्य को सामंजस्य स्थापना के अतिरिक्त राष्ट्रीय उद्योग के प्रबन्ध तथा सचालन का अधिकार देते हुए कहता है कि 'वैधानिक दृष्टि से यह झुठलाया नहीं जा सकता कि प्रत्येक राज्य में किसी न किसी अंग की सत्ता असीमित होती है।"[5] राज्य के ये कार्य ऐसे हैं जिनके सम्पादन से सम्बन्धित शक्ति राज्य के पास होने के कारण उसकी स्थिति अन्य समुदायों से उच्चतर हो जायेगी। यही कारण है कि बहुलवादियों की यह कह कर आलोचना की जाती है कि वे "सम्प्रभुता को सामने के द्वार से बाहर निकाल कर पीछे के द्वार से पुनः वापस लाते हैं।" वास्तविकता यह है कि बहुलवादी विचारकों में यह अन्तर्विरोध है कि वे सिद्धान्त रूप से राजकीय सम्प्रभुत्व का बड़े उत्साह से विरोध करते, जब उनके संस्था सम्पन्न पक्ष की बात करते हैं, तो विवश होकर उन्हें राज्य के संप्रभुत्व का समर्थन किसी न

---

1. 'The theory of sovereign state has broken down."—Lindsay.

2 "No political common place has become more arid and unfruitful than the doctrine of the sovereign state" —Barker.

3 'The theory of sovereignty must be expunged from politics" —Krabbe.

4 "It would be of lasting benefit to the society, if the whole concept of sovereignty is surrendered" —Laski.

5 "Legally no one can deny that there exists in every state some organ whose authority is unlimited" —Laski.

किसी रूप में प्रवेश करना पड़ता है। समाजशास्त्री विधि विचारकों द्वारा राज्य के सम्प्रभुत्व का विरोध एकपक्षीय है। कानून का आधार न तो केवल सामाजिक मान्यता ही है और न केवल राजकीय स्वीकृति। सामाजिक मान्यता यदि उसके विषय का निरूपण करती है तो राजकीय स्वीकृति उसका रूप निर्धारण करती है। अतः कानून के सम्बन्ध में रूप निर्धारण सम्बन्धी प्रभुता हमें राज्य को अवश्य देनी होगी।

बहुसमुदायवादियों ने समुदायों के स्वतन्त्र प्रभुत्वपूर्ण अस्तित्व के आधार पर व्यक्ति की बहुमुखी उन्नति की कामना की है परन्तु इसमें समुदाय पूर्णतः निरंकुश हो जाएंगे। समुदायों को पूर्णतः निरंकुश मानने से उनकी स्थिति भी वही हो सकती है जिसका दोषी हम प्रभुत्व सम्पन्न राज्य को मानते हैं और राज्य की तरह समुदाय साध्य तथा व्यक्ति साधन बन सकता है। व्यक्ति को इस प्रकार की स्थिति से बचाने के लिए राज्य की सर्वोच्चता व्यक्ति एवं समुदायों दोनों पर आवश्यक है चाहे इसमें बहुलवाद का कितना भी खण्डन क्यों न होता हो। स्वयं बार्कर ने भी 'सामुदायिक अत्याचार' (Group tyranny) से व्यक्ति की रक्षा करने का कार्य राज्य का बताया है।

इस प्रकार बहुलवादी विचारधारा विरोधाभासों तथा असंगतियों से भरी हुई है। इसके विचारक निश्चित लक्ष्य के प्रति एकमत नहीं हैं। ये बहुलवादी समाज की संगठन, सदस्यता, अधिकार, निष्ठा, नियन्त्रण, समन्वय, सामंजस्य आदि की समस्याओं के बारे में निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल सके। ये जिस राज्य की सम्प्रभुता एवं एकत्ववादी (Montinstic) सिद्धान्त की आलोचना करने चले थे घूम कर तथा विवश होकर उसी की सत्ता प्रकारान्तर रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

बहुलवाद की देन और महत्त्व

बहुलवाद ने अराजकतावाद एवं एकत्ववाद (Monism) के मध्य की स्थिति लेते हुए, एकत्ववाद की अतिवादिता के जोड़ में यद्यपि अनेक ऐसी बातों का प्रतिपादन भी किया है जो अतिवादितापूर्ण है तथा विरोधाभासों एवं असंगतियों से युक्त है फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि बहुलवाद ने एकत्ववाद के उस एकाधिकारवादी गढ़ को ध्वस्त करने हुए जनवाद की पुष्टि की है जिसकी आड़ में समय-समय पर व्यक्ति को राज्य का दास बनाया जाता रहा है और जगत के समक्ष इस सत्य को और स्पष्टतः प्रकट कर दिया है कि व्यक्ति के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसे अपने जीवन के विविध पहलुओं से सम्बन्धित विविध समुदायों के अन्तर्गत संगठित होने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उसके इन समुदायों को मानव जीवन के विकास के लिए कार्य करने की आवश्यक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। इसी प्रकार इसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सच्चा लोकतन्त्र वह नहीं है, जिसमें व्यक्ति निर्वाचन के समय मतदान भर कर दे और शेष सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का संचालन एक केन्द्र से होता रहे

वरन् सच्चा लोकतंत्र वह है जिसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो, व्यक्ति सामाजिक जीवन की समस्याओं के प्रति सदा सजग रहे और सामूहिक सामाजिक विकास में वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार योग दे सके। इसके फलस्वरूप सभी प्रजातन्त्रीय वेत्ताओं ने विकेन्द्रीकरण, संघों के अस्तित्व और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की आदर्श व्यवस्था स्वीकार किया।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुलवाद की यह सेवा एवं योगदान महत्वपूर्ण है कि राज्य समूह जीवन (Group life) को समझ सका। यह स्वीकार किया गया कि व्यक्ति के बहुमुखीय विकास में उसके बहुत से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक एवं राजनैतिक समुदायों का योगदान है तथा इन्हें राज्य के समकक्ष मान्यता प्रदान हो, राज्य का इन पर सीमित अधिकार हो।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी बहुलवाद ने मानववाद (Humanism) तथा अन्तर्राष्ट्रवाद (Internationalism) के आधार पर, अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International law) के अन्तर्गत विश्वशान्ति-सहयोग-सहअस्तित्व एवं सद्भावना के लिए राज्यों की बाह्य संप्रभुता (External Sovereignty) पर नियन्त्रण की बात कर महत्वपूर्ण कार्य किया। परिणामस्वरूप हम राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा हेग न्यायालय (Hague Tribunal) ने इस ओर कदम बढ़ाया तथा आज संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization) की सफलताओं को देखते हुए हम 'विश्व संघ' (World Federation) के संरक्षण में मानवता की सुरक्षा की परिकल्पना कर रहे हैं।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि हालांकि बहुलवाद की विचारधारा पूर्ण स्पष्ट एवं निश्चित उद्देश्यों वाली न होकर महान् विरोधाभासों तथा असंगतियों से युक्त है, फिर भी इसने राज्यों की बाह्य एवं आन्तरिक संप्रभुता पर नियंत्रण लगाते हुए उसे शक्ति प्रयोक्ता के स्थान पर समाजसेवी बनाने में मदद की है।

BIBLIOGRAPHY

1. COPER. F. W. : "Recent Political Thought," Ch. XVIII.
2 LASKI H. J : "The Problems of Sovereignty" (1917)
: "Authority in the Modern State." (1919)
: "A Grammar of Politics." (1925)
3. MACIVER : "The Modern State."
4. BARKER E - "Political Thought in England from Spencer to Today."
5 AUSTIN, J. : "Lectures in Jurisprudence-Vol 1, Lecture VI.

१३

नेहरू की विरासत

(LEGACY OF NEHRU)

•

—विद्यासागर शर्मा

•

"नेहरूजी के सक्रिय और सार्वदेशिक नेतृत्व के बिना भारत के स्वरूप का चिन्तन लगभग असम्भव सा लगता है। हमारे देश के इतिहास का एक युग समाप्त हो गया है।"[1]

वास्तव में 27 मई, 1964 को श्री जवाहरलाल नेहरू के निधन के साथ भारत में एक युग की समाप्ति होती है, जिसे 'नेहरू युग' (Era of Nehru) कहा जा सकता है। वैसे 1916 में कांग्रेस के 'लखनऊ-अधिवेशन' में महात्मा गांधी से प्रथम भेंट के साथ नेहरूजी का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ था। बाद में 'होम रूल लीग' एवं 'असहयोग आन्दोलन' में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। परन्तु 'नेहरू युग' का प्रारम्भ 1929 से माना जा सकता है, जब कांग्रेस ने उनकी अध्यक्षता में 'लाहौर-अधिवेशन' में 'पूर्ण स्वाधीनता' (Complete Independence) के ध्येय की घोषणा की थी। 1929 से 1946 तक 'नेहरू युग' का 'पूर्वकाल' एवं 1947 से 1964 तक 'उत्तर काल' माना जा सकता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में नेहरूजी ने समाजसेवी, जागरूक प्रहरी, वीर योद्धा, राष्ट्र प्रेमी एवं एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में महात्मा गांधी के नेतृत्व में आन्दोलन का सफल संचालन किया था। 2 सितम्बर, 1946 को गठित 'अन्तरिम सरकार' (Interim Government) में कार्यकारिणी समिति के उपप्रधान मनोनीत हुए। स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री तथा योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में मृत्यु पर्यन्त भारत के नवनिर्माण, प्रगति, वैज्ञानिक व तकनीकी विकास द्वारा नवीनीकरण, प्रजातान्त्रिक समाजवाद, धर्म-निरपेक्षवाद तथा एक मौलिक एवं स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के सपने की पूर्ति हेतु जीवन भर जूझते रहे। एक अन्तर्राष्ट्रवादी व मानवमात्र के

---

1 'It will be difficult to reconcile ourselves to the image of India without Nehru's active and all pervasive leadership. An epoch in our country's history has come to a close."

—*Dr. Radhakrishnan 'The Hindustan Times' (May 29, 1954)*

कल्याण के इच्छुक होने के नाते विश्व-बन्धुत्व, सहयोग एवं सद्भावना, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, सहिष्णुता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और समता, पंचशील, असंलग्नता, निरस्त्रीकरण तथा अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण रचनात्मक प्रयोग पर सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बल देकर नेहरूजी ने न केवल 'अफ्रो-एशियाई आन्दोलन' अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन किया, अपितु समस्त मानवता के कल्याण का मूलमन्त्र देकर 'युग के महामानव' का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

भारत व विश्व को नेहरूजी की विरासत का वर्णन करने से पूर्व, नेहरूजी को 1947 में नेतृत्व सम्भालने के समय विरासत में मिली जटिल एवं विकट समस्याओं का परिचय अनिवार्य है, जिससे यह जाना जा सके कि उन्होंने किस स्थिति में शासन भार सम्भाला था। दो शताब्दियों के उपनिवेशीय शोषण तथा विश्व युद्ध के विनाश के परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा बिगड़ चुका था। निर्धनता के साथ ही अज्ञान व अन्धविश्वास का बोलबाला था। विभाजन द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्ण कटु मनोवृत्ति व्याप्त थी। 600 'देशी-रियासतें' (Native States) देश की एकता में बाधक थीं। सामान्य जनता प्रजातान्त्रिक स्वशासन (Democratic self-government) से अपरिचित व अपनी शक्ति के प्रति अजागृत होते हुए भी नवीन शासनकर्ताओं से पुनर्वास व विकास सम्बन्धी जटिल समस्याओं के शीघ्र समाधान की आकांक्षा कर रही थी। महात्मा गांधी की हत्या से नेतृत्वहीन होने के कुछ ही समय बाद, बुद्धि चातुर्य व क्षमता द्वारा देश का राजनीतिक एकीकरण करने वाले सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे योग्य साथी की मृत्यु से नेहरूजी पर काम का बोझ और अधिक आ पड़ा। कश्मीर पर आक्रमण गांधीजी व कांग्रेस द्वारा निर्धारित शान्तिवादी नीति को एक चुनौती था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी शीतयुद्ध (Cold War) की स्थिति व्याप्त थी। इन सब समस्याओं एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही नेहरूजी ने भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक परम्पराओं, गांधी व टैगोर के मानववाद, बुद्ध व अशोक की करुणापूर्ण अहिंसा तथा वैज्ञानिक मानववाद (Scientific humanism) पर आधारित विश्वासपूर्ण भावी सम्भावनाओं की परिकल्पना की। उनकी मानवता के प्रति सेवा एवं विरासत का मूल्यांकन भारतीय संसद में उपयुक्त ही किया गया है —

"राष्ट्रपिता (महात्मा गांधी) के देहान्त के बाद यह राष्ट्र के लिए सबसे बड़ी क्षति है—— श्री जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत के मुख्य शिल्पी थे। उनका सम्पूर्ण जीवन न केवल राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य, एकता एवं स्थायित्व के आदर्शों के लिए, अपितु विश्वशान्ति तथा प्रगति के लिए भी समर्पित था।"[1]

---

1 "The country has suffered it's greatest loss since the death of the Father of the Nation Jawaharlal Nehru was the chief architect of modern India His entire life was dedicated not only

राष्ट्रीय विरासत (National Legacy)

मार्शल, टीटो के ये शब्द यथार्थ हैं कि 'नेहरूजी आधुनिक भारत के शिल्पी' थे।[1] १७ वर्ष तक देश के एकमात्र नेता, शासक व नियामक रह कर नेहरूजी ने देश को एक करने, जनतन्त्र की जड़ें मजबूत करने एवं प्रशासन को स्थायित्व प्रदान करते हुए नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए भागीरथ प्रयत्न किया।

प्रजातंत्र (Democracy)

भारत ने नेहरूजी के नेतृत्व में प्रजातान्त्रिक विकास किया। भारत के प्रजातान्त्रिक संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत नागरिक अधिकारों का पूर्ण ध्यान रखा गया है। नेहरूजी ने पाश्चात्य साहित्य एवं दर्शन का गहन अध्ययन तथा राजनैतिक व्यवस्था और संस्थाओं का अवलोकन किया था, अतः वे भारत में भी संसदीय जनतन्त्र (Parliamentary Democracy) द्वारा प्रजातन्त्र की नींव डालने एवं स्वस्थ परम्पराओं को जन्म देने में सफल हो सके। उन्होंने विश्व के सबसे बड़े प्रजातान्त्रिक देश के लगातार १७ वर्ष तक प्रधानमंत्री रह कर संसद् व संसदीय जनतंत्र के लिए अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किये। अपने भाषणों व यात्राओं द्वारा जनसम्पर्क स्थापित कर वे भारत की जनता के हृदय सम्राट् बन गए थे। उन्होंने विरोधी दल के महत्व को समझते हुए उनके विकास व पनपने की हार्दिक इच्छा रखी। परन्तु उनके अनुसार प्रजातंत्र का लक्ष्य अत्यन्त उच्च था—

"प्रजातंत्र शासनस्वरूप, मतदान, चुनाव आदि से बढ़ कर कुछ और है। अन्ततोगत्वा, यह एक विशेष प्रकार के चिन्तन, कार्य एवं व्यवहार वाली जीवनधारा है। आन्तरिक भावना की पूर्ति न करते हुए इसे बाहरी ढांचा मात्र देने से यह सफल नहीं हो सकता।"[2]

---

to the ideals of national freedom, unity and solidarity but equally to those of world peace and progress."

—'*The Gazette of India*' (*July*, *page 50*).

1. 'Nehru was the architect of modern India'

—*Josip Broz Tito : Nehru—As I Understood Him*'
('*The Illustrated Weekly of India*'—*Nov. 22, 64, p. 12*)

2. "Democracy is something deeper than a form of government—voting, elections, etc. In the ultimate analysis, it is a manner *of thinking, a manner of action, a manner of behaviour. If the* inner content is absent and if you are just given the outer shell, well, it may not be successful."

—'*Link*' : *August 15, 1964, p. 18.*

प्रजातंत्र के महत्त्व को एवं संसदीय प्रजातंत्र की भावना को समझने के कारण ही अवसर पाते हुए भी व संविधान की ७४ वीं धारा[1] के अस्पष्ट होने पर भी एक तानाशाह या निरंकुश शासक का रूप न अपना कर उन्होंने प्रजातन्त्र और जनतन्त्र की सच्ची सेवा की।

धर्मनिरपेक्षवाद (Secularism)

नेहरूजी भारत की राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता तथा सांस्कृतिक बहुलता एवं समन्वय के समर्थक थे। अल्पसंख्यकों के उत्थान के प्रति उनके मन में सहानुभूति थी। परन्तु वे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता (Communalism) के विचारों को पसन्द नहीं करते थे, जैसा कि उन्होंने ७ अक्टूबर १९४८ को देहली में रेडियो भाषण में कहा था—"हम इस देश में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता को सहन नहीं करेंगे।"[2] वे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय में जिन्ना के 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' (Two-nation Theory) तथा 'हिन्दू-महासभा' के दुष्परिणाम देख चुके थे। वे रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'विश्ववाद' की समन्वयात्मक विचारधारा से प्रभावित थे, परन्तु उन्हें स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, पाल व अरविन्द घोष द्वारा की गई, राष्ट्रवाद की धार्मिक व्याख्या पसन्द न थी।[3] नेहरूजी के प्रयत्नों से भारतीय संविधान के तृतीय भाग के मौलिक अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेदों में धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त अपनाया गया है (अनु. २५ से २८)। डॉ. वी. पी. वर्मा के अनुसार—"नेहरूजी अपने दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्ष रहे हैं ...... धर्मनिरपेक्षवाद के प्रति नेहरूजी की महान निष्ठा ने भारत के अल्पसंख्यक वर्गों को महान् राहत दी है। विवेकशीलता पर बल देने वाली वैज्ञानिक पद्धति के प्रति उनकी निष्ठा ने उनकी राष्ट्रवादी राजनैतिक विचारधारा के विकास में योगदान किया है, जो धर्म-निरपेक्षवादी प्रजातन्त्र पर बल देती है तथा मध्यकालीन प्रवृत्तियों, संकीर्णता एवं धार्मिक कट्टरता को चुनौती है।"[4]

---

1. "There shall be a Council of Ministers with the Prime Minister at the head to aid and advise the President in the exercise of his functions."

"The Constitution of India"—Part V-Art 74 (1)

2. N. B. Sen "Wit and Wisdom of Nehru", Page 539

3. Jawaharlal Nehru "Glimpses of World History", page 437.

4. "Nehru has been secularist in his approach ......Nehru's heroic loyalty to secularism has been a great relief to the minority groups in India. His devotion to scientific methodology with its stress on rationalism has helped the evolution of his nationalist political ideology which in its emphasis on secularist democracy is a

समाजवाद (Socialism)

नेहरूजी ने मार्क्सवाद, फेबियनवाद आदि समाजवाद की विभिन्न धाराओं का अध्ययन किया था। नवम्बर, १९२७ की रूस यात्रा में नेहरूजी को वहाँ की शैक्षणिक, नारी-स्वातंत्र्य तथा कृषक अवस्था के क्षेत्र में प्रगतिशील सुधार देखने का अवसर प्राप्त हुआ।[1] १९२७ में योरोप से लौटने के उपरान्त उन्होंने समाजवाद के विचारों की अभिसिद्धि की। उनके अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता महत्व-हीन है। इसीलिए १३ दिसम्बर, १९४६ को संविधान सभा में उन्होंने विश्वासपूर्ण शब्दों में कहा—"मैं समाजवाद तथा इस बात का हिमायती हूँ कि भारत एक समाजवादी राज्य के विधान की ओर बढ़ेगा और मुझे दृढ़ विश्वास है कि सारे संसार को इस मार्ग पर अग्रसर होना होगा।"[2]

इस ध्येय के लिए उन्होंने समाजवादी समाज व राज्य की कल्पना की। १९३० के 'कराँची-अधिवेशन' में प्रजातांत्रिक व सामाजिक विचारधारा के अनुरूप मौलिक अधिकारों की माँग द्वारा इसकी नींव रखी गई। पंचवर्षीय योजनाएँ (Five year plan) उनकी इसी दूरदर्शिता का परिणाम है। उन्होंने राजनैतिक व आर्थिक प्रजातंत्र की एकरूपता करने का प्रयास किया, जिसका प्रमाण है योजना आयोग (Planning Commission) के अध्यक्ष के रूप में समाजवादी व प्रजातंत्रीय आधारों पर नियोजित विकास के अन्तर्गत मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) को प्रश्रय देना। नेहरूजी ने १९३९ में 'नेशनल प्लानिंग कमेटी' (National Planing Committee) के चेयरमैन के रूप में औद्योगीकरण (Industrialization) द्वारा सुदृढ़ स्वतंत्र भारत की कल्पना की। स्वतंत्र भारत के तीव्र आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक विकास के साथ ही कृषि एवं भूमिसुधार द्वारा जमींदारों के शोषण से दबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का परिवर्तन चाहा। १९४८ में 'काँग्रेस कमेटी' ने नेहरूजी द्वारा निर्मित यह प्रस्ताव पारित किया—

"हमारा उद्देश्य एक ऐसे आर्थिक ढाँचे का निर्माण होना चाहिए जो बिना व्यक्तिगत एकाधिकार तथा पूँजी के केन्द्रीकरण के अधिकतम उत्पादन प्रदान करते

---

counterpoise to medievalism, obscurantism and religious dogmatism."
—Dr. V. P. Verma Modern Indian Political Thought",
page 475 and 476.

1. "Jawaharlal Nehru : "Soviet Russia" (Allahabad, Law Journal Press, December, 1928), pages 63–74.

2. "I stand for socialism and that India will go towards the constitution of a Socialist State and I do believe that the whole world will have to go that way."
—(Speech in a Constituent Assembly, Dec. 13, 1946)

हुए शहरी व ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उपयुक्त संतुलन पैदा करेगा। ऐसा सामाजिक ढांचा व्यक्तिगत लाभ लालसा से संचालित निजी पूंजीवाद की अर्थ-व्यवस्था तथा एकाधिकारवादी राज्य की नियन्त्रवृत्ति का विकल्प हो सकता है।"[1]

इस उद्देश्य पूर्ति के लिए नेहरूजी ने जीवन, समाज व सरकार के सम्बन्ध में समाजवाद एवं प्रजातान्त्रिक साधनों को मिलाना चाहा, जैसी श्री सुभाषचन्द्र बोस को ३ अप्रेल, १९३६ को लिखे पत्र के अनुसार उनकी प्रवृत्ति थी—"मेरा ख्याल है कि मैं स्वभाव व शिक्षा-दीक्षा से एक व्यक्तिवादी तथा विचारों से एक समाजवादी हूं, भले ही इसका कुछ भी अर्थ निकले। मेरा मत है कि समाजवाद व्यक्तिवादिता का मर्दन अथवा दमन नहीं करता; वास्तव में, मैं इसके प्रति आकर्षित हूं, क्योंकि यह असंख्य व्यक्तियों को आर्थिक व सामाजिक बंधनों से मुक्त करेगा।"[2]

इस समाजवाद की अवधारणा में नेहरूजी ने 'मध्यम मार्ग' (Middle way) का अनुसरण करते हुए प्रजातान्त्रिक साधनों द्वारा समाजवादी समाज व राज्य की स्थापना चाही न कि क्रान्तिपूर्ण व हिंसायुक्त साधनों द्वारा। १९५४ में लोक-कल्याणकारी राज्य (Welfare state) का लक्ष्य रखने के उपरान्त १९५५ के 'आवडी-अधिवेशन' में 'समाजवादी समाज के ढांचे' (Socialistic Pattern of Society) की परिकल्पना की। १९५८ के 'नागपुर अधिवेशन' में 'सहकारी खेती' (Co-operative Farming) का परिचय दिया। १९६४ के 'भुवनेश्वर अधिवेशन' में 'प्रजातान्त्रिक समाजवाद' (Democratic Socialism) द्वारा समाजवादी राज्य (Socialist State) की मान्यता रखी गई। भारतीय अर्थ-व्यवस्था एवं आयोजन में विदेशी ऋण (Loan) की भरमार, ऊंचा कर भरमार (Tax), 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' (Mixed Economy) के अन्तर्गत 'निजी क्षेत्र' (Private Sector) को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान व समुचित

---

1. "Our aim should be to evolve ....an economic structure which will yield maximum production without the operation of private monopolies and the concentration of wealth, and which will create a proper balance between urban and rural economies. Such a social structure can provide an alternative to the acquisitive economy of private capitalism [and the regimentation of a totalitarian state". —'Link' : August 15, 1964, page 22.

2. "I suppose I am temperamentally and by training an individualist and intellectually a socialist, whatever all this might mean. I hope that socialism does not give or suppress individuality; indeed I am attracted to it because it will release innumerable individuals from economic and cultural bondage." —N. B. Sen : "Wit and Wisdom of Nehru", page 553.

तथा राष्ट्रीयकरण (Nationalization) के प्रति झिझक के कारण आलोचना होने पर भी कांग्रेस व देश में समाजवाद के सामाजिक व आर्थिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने में नेहरूजी का महत्वपूर्ण स्थान है।[1] वे मृत्युपर्यन्त देश में सामाजिक न्याय एव आर्थिक समानता के लिए प्रयत्नशील रहे तथा अपनी पैड' पर अमरीका कवि राबर्ट फ्रास्ट (Robert Frost) की कविता की इन पंक्तियों को लिखकर कर्मयोगी की तरह यह बताया कि 'सब कागजों व फाइलों को भुगता' कर भी वे 'आराम हराम' समझते थे—

> "The woods are lovely, dark and deep,
> But I have promises to keep
> And miles to go before I sleep,
> And miles to go before I sleep "[2]

नवीनीकरण

वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास —नेहरूजी ने इलाहाबाद, हैरो व कैम्ब्रिज के अध्ययन काल में विज्ञान और पाश्चात्य दर्शन का गहन अध्ययन किया था, जिसका उन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।[3] बर्नार्ड शॉ (Bernard Shaw) और बट्रेन्ड रसैल (Bertrand Russell) के विचारों का उन पर महान् प्रभाव पड़ा था। उन्होंने वैज्ञानिक मानववादी (Scientific Humanism) पद्धति से भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक यहाँ तक कि धार्मिक समस्याओं का समाधान किया। नारी के सामाजिक व वैधानिक उत्थान, अस्पृश्यता निवारण, शिक्षाप्रसार तथा-पुरातन परम्पराओं, सामाजिक दोषों व धार्मिक आडम्बरों विरोधी विचार उन द्वारा भारत के नवीनीकरण के प्रमाण हैं। देश के औद्योगीकरण, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी विकास तथा वैज्ञानिक वातावरण बनाने के लिए उन्होंने तर्क, विवेक व यथार्थवाद से युक्त व्यवहारवादी पद्धति का सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक प्रयोग किया। राजनैतिक व आर्थिक विचारों को धार्मिक रहस्यवाद पर आधारित आलकारिक भाषा का जामा पहनाना उन्हें पसन्द न था।[4] परन्तु वे इस नवीनीकरण में भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूलाधारों तथा मानवीय सहनशीलतायुक्त करुणा के पक्षपाती थे।

1 Dr. V P Verma "Modern Indian Political Thought", page 480

2 Robert Frost

3 Jawaharlal Nehru : "An Autobiography".

4 ".........my preferences are all for science and the methods of science"

—Nehru · "Glimpses of World History", ch. 56, p. 173

आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनैतिक चिन्तन' को नवदिशा

"मेरी कहानी", "विश्व इतिहास की झलक", "भारत की खोज" तथा "पिता के पत्र पुत्री के नाम"[1] आदि ग्रन्थों द्वारा नेहरूजी ने 'आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनैतिक चिन्तन' (Modern Indian Social and Political Thought) के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। ग्रन्थों के अलावा इनके 'भाषण-संग्रह' भी पठनीय हैं। राष्ट्रवाद की धर्मनिरपेक्ष व्याख्या, पुरातनवाद (Revivalism) एवं सम्प्रदायवाद (Communialism) की निन्दा, गांधीवाद की व्यावहारिक क्रियान्विती, संसदीय जनतंत्र एवं प्रजातांत्रिक समाजवाद की सिद्धि में प्रयत्न तथा उदारवाद (Liberalism) के आवरण में उग्रवादी (Extremist) कार्यक्रम द्वारा 'आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनैतिक चिन्तन' को नई दिशा प्रदान की है। इनकी नवीनतम विचारधाराओं, समाजवाद (Socialism) एवं अन्तर्राष्ट्रवाद (Internationalism) के आवरण में प्रजातन्त्र और समाजवाद तथा पूर्व और पश्चिम के प्रशंसनीय समन्वयवाद (Synthesism) की उद्भावना की है। श्री के. पी. करुणाकरण के अनुसार नेहरूजी समाजवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रमुख विचारकों में से एक थे'।[2] डॉ. वी. पी. वर्मा के शब्दों में नेहरूजी के योगदान का सही मूल्यांकन इस प्रकार किया जा सकता है—"नेहरूजी उन अर्थों में एक राजनैतिक दार्शनिक नहीं हैं, जिन अर्थों में यह विशेषण सिसरो, हॉब्स या रूसो के बारे में लागू होता है। लेकिन निश्चय ही वे एक विचारक व्यक्ति हैं। एक क्रियाशील महान् व्यक्ति होते हुए भी, नेहरूजी में दार्शनिक विरक्ति की क्षमता है तथा एक अन्तर्मुखी विचारक की तरह वे प्रायः सन्देह और अन्वेषणवृत्ति से सन्तापित रहते हैं ... वैज्ञानिकता और आधुनिकता की भावना को भारतीय राजनैतिक व सामाजिक चिन्तन के प्रति इनका योगदान माना जा सकता है।"[3]

---

1 'Autobiography" (1936) 'Glimpses of World History" (1938) "The Discovery of India" (1946), 'Letters From a Father to His Daughter" (1938)

2 "Pandit Jawaharlal Nehru was one of the outstanding exponents of socialism and internationalism"

—K P Karunakaran "Modern Indian Political Tradition" page 27-28

3 "Nehru is not a political philosopher in the sense in which this appellation is applied to Cicero or Hobbes or Rousseau But certainly he is a man of ideas Although a great man of action, Nehru has the capacity for philosophic detachment and like a thinking introvert he has often been tormented by doubts and quests . .

व्यावहारिक गांधीवाद

1916 के 'लखनऊ–अधिवेशन' में स्थापित गांधीजी से नेहरूजी का सम्बन्ध चिरकाल तक बना व बढ़ता रहा। नेहरूजी की सदैव उनके प्रति हार्दिक व भावनात्मक भक्ति एवं श्रद्धा बनी रही।[1] महात्माजी से भी प्रसाद व आशीर्वाद के रूप में नेहरूजी को बहुत कुछ मिला।[2] परन्तु नेहरूजी गांधीजी का अन्धानुकरण करने को तैयार न थे। संसद् सदस्य श्री कमलनयन बजाज ने 4 जनवरी, 1964 को अहमदाबाद में युवक कांग्रेस के तत्वावधान में आयोजित एक सभा में संस्मरण सुनाते हुए अंग्रेजों और अंग्रेजियत के बारे में गांधीजी और नेहरूजी का ऐसी प्रकार का मतान्तर बताया। उन्होंने बताया कि गांधीजी ने इस सम्बन्ध में पूछे जाने पर एक बार कहा था–"जवाहरलालजी चाहते हैं कि अंग्रेज यहाँ से चले जाएं और अंग्रेजियत बनी रहे, और मैं चाहता हूँ कि अंग्रेज चाहे हमारे देश में रहें, लेकिन हमारे देश से अंग्रेजियत चली जानी चाहिए।"[3] यह माना जा सकता है कि राजनैतिक विचारों में तो दोनों की लगभग समान धारणा थी, परन्तु सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर सैद्धान्तिक मतभेद था। गांधीजी के देहान्त के बाद नेहरूजी ने गांधीवाद को नवीन, व्यावहारिक, यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। तर्क, विज्ञान एवं पाश्चात्य प्रभाव वाले नेहरूजी का विश्वास, आध्यात्म एवं मानवीयता के पुजारी महात्मा गांधी से उसी प्रकार का सम्बन्ध एवं विभिन्न दृष्टिकोण रहा जैसा अभिराम, कुलीन, कविता एवं मल्ल विद्या में ख्यात शमिक प्लेटो (Plato) तथा भद्दी शक्ल व चाल वाले चुस्त दार्शनिक सुकरात (Socrates) का अथवा वैज्ञानिक विषयों में अनुराग रखने वाले, व्यावहारिक एवं यथार्थवादी उद्गमनात्मक (Inductive) शिष्य अरस्तू (Aristotle) तथा दार्शनिक चिन्तन में रुचि रखने वाले, आदर्श एवं कल्पनावादी निगमनात्मक (Deductive) गुरु प्लेटो का रहा था। इसी प्रकार 'गांधीवाद' और 'नेहरूवाद' में भेद करना भी उसी प्रकार कठिन है, जैसे सुकरात और प्लेटो के विचारों का नीरक्षीर विवेक असम्भव है। नेहरूजी को गांधीजी के 'राजनीति में नैतिक दृष्टिकोण' (Moral approach to politics) एवं 'साधना तथा साधनों की पवित्रता' (The

---

the quest for scientificity and modernism may be regarded as a contribution of Nehru to Indian political and social thinking."

Dr. V. P. Varma : "Modern Indian Political Thought", page 468 and 484

1. Nehru. "Autobiography", page 373
2. Michael Brecher —Nehru : A Political Biography (Ab. Ed.) page 120
3. 'हिन्दुस्तान' 5 जनवरी, 1965.

purity of ends and means) के विचारों ने प्रभावित किया। गाँधीजी के प्रजातन्त्र, स्वातन्त्र्य, निर्भीकता, मानव कल्याण, अहिंसा और शान्ति के विचारों से प्रभावित होकर ही इन्होंने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों में गाँधीजी द्वारा प्रदर्शित तथा समर्थित मार्ग एवं पद्धति पर चलते हुए उन द्वारा सौंपी गई विरासत की सुरक्षापूर्ण अभिवृद्धि में सतत प्रयत्नशील रहे तथा गाँधीजी के इस स्वप्न को पूरा किया—"श्री जवाहरलाल मेरा उत्तराधिकारी होगा...... और मैं यह जानता हूँ कि जब मैं चला जाऊँगा, जवाहरलाल मेरी ही भाषा में बात करेगा। राष्ट्र उसके हाथों में सुरक्षित है।"

कांग्रेस पार्टी

पट्टाभि के अनुसार "गाँधीजी के बाद सबसे ज्यादा प्रभावशाली कांग्रेसी वही थे, जो कांग्रेस को अन्दर से आगे बढ़ने की शक्ति देते और बाहर से रोक भी लगा सकते ......इसे समाजवाद कहो या गाँधीवाद, कांग्रेस जिस चीज के पक्ष में है वह यही है। यही नहीं, जवाहरलालजी जिस चीज को चाहते हैं उसमें और कांग्रेस के आदर्श में और भी ज्यादा अनुरूपता है।"[1]

राष्ट्र द्वारा विश्वास और बहुमत प्राप्त कांग्रेस पार्टी भारत के संसदीय जनतंत्र (Parliamentary Democracy) को नेहरू जी की महत्वपूर्ण विरासत है। राष्ट्रीय आन्दोलन काल में इसी के माध्यम से इन्होंने अपना राजनैतिक जीवन प्रारम्भ किया था। कांग्रेस को पूर्ण स्वाधीनता (Complete Independence) के लक्ष्य से आपने आन्दोलित किया था। विभिन्न अधिवेशनों की अध्यक्षता करते हुए इन्होंने ऐतिहासिक प्रस्ताव रखे थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्रधानमंत्री के रूप में इन्होंने नेताओं व कांग्रेस पार्टी के प्रशासन, संगठन, प्रजातंत्र और जनसेवा का प्रशिक्षण दिया था। 'कामराज योजना' (Kamraj Plan) द्वारा इन्होंने कांग्रेसियों के लिए सत्ता की लोलुपता त्याग कर संगठन की सुदृढ़ता एवं जनसेवा का प्रस्ताव रखा। परन्तु वह संसदीय जनतन्त्र की मान्यताओं और आवश्यक परिस्थितियों से भी परिचित थे, अतः विरोध दलों अथवा राजनैतिक दलों के विकास तथा बाहुल्यात्मकता के महान् समर्थक थे। वे कांग्रेस के निर्विरोध, सर्व सम्मत एवं एकमात्र नेता थे। उनके देहान्त के बाद पार्टी

---

1. "Next to Gandhi, he was the most dynamic Congressman providing the drive for the Congress from within and the brake to it from without call it socialism or call it Gandhism that it exactly what congress seeks And too, there is much more in common between what Congress seeks and what Jawaharlal seeks".

—Dr. Pattabhi Sitaramayya - "The History of the Indian National Congress", page 8 and 27.

का कोई सुदृढ़ नेता नहीं मिल रहा है तथा सामूहिक (Collective) नेतृत्व की आवश्यकता महसूस की गई। कांग्रेस अधिवेशन उनके बिना सूने, नीरस एवं नियन्त्रणहीन दिखाई देते हैं तथा कोई भी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नीति एकमत व सरलता से निर्धारित नहीं हो पाती। दुर्गापुर (कांग्रेस नगर) में कांग्रेस के ६९ वें अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए श्री कामराज ने नेहरूजी की उदारता, प्रेम एवं पथ-प्रदर्शन का स्मरण करते हुए ६ जनवरी, १९६५ को समयोचित चेतावनी दी है—"आज जवाहरलालजी का महान् व्यक्तित्व जो जनता के सम्मुख हमारी गलतियों को ढके हुए था हमारे बीच नहीं है। आज जनता हमारे हरेक कदम की सावधानी से परीक्षा कर रही है। वह हमारी गलतियों को माफ नहीं करेगी।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति

स्वतन्त्र एवं मौलिक विदेश नीति—पिछले ३५ वर्षों में कांग्रेस के विदेश नीति सम्बन्धी प्रायः सभी प्रस्ताव नेहरूजी द्वारा तैयार किए गए थे। विदेश नीति पर उनके *असाधारण प्रभाव का कारण न केवल उनका प्रधानमन्त्री या विदेश मन्त्री होना था,* अपितु वैदेशिक विषयों का अत्यधिक अनुराग, पाण्डित्य एवं अन्तर्राष्ट्रवादी और मानवतावादी विचारक होना रहा है। वे विदेशनीति के नियामक तथा सूत्रधार रहे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की, महाशक्तियों के परस्पर विरोधी गुटों से पृथक् रहने की तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं संगठन को समर्थन, धर्मनिरपेक्षता, संप्रभु राष्ट्रों की स्वतन्त्रता व समानता तथा सहअस्तित्व के उदात्त विचारों पर आधारित शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का मूलाधार रखा-पंचशील को। २० अक्टूबर, १९६२ को चीनी *आक्रमण* पर भी *असंलग्नता की नीति* को न छोड़ कर नेहरूजी ने यह सिद्ध कर दिया कि अन्य देशों की विदेशनीति के समान भारत की विदेश नीति भी कोरे उदात्त आदर्शों पर नहीं है, वह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक कुछ मौलिक ठोस तत्वों से निर्धारित हुई है—भारत जैसे एक नवविकासोन्मुख अर्धविकसित नवस्वतन्त्र राष्ट्रराज्य (New nation state) के लिए असंलग्नता की नीति हितकर थी, जिसका आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और औद्योगिक पुनर्निर्माण होना था। भौगोलिक दृष्टि से ३५०० मील लम्बी समुद्री सीमा एवं ८२०० मील लम्बी स्थली सीमा होने से महाशक्तियों में युद्ध छिड़ने पर किसी गुट में होने पर दूसरे दल को रुष्ट कर उस ओर की सीमा को असुरक्षित करना हितकर न था। विदेशनीति भारत की परम्परागत शान्ति, सहिष्णुता, सद्भावना और उदारता की नीति, वेदान्तवाद, बुद्ध तथा महात्मा गांधी की अहिंसा एवं अशोक की करुणा की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीतयुद्ध (Cold-war) एवं शक्ति के द्विध्रुवीकरण (Biopolarisation)

1. 'The Hindusthan Times' (Jan 10, 1965)

की स्थिति व्याप्त होने पर असंलग्नता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति विश्व-शान्ति, संतुलन एवं सहयोग के लिए आवश्यक ही नहीं, हितकर भी थी। यह नीति पलायनवादी, पूर्णरूप से शान्तिवादी (Pacifist), पार्थक्यवादी (Isolationist) अथवा अभावात्मक तटस्थता (Negative Neutrality) की नीति जैसी अक्रियाशील नीति नहीं वरन् विश्व-राजनीति एवं शान्तिपूर्ण कार्यों में पूर्ण रुचि रखने वाली भावात्मक (Positive) गतिशील (Dynamic) तथा क्रियाशील (Active) विदेशनीति रही है, जैसी नेहरूजी ने व्याख्या की थी—"जब हम कहते हैं कि हमारी नीति असंलग्नता की है, तो स्पष्ट रूप से हमारा अर्थ सैन्य गुटों से असंलग्नता होता है। यह एक अभावात्मक नीति नहीं है। मुझे आशा है कि यह भावात्मक, निश्चित एवं गतिशील नीति है।"[1]

ऐसी असंलग्नता एव शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की गतिशील विदेशनीति भारत के राष्ट्रीय हित (National Interest) को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है। हालांकि सितम्बर, १९४९ में सं० रा० अमरीका की कांग्रेस के समक्ष श्री नेहरूजी ने एक भाषण में कहा था—"जहाँ स्वाधीनता संकट में हो, न्याय खतरे में हो; आक्रमण की घटना हुई हो; हम वहाँ न तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।"[2] फिर भी चीनी आक्रमण के समय ऐसी स्थिति आने पर भी इस कड़ी अग्नि परीक्षा में नेहरूजी ने असंलग्नता की नीति न छोड़ी। इस संदर्भ में भारत को दोनों गुटों [illegible] सहायता मिली एवं समर्थन प्राप्त हुआ तथा भारत ने अपनी सैन्य दुर्बलताओं पर पुनर्विचार करते हुए सैनिक तैयारी और आर्थिक विकास में द्रुत गति लाने का व्यावहारिक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया।

यह भारत का सौभाग्य था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने वाले ४-५ विश्व-राजनीतिज्ञों में गौरवपूर्ण स्थान पाने वाले नेहरूजी ने देश के प्रधानमन्त्री एवं विदेशमन्त्री के रूप में भारत को स्वतन्त्र एवं मौलिक परराष्ट्रनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। यह उन्हीं के नेतृत्व एवं निर्देशन का परिणाम है कि पॉमर (Palmer) और पर्किन्स (Perkins) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-विशारदों ने भारत को संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रो-एशियाई गुट का नेतृत्वकर्ता मानते हुए महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।[3]

1. "When we say that our policy is one of non-alignment, obviously we mean non-alignment with military blocs. It is not a negative policy. It is positive one, definite one and, I hope a dynamic one."

2. Nehru's address at the U. S. Congress in Washington, 1949.

3. "India disclaims any desire to act as a leader in Asia, but she is a leading champion of Asia's claims to a greater place in world affairs, and her actions suggest that she is not always averse to taking the initiative. India was the main organizer and is now the accepted leader of the powerful Asian African bloc in the United Nations."

—Palmer and Perkins : "International Relations" p. 763.

अन्तर्राष्ट्रीय विरासत (International legacy)

शताब्दी के महान् नेता, विश्वशान्ति के अग्रदूत तथा 'मानवता के मसीहा'[1] श्री जवाहरलाल नेहरू न केवल भारत के लिए अपितु समस्त मानवता के लिए प्रकाश-पुंज'[2] थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रवादी तथा मानवतावादी विचारों से आलोकित विश्वशान्ति एवं सहयोग का प्रशंसनीय विचार मानवता को प्रदान किया।

'अफ्रो-एशियाई मुक्ति आन्दोलन'

एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता और राष्ट्रवाद की लहर पैदा करने में नेहरूजी की उपनिवेश एवं साम्राज्यवाद विरोधी नीति तथा मानवमात्र की स्वतन्त्रता के लिए किए गए प्रयास स्तुत्य हैं। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के परतन्त्र राष्ट्रों के नेताओं से साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए बहुत पहले से ही उन्होंने सम्बन्ध बढ़ाया; उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की; समर्थन तथा सहयोग प्रदान किया। १९२७ में ब्रुसेल्स (Brussels) में हुए साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद विरोधी विश्व-सम्मेलन में अरब नेताओं से मिले। १९२९ के 'लाहौर अधिवेशन' का पूर्णस्वतन्त्रता का प्रस्ताव अफ्रेशियाई राष्ट्रों के प्रति प्रेरणात्मक चुनौती था। मार्च, १९४७ में दिल्ली में हुए 'एशियाई देशों के सम्बन्ध सम्मेलन' (Asian Relations Conference) के संयोजन और कार्यक्रम में प्रमुख भाग लिया। १९५४ में चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई के साथ पंचशील की घोषणा के बाद १९५५ के ऐतिहासिक 'बांडुंग सम्मेलन' (Bandung Conference) में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। उनके इन मानवस्वातन्त्र्य के काल में योगदान के कारण उनकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में एशियाई एवं अफ्रीकी राष्ट्रों के महान राष्ट्रवादी नेताओं में की गई है।[3] डॉ० वी० पी० वर्मा ने अफ्रेशियाई राष्ट्रवादियों में उनका प्रमुख स्थान मानते हुए कहा है—"नेहरूजी आज अफ्रेशियाई राजनैतिक एवं आर्थिक पूर्ण स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं के प्रमुख अभिवक्ता हैं। उनके अफ्रेशियाई एकता एवं प्रगति के विचार ने नासिर, एंक्रूमा....आदि को प्रेरित किया है।[4]"

---

1. अमरीकी विदेशमन्त्री डीनरस्क द्वारा श्रद्धांजलि।
2. संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासर द्वारा श्रद्धांजलि।
3. Palmer and Perkins—"International Relations," P 498.
4. "Nehru today is the leading spokesman of Asian and African aspirations for absolute political and economic freedom. His concept of Afro Asian unity and progress had inspired Nassar, Kwame Nkrumah of Ghana, Sepou Toure of Guinea, Kamal Jumblat of Lebanon, and Kassim."

—Dr. V. P. Varma : "Modern Indian Political Thought", P. 477

असंलग्नतावाद (Policy of Non alignment)

इन नवस्वतन्त्रता प्राप्त एवं नवविकासोन्मुख अफ्रो एशियाई राष्ट्रों के विदेशसम्बन्ध-स्थापनार्थ राष्ट्रीयहितों के अनुरूप असंलग्नता की नीति नेहरूजी ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को दी। प्रारम्भ में इसकी भावना ठीक तरह से समझी न जाने से इसे उपहासित होना पड़ा, परन्तु धीरे-धीरे रूस और अमरीका दोनों ने इसका महत्व समझा, समर्थन किया तथा प्रशंसा की। अधिकांश नवस्वतंत्र तथा विकासोन्मुख राष्ट्रराज्यों (Nation-States) ने इस नीति में अपनी स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता तथा राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित समझते हुए इसे अपनाया। आज असंलग्नराष्ट्र पूर्वी तथा पश्चिमी गुटों के बीच में एक सेतुबंध और संतुलक (Balancer) का कार्य कर रहे हैं तथा इन्होंने संयुक्तराष्ट्रसंघ (U. N. O.) में तीसरे गुट का सा कार्य करते हुए शीतयुद्ध में शिथिलता (Thaw in the cold-war) ला दी है। 1961 में बेलग्रेड में हुए तटस्थराष्ट्रों के सम्मेलन (Belgrade Conference) में उन्होंने तटस्थ राष्ट्रों का सफल नेतृत्व किया। उनके देहान्त के बाद 5 अक्टूबर, 1964 से काहिरा में प्रारम्भ हुए तटस्थराष्ट्रों के दूसरे सम्मेलन में उनकी मधुर तथा अविस्मरणीय स्मृति करते हुए उपनिवेशवाद के उन्मूलन तथा सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे पर बल दिया गया।

राष्ट्रमण्डल (Common Wealth)

नेहरूजी का राष्ट्रमण्डल के संस्थापकों में गौरवपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी ब्रिटेन से भारत का घनिष्ट सम्बन्ध बनाए रखना तथा गणराज्य एवं असंलग्नराष्ट्र होते हुए भी ब्रिटिशराष्ट्र-मण्डल का सदस्य बनना भारत के राष्ट्रीय, राजनैतिक एवं आर्थिक हित की दृष्टि से उचित समझा। वे स्वतन्त्रता के उपरान्त 1947 से हुए राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमंत्री सम्मेलन में जाते रहे तथा 1964 में 8 से 15 जुलाई तक होने वाले सम्मेलन में भी जाने की तैयारी कर चुके थे पर 27 मई का उनका देहान्त हो गया। संयुक्तराष्ट्रसंघ में ब्रिटेन द्वारा काश्मीर नीति पर पाकिस्तान के पक्ष एवं 1964 के सम्मेलन में 'काश्मीर विवाद की चर्चा' को लेकर भारत में राष्ट्रमण्डल की सदस्यता त्यागने की माँग की गई। परन्तु 3 दिसम्बर, 1964 को लन्दन पहुँच कर प्रधानमंत्री श्री लालबहादुरशास्त्री ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री हैराल्ड विल्सन से सौहार्दपूर्ण बातचीत द्वारा राष्ट्रमण्डल की नींव को और सुदृढ कर दिया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की राय में नेहरूजी के देहान्त से राष्ट्रमण्डल ने अपना कुशल नेता खो दिया है। महारानी एलिजाबेथ का यह शोकसंदेश राष्ट्रमण्डल के प्रति की गई नेहरूजी की सेवाओं को स्वीकार करता है—"उनका निधन विश्व की समस्त शान्तिप्रिय जनता तथा राष्ट्रमण्डलीय जनता के लिए बड़ा धातदायक है।"

विश्व समुदाय-भावना-संयुक्तराष्ट्रसंघ

नेहरूजी ने विश्वसमुदाय एवं विश्वबन्धुत्व की भावना पर बल देते हुए राष्ट्रों

की समानता, स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता एवं विकासयुक्त प्रगति की रक्षार्थ संयुक्तराष्ट्रसंघ तथा उसके चार्टर का समर्थन किया। कोरिया, लाओस, स्वेज, वियतनाम अथवा कांगो का जब भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट आया, उन्होंने संयुक्तराष्ट्रसंघ का सहयोगयुक्त समर्थन प्रदान किया। रंग, दल, धर्म अथवा प्रजाति किसी भी प्रकार का भेद उन्हें पसन्द न था। इसकी सफलता के लिए वे प्रत्येक राष्ट्र की उपनिवेशीय उन्मुक्ति चाहते थे। आपसी झगड़ों में वे संयुक्तराष्ट्रसंघ के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण निपटारे के समर्थक थे, कश्मीर समस्या इसका सुन्दर उदाहरण है। चीन से संघर्ष चलने पर भी संयुक्तराष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए उनका समर्थन करके इसे वास्तविक एवं क्रियाशील अन्तर्राष्ट्रीयसंगठन एवं विश्वसंघ बनाना चाहा। विश्व के दो गुटों में बंटने एवं संयुक्तराष्ट्रसंघ को 'गुटीय अखाड़ा' बनाने से रोकने के लिए ही उन्होंने असंलग्नता पर बल दिया। 'क्षेत्रीय संगठनों (Regional Alliances) के वे तीव्र आलोचक थे। उन्होंने 1948 में हुए संयुक्तराष्ट्रसंघ की महासभा (General Assembly) के तृतीय अधिवेशन में भाषण दिया। 1960 में अन्तिम बार उन्होंने संयुक्तराष्ट्रसंघ की कार्यवाही में भाग लिया तथा विश्वशान्ति एवं महाशक्तियों के नेताओं से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापनार्थ प्रयास किया। कांगो-संकट के समय संयुक्तराष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता देकर नेहरूजी ने इसे शांति स्थापनार्थ कदम उठाने में मदद की।

मानववाद-पंचशील

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नेहरूजी 'नैतिक एवं मानवीय अन्तर्राष्ट्रवाद' (Moral and humanist internationalism) के पक्षपाती थे। विज्ञान के ज्ञाता तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले होने से वे परमाणु बमों को निर्मित करने, शस्त्रास्त्रों की होड़ रोकने, निरस्त्रीकरण (Disarnament), युद्ध के अन्त तथा भूख एवं भय से स्वतन्त्रता आदि मानव कल्याण और शांति के मूलतत्वों के पक्षपाती थे। मानवता के प्रति विश्व के किसी भी कोने में संकट उपस्थित होने पर उन्हें बड़ा दुःख पहुँचता था। अगस्त 1963 में तीन अणुशक्तियों द्वारा हस्ताक्षर की गई आंशिक अणुपरीक्षणप्रतिबंधसंधि (Nuclear test ban treaty) पर हस्ताक्षर करने वाले वे सर्वप्रथम शासनाध्यक्ष (*Head of Government*) थे। सब तरह के सैन्य तथा राजनैतिक गुटों का विरोध, धर्मनिरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण-सहअस्तित्व के समर्थन के साथ एकविश्व की कल्पना करते हुए 20 जून, 1954 को उन्होंने चीन के प्रधानमंत्री श्री चाउ एन लाई के साथ 'पंचशील' के सूत्रों का प्रचार किया जो थे—(1) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्चता (Sovereignty) के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना (2) अनाक्रमण, (3) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, (4) समानता तथा एक दूसरे को लाभ पहुँचाना, (5) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful co-existance)।

निस्संदेह वे 'ऋतुराज के प्रतीक' थे। यूनेस्को भवन में दी गई श्रद्धांजलि के समय यूनेस्को के महासचिव श्री रेनो म्हेयू द्वारा कहे गए ये शब्द यथार्थ हैं—"एक महान् रोशनी अभी बुझ गई है जिसने गत 30 वर्षों में दुनिया को प्रकाशित किया। श्री नेहरू मानवता के पवित्रतम प्रकाश थे।"

नेहरूजी के काल के अत्यधिक नजदीक होने से उनकी उपलब्धियों, प्रतिदानों (legacy) एवं इतिहास में उनके स्थान निर्धारण के बारे में अन्तिम निर्णय करना, कठिन है। फिर भी इस कठिनाई के होते हुए भी आलोचकों द्वारा 'नेहरूवाद' एवं नेहरूजी की नीतियों की आलोचना होती रही है, सबसे अधिक आलोचना का शिकार होना पड़ा उनकी विदेश नीति को। आलोचकों के अनुसार उनकी 'नैतिक एवं मानवीय अन्तर्राष्ट्रीयवाद' (Moral ard humanist internationalism) की विचारधारा पाकिस्तान तथा चीन के प्रति अपनाई गई तुष्टिकरण (appeasement) एवं रियायतों (Concess ons) में परिणीत होकर भ्रष्ट हो गई तथा इसने राष्ट्र को दुर्बल बनाया। उनकी अध्यक्षता एवं निर्देशन में विदेश विभाग आदर्शवाद तथा विरोध पत्रों के कल्पना लोक में उड़ानें भरता रहा; चीन, पाकिस्तान तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भावना को यथार्थवादी व्यावहारिक (Pragmatic) दृष्टिकोण से समझते हुए राष्ट्रीय हितों (National Interests) पर आधारित नीति के निर्धारण में असफल रहा। विदेश विभाग प्रचार द्वारा भारत की न्यायपूर्ण सही स्थिति से विश्व को अवगत करा कर संकट आने पर समर्थन न पा सका। शान्तिवाद के नाम पर सैन्य तैयारी न कर देश को धोखे में रखा। चीन के आक्रमण के बाद असंलग्नता (Non-align-ment) की विदेशनीति को राष्ट्रीय हित पूर्ण न करने वाली, अवास्तविक तथा गलत आधारों पर आधारित बता कर चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, आचार्य कृपलानी और श्री गोरवाला ने कहा—"भारत को पश्चिम के साथ सैनिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने में नहीं हिचकना चाहिए।"[1]

आलोचकों द्वारा चीन से विश्वासघात तथा शान्तिपूर्ण विदेश नीति के कारण सैनिक तैयारी एवं युद्ध सामग्री की ओर आवश्यक ध्यान न दिये जाने की आलोचना में सत्य का अंश अवश्य है, जैसा नेहरूजी ने भी स्वीकार किया था—"हम कल्पना लोक में रह रहे थे, इस आक्रमण ने हम वास्तविक जगत में आये हैं।"[2] परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि हमारे राष्ट्र हितों की रक्षा करने में यह सर्वथा असफल सिद्ध हुई। शान्ति एवं युद्धकाल में इसने राष्ट्रीय तथा आर्थिक हितों को पूरा किया जिसका

1. 'The Hindustan Times' (November 18, 1962)
2. 'The Hindustan Times' (October 26, 1962).

प्रमाण है दोनों गुटों (blocs) से सहायता और समर्थन के साथ ही विश्व जनमत प्राप्त होना, जिससे चीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेला पड़ गया। दोनों गुट आज असंलग्नता की नीति को समझते हैं समर्थन प्रदान करते हैं तथा प्रशंसा करते हैं। इस नीति ने शीतयुद्ध में शिथिलता (Thaw in the cold war) ला दी है।

प्रधान मन्त्री के रूप में नेहरूजी ने 'प्रशासन में एकाधिकार' (Monopoly) रख कर 'सत्ता का प्रत्यायोजन' (Delegation of authority) उपयुक्त मात्रा में नहीं किया, जिससे नायक-पूजा (hero-worship) को प्रश्रय मिला तथा नेतृत्व की प्रतिष्ठा का अवसर न मिल सका। यही कारण था कि 'नेहरू के बाद कौन' (After Nehru who ?') की भावना समय-समय पर ही उठती रही। प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, विदेशों से कड़ी कार्यवाही के स्थान पर भेजे गए विरोधी पत्र, तथा पाकिस्तानियों के भारत में अवैध प्रवेश, बेकारी, मूल्य वृद्धि एवं महंगाई आदि प्रशासनिक कमजोरियों तथा शिथिलता को देख कर राष्ट्र के एकीकृत भवन निर्माण करने वाले लौह पुरुष सरदार पटेल जैसे दृढ़ प्रशासक एवं कर्मयोगी की कमी महसूस की गई। चीन द्वारा हड़पे गए भूखण्ड तथा पाकिस्तान द्वारा कब्जे में लिये गए कश्मीर के भाग को वापिस लेने के लिए नेहरूजी द्वारा कोई सुदृढ़ या प्रभावशाली कदम न उठाये जाने की विशेषतः विरोधी दलों द्वारा आलोचना हुई।

नेहरूजी ने अपने अन्तिम दिनों में बेरुबाड़ी, 'कामराज योजना', शेख अब्दुल्ला की रिहाई, नागालैण्ड के प्रति उदारता तथा अंग्रेजी भाषा के प्रश्रय आदि घटनाओं में राजनैतिक अस्थिरता का परिचय दिया जिससे जनमानस में कुछ असन्तोष, निराशा तथा चिन्ता ने जन्म लिया। कांग्रेस पार्टी में भी वे अपने अन्तिम दिनों में उसी तरह स्थित थे जैसे गांधीजी को अपने अन्तिम दिनों में होना पड़ा था। उनका इस पर एकछत्र नेतृत्व, प्रभाव एवं नियन्त्रण धीरे धीरे कम होता गया। 'कामराज योजना' के रूप में इसके पवित्रीकरण या पुनरुद्धार का आन्दोलन भी असफल रहा।

नेहरूजी ने योजना आयोग (Planning Commission) के अध्यक्ष के रूप में देश में सामाजिक न्याय एवं आर्थिक समानता की स्थापना के लक्ष्य के साथ ही औद्योगिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास द्वारा देश के नवीनीकरण के लिये किए गए सत्प्रयत्न में आंशिक सिद्धि ही प्राप्त की। भारतीय अर्थव्यवस्था एवं आयोजन में विदेशी ऋण (loan) की भरमार, जनता पर करभार (tax), राष्ट्रीयकरण (Nationalization) के प्रति हिचक तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) के अन्तर्गत 'निजी क्षेत्र' (Private Sector) को प्रदत्त महत्त्वपूर्ण स्थान एवं उन्मुक्ति के लिए उनकी आलोचना होती रही। पंचवर्षीय योजनाओं (Five Year Plans) से सामान्य जनता बहुत कम परिचित या प्रभावित हुई। प्रशासकीय सहयोग उचित मात्रा

में न मिल सका, जैसा कि नेहरूजी ने भी दोषारोपण किया था। योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री अशोक मेहता के अनुसार—"इन योजनाओं का क्रियान्वयन ही त्रुटिपूर्ण न था वरन् योजनाएं स्वयं में भी त्रुटिपूर्ण थीं।"[1] योजना आयोग (Planning Commission) के गठन की भी आलोचना होती रही। प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री के नेतृत्व में ६ जनवरी, १९६५ को कांग्रेस के दुर्गापुर अधिवेशन में सर्वसम्मति से स्वीकार किये गए आर्थिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा इस त्रुटि में सुधार तथा नेहरूजी की नीतियों को नवीन दिशा प्रदान करने का प्रयास किया गया है, जिसके अनुसार चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में कृषि तथा आन्तरिक क्षेत्र को सुदृढ़ बनाने को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई है।[2] परन्तु डा० सम्पूर्णानन्द के अनुसार 'प्रजातान्त्रिक समाजवाद' (Democratic Socialism) का स्पष्ट स्वरूप न तो नेहरूजी की उपस्थिति में व्याख्यित किया जा सका तथा न उनके देहान्त के बाद कि "कांग्रेस सम्मत समाजवाद किन बातों में सर्वोदय से, किन बातों में डा० लोहिया के मत से और सर्वोपरि किन बातों में कम्युनिज्म से भिन्न है?"[3]

नेहरूजी के कार्य भारत एवं मानवता के लिए इतने अधिक हैं कि उनके शासनकाल को 'नेहरू युग' (Era of Nehru) तथा उनके विचारों को 'नेहरूवाद' (Nehruism) का नाम देते हुए उनके देहान्त के बाद भी (Nehru is dead, long live Nehru) की बात कह उनके प्रति सम्मान प्रकट किया गया। श्री बी. आर. नन्दा के अनुसार उन्होंने अपनी तपस्या तथा सेवापूर्ण जीवन से अपने 'टाइटल' को भी बदल दिया—"बहुत से लोग आज भी मोतीलाल नेहरू को श्री जवाहरलाल नेहरू के पिता के रूप में याद करते हैं जैसे कि 20वीं शताब्दी के तृतीय दशक में कुछ लोगों की दृष्टि में भी जवाहरलाल के महत्त्व प्रदानार्थ मुख्य 'टाइटल' था कि वह अपने प्रसिद्ध पिता का पुत्र था।"[4]

---

१. योजना आयोग के मूल्यांकन अधिकारियों की ९ दिवसीय गोष्ठी का ५ मार्च, ६४ को दिल्ली में उद्घाटन करते हुए भाषण में कहा

('हिन्दुस्तान', मार्च ६, १९६४)

२. 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (१० जनवरी, १९६५)

३. डा० सम्पूर्णानन्द : 'जवाहरलालजी के बाद क्या'

('हिन्दुस्तान'—स्वाधीनता दिवस परिशिष्ट १५ अगस्त, १९६४)

4. "Many people today remember Motilal Nehru as that father of Jawaharlal Nehru, just as in the nineteen twenties there were not a few in whose eyes Jawaharlal's chief title to distinction was that he was the son of distinguished father."

—B. R. Nanda : "The Nehrus : Motilal and Jawaharlal", p. 9

उन्होंने 1947 में आर्थिक विनाश, गरीबी, अज्ञान, अन्धविश्वास, 600 देशी रियासतों, प्रजातांत्रिक स्वशासन एवं संस्थाओं से अपरिचित जनता वर्ग तथा पुनर्वास एवं विकास की समस्याओं से पूर्ण देश का नेतृत्व संभाला था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रगति की विवेकपूर्ण जाँच करने पर ही उनके प्रतिदानों (Legacy) एवं प्राप्तियों (*Achievements*) का सही मूल्यांकन करते हुए इतिहास में स्थान निर्धारण करना न्यायसंगत होगा। प्रजातंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षवाद द्वारा भारत को चहुंमुखी विकास तथा अणुयुग में भयग्रस्त संसार को शान्तिस्रोत पंचशील प्रदान कर नेहरूजी ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन को नया मोड़ दिया, जिसके लिए भारतीय तथा विश्व इतिहास में उस युगनिर्माता का नाम स्मरणीय एवं स्थान गौरवपूर्ण रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

"आज जब हम उनके विषय में सोचते हैं तो हमारे सम्मुख एक ऐसा व्यक्तित्व आता है जो मानवजाति का महान् मुक्तिदाता था, जिसने मानव-मस्तिष्कों को राजनैतिक बंधन, आर्थिक दासता, सामाजिक दमन तथा सांस्कृतिक जड़ता से उबारने के लिए सम्पूर्ण जीवन तथा शक्ति समर्पित की।"[1]

---

1. 'Our thoughts go out to him as a great emancipator of human race, one who has given all his life and energy to the freeing of men's minds from political bondage, economic slavery, social oppression and *cultural stagnation. We can do no better than work* for the ideals he cherished. That is the best tribute we can pay to our departed leader."

(The Hindustan Times, May 29, 1964)

१४

शक्ति सन्तुलन

(BALANCE OF POWER)

•

—महेन्द्र बरड़ा

मानव अनादिकाल से ही युद्ध से बचने के उपाय सोचता रहा है, क्योंकि प्रकृति से ही वह एक शान्तिप्रिय जीव है। युद्ध से बचने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने की आशाओं के अनेक उपायों में से शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त भी एक है। शक्ति-सन्तुलन का कार्यक्रम (Process) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वाभाविक एवं आवश्यक है, क्योंकि इसमें अनेक राष्ट्र विद्यमान हैं। इस सिद्धान्त का आदर्श है—अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन (International Equilibrium) जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गतिमान प्रकृति (Dynamic nature) पर आश्रित है। आज की राजनीति में यह विश्व को तथा मानव जाति को युद्धों की ज्वालाओं तथा भयंकरताओं से बचाने तथा विश्व शान्ति स्थापित करने का एक उपाय समझा जाता है।

शक्ति सन्तुलन की प्रकृति (Nature of Balance of Power)

शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त कोई नई विचारधारा नहीं है। इसे प्राचीन समय में भी प्रयोग में लाया जाता था और मानव समाज को इसका पर्याप्त ज्ञान था। पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins) की राय में शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त उन सभी युगों में, जहाँ की बहुल राष्ट्रपद्धति थी, विद्यमान था।[1] प्रो० हार्टमन (Prof. Hartmann) भी इस मत से सहमत हैं और कहते हैं कि अनेक या बहुलराष्ट्रपद्धति (Multistate system) में शक्ति सन्तुलन की प्रक्रिया (Process) स्वाभाविक और आवश्यक है। इस प्रकार से बहुल राष्ट्रपद्धति शक्ति सन्तुलन के स्वभाव में निहित है। प्रो० क्वींसी राइट (Prof. Quincy Wright) ने इस सिद्धान्त की ऐतिहासिकता की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 1500 A. D. तक शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कहीं-कहीं पर परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में विद्यमान था।

1. "The concept of the balance of power has been present wherever and wherever the multiple state system has existed"

—Palmer and Perkins.

परन्तु १६४८ की वेस्टफालिया की सन्धि (Treaty of Westphalia of 1648) के पश्चात्, यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का एक प्रमुख नियम और विधा बन गई।[1] साथ ही साथ वह यह भी कहते हैं कि जब कि अन्य तत्वों ने भी, ३० वर्षीय युद्ध (Thirty years' war) के पश्चात् की विचारधारा का सामान्य स्पष्टीकरण के रूप में, यूरोप में हुए युद्धों और शान्ति के लिए, प्रस्तुत किया जा सकता है।[2] अठारहवीं शताब्दी की कई सन्धियों में इसका वर्णन किया गया है और उन्नीसवीं शताब्दी में इसका सफल प्रयोग हुआ है।

शक्ति सतुलन के विभिन्न अर्थ तथा परिभाषा

(Various meanings of Balance of Power and its Definition)

शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को परिभाषा की परिधि में बाँधना भागीरथी कार्य (Harculean task) है। लेखकों व विद्वानों ने इसे अपने अपने ढंग से परिभाषित किया है। 'शक्ति सन्तुलन' एक अस्पष्ट व बहुअर्थ वाला शब्द है। इसके निम्न अर्थ हो सकते हैं —

(१) किसी भी प्रकार का शक्ति विभाजन (Any distribution of power)-संसार के राष्ट्रों में किसी भी प्रकार का शक्ति विभाजन शक्ति के नाम से पुकारा जा सकता है।

(२) असन्तुलन (Imbalance)—शक्ति सन्तुलन का प्रयोग असन्तुलन के अर्थ में भी किया जा सकता है। इस अर्थ में इसका मतलब होगा एक राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों के ऊपर उच्चता (Superiority) और प्रभुता (Domination) है।

(३) समता (Equilibrium) शक्ति सन्तुलन का अर्थ यह भी हो सकता है कि विश्व के अनेक राष्ट्रों में उचित शक्ति सन्तुलन है न कोई अधिक शक्तिशाली है न अत्यधिक कमजोर है।

(४) स्थायित्व और शान्ति (Stability and peace) शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थायित्व तथा विश्व में शान्ति की स्थिति को भी प्रकट करता है।

(५) इतिहास का सर्वमान्य नियम (Universal law of history)—इससे तात्पर्य यह है कि शक्ति सन्तुलन विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर सदा प्रकट (Appear) होता रहा है और होता रहेगा।

---

1 " . . it scarcely existed anywhere as a conscious principle of international politics before 1500 Especially after the treaty of Westphalia of 1648, it became a cordial feature of international relations "

2. " . . while other factors have had an influence, the concept of balance of power provides the most general explanation for the oscillations of peace and war in Europe, since the Thirty years' war " —Prof. Quincy Wright.

(६) जटिल शक्ति सन्तुलन (The complex balance of power) से तात्पर्य इस प्रकार के शक्ति सन्तुलन से है जिसके अन्दर शक्ति का विभाजन अनेक राष्ट्रों में है।

(७) साधारण शक्ति सन्तुलन (The Simple balance of power)—इसका अर्थ होता कि शक्ति सामान्यत दो महत्त्वपूर्ण राष्ट्रों में विभाजित है।

(८) इसका अर्थ निर्बल राष्ट्रों को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्नों से भी हो सकता है।

प्रो० मारगेन्थो (Prof Morgenthau) ने अपनी पुस्तक "Politics Among Nations" में इस शब्द (Term) का प्रयोग चार अर्थों में किया है—(अ) एक प्रकार की नीति (As a policy aimed at certain state of affairs), (ब) यथार्थ परिस्थिति (As an actual state of affairs), (स) शक्ति विभाजन सन्तुलित (As an approximately distribution of power) और (द) शक्ति विभाजन (As a distribution of power)

डॉ० लाविस डिकिन्सन (G Lowes Dickinson) इस शब्द (शक्ति संतुलन) के दो अर्थों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एक तरफ इसका अर्थ है समानता से, जिस प्रकार कि दो तरफ का हिसाब बराबर हो, तथा दूसरी ओर इसका अर्थ है असमानता से, जिस प्रकार कि एक मनुष्य का बैंक में 'Balance' या बकाया हो।

प्रो० फे (Prof. Fay) ने Encyclopaedia of the Social Sciences में शक्ति संतुलन की परिभाषा देते हुए लिखा है कि राष्ट्रों के मध्य उचित शक्ति विभाजन से है, इस प्रकार का शक्ति विभाजन कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा न लाद सके और न ही कोई राष्ट्र इस प्रकार बन पाये।[1] एम० मारगेट बाल और एच० बी० केलोग (M Marget Ball and Hugh B Killough) अपनी पुस्तक "International Relations" में लिखते हैं कि शक्ति सन्तुलन, वो विरोधी राष्ट्रों द्वारा अन्य राष्ट्रों के साथ मिल कर शक्ति समान स्थापित करने का उद्योग है।"[2]

प्रो० हार्टमन (Prof Hartmann) ने अपनी पुस्तक "The Relations of Nations" में इस प्रकार के चार शक्ति सन्तुलन के स्पष्ट किए हैं। शक्ति-सन्तुलन आकार या ढाँचे के रूप में (Balance of Power as a pattern) और शक्ति संतुलन

1. "It means such a just equilibrium in power among the members of the family of nations as will prevent any one of them from becoming sufficiently strong enough to enforce its will upon the others."

2. "A power equilibrium established among rival states through allying themselves with other states is technically referred to as a balance of power."

क्रम या रीति के रूप में (Balance of Power as a Process) एक राष्ट्र जो कि 'शक्ति सन्तुलन आकार' (Balance of Power as a Pattern) का प्रयोग कर रहा है, गुट अन्य राष्ट्रों के साथ अपने विरोधी राष्ट्र के विपक्ष में बनाता है तथा इस प्रकार विरोधी राष्ट्र की शक्ति का प्रतिरोध करने में 'शक्ति सन्तुलन' का प्रयोग करता है। शक्ति-सन्तुलन क्रम या रीति शक्ति सम्बन्धी सभी समस्याओं का सामान्यकरण (Generalization) है। यह वास्तविक शक्ति सम्बन्धों को बतलाता है और राष्ट्र के 'शक्ति सन्तुलन आकार' की ओर दृष्टिपात नहीं करता।

प्रो० मारगनथों (Prof Morgenthan) के मतानुसार शक्ति सन्तुलन आकार (Patterns of Balance of Power) दो प्रकार के हैं—प्रथम The pattern of Direct Opposition—इस प्रकार के ढांचे में शक्ति सन्तुलन दो या अधिक तथा शत्रुता के कारण उत्पन्न होता है। एक राष्ट्र अपनी नीतियाँ दूसरे राष्ट्र पर थोपने की कोशिश करता है। राष्ट्र अपनी नीतियों को दूसरे राष्ट्रों पर प्रभावशाली बनाने के लिए अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाते हैं। द्वितीय Pattern of Competition–इस 'आकार' के कारण छोटे राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता कायम रख सके। साथ ही इसी के कारण उन्हें अन्य राष्ट्रों के अधीन होना पड़ा।

इस प्रकार शक्ति सन्तुलन को परिभाषित करना अत्यधिक कठिन है परन्तु उपरोक्त परिभाषाओं और विभिन्न विद्वानों के मतों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शक्ति सन्तुलन का केन्द्र बिन्दु या मुख्य विचार यह है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्ति सन्तुलन है और कोई भी राष्ट्र यह जानता है कि यदि उसने इस शक्ति सन्तुलन को तोड़ने या बदलने की कोशिश की तो उसे अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ेगा। प्रो० लर्क (Prof Lerche) कहते हैं—"A statesman will not normally resort to war when the odds are heavily against him" अर्थात् एक राजनीतिज्ञ युद्ध पसन्द नहीं करेगा यदि उसे ज्ञात है कि विरोध बहुत अधिक है।

शक्ति सन्तुलन की विशेषताएं (Characteristics of Balance of Power)

प्रो० पामर और पर्किन्स (Prof Palmer and Perkins) "International Relations" में शक्ति सन्तुलन की निम्नलिखित सात विशेषताएं बतलाते हैं —

प्रथम 'शक्ति सन्तुलन' शब्द समता (Equilibrium) की ओर संकेत या इंगित करता है लेकिन इतिहास साबित करता है कि सच्चे अर्थों में यह असमानता (Disequilibrium) को प्रकट करता है। दूसरा, यह एक राजनैतिक कपट-योजना है (A diplomatic coordinance), इतिहास का फल नहीं। निकोलस_जे० स्पाइकमैन के शब्दों में, शक्ति सन्तुलन भगवान का उपहार नहीं है बल्कि मनुष्य के प्रयत्नों का फल है। शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए मनुष्यों को युद्ध के लिए भी तैयार रहना चाहिए।' तीसरा, मूलतः शक्ति-

सन्तुलन सिद्धान्त एकसी स्थिति (Status-quo) के पक्ष में है परन्तु प्रभावशील होने
के लिए यह आवश्यक है कि यह परिवर्तनशील और शक्तियुत हो। चौथा, सच्चे अर्थों
में शक्ति सन्तुलन बहुत कम अवसरों पर हो सकता है। पांचवा, शक्ति सन्तुलन का
सिद्धान्त निष्पक्ष (Objective) और व्यक्तिगत (Subjective) दोनो ही प्रकार की
विचारधाराओं को स्थान देता है। मार्टीन राइट (Martin Wright) कहते हैं,
"The historian will say that there is a balance when the opposing
groups seem to him be equal in power. The statesman will say
that there is a balance when he thinks that his side is stronger than
the other And he will say that his country holds the balance, when
it has freedom to join one side or the other according to its own
interest." इतिहासकार दृष्टिकोण (Objective view) लेता है तथा एक राजनीतिज्ञ
आत्मपरक दृष्टि (Subjective view) से स्थिति को देखता है। स्पाइकमेन (Spykman)
और क्वीन्सी राइट (Quincy Wright) का मत है कि राजनीतिज्ञ का मत अधिक
वास्तविक है। छठा, शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त रीति के रूप में न तो प्रजातन्त्र और
न ही तानाशाही के अनुरूप है। सातवा, शक्ति-सन्तुलन बड़े राष्ट्रों के लिए तथा उनके
हित में होता है। छोटे राष्ट्र तो इस सिद्धान्त के शिकार तथा दर्शक मात्र होते हैं।

यह किस प्रकार कार्य करता है ? (How it appeares) ?

राजनैतिक विचारक इस बात पर एकमत नहीं है कि शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त
किस प्रकार से कार्य करता है। इस बारे में तीन मत रखे जाते हैं। वे मत हैं—
प्रथम, शक्ति-सन्तुलन स्वय चालित (Automatic) है। दूसरा, यह अर्द्ध स्वचलित
(Semi automatic) है तथा तीसरा, यह अनेक राष्ट्रों के सहयोग से कार्य करता है।

प्रथम मत के अनुसार शक्ति-सन्तुलन एक प्राकृतिक क्रिया है। किसी भी राष्ट्र
को इसके कार्य के विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं संचालित होता
रहता है। रूसो (Rousseau) ने इसे प्रकृति का कार्य अधिक बतलाया है, राजनीतिज्ञ
की अपेक्षा। यह प्रकृति का साधारण नियम है कि जब एक राष्ट्र या अन्य कोई वस्तु
अधिक शक्तिशाली बन जाती है तो अन्य राष्ट्र या वस्तुएं भी अपनी शक्ति बढ़ाती है
और अधिक शक्ति ग्रहण करती है। प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० टोयनबी (Prof. Toyn-
bee) ने इसे "Political Dynamics" के नाम से पुकारा है तथा इसके कार्य करने
के लिए "Automatically" शब्द का प्रयोग किया है।

द्वितीय मत के अनुसार यह अर्धस्वचालित और अर्धबाह्य शक्ति के प्रयोग से
कार्य करता है। इस मत के समर्थकों के सम्मुख इंगलैंड का उदाहरण है। उसके मता-
नुसार शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के कार्य करने के लिए एक शक्तिशाली राष्ट्र की आव-

श्यकता है जो कि सन्तुलनकर्ता (Balance) का काम या कार्य कर सके। सन्तुलनकर्ता के विषय में तीन विचार या मत हैं—

(अ) छोटे छोटे राष्ट्रों का समूह (Combination of small states)

(स) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (International organisation)

(अ) परम्परागत अर्थ में सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र शक्ति को सन्तुलित करने में सहायक का कार्य करे तथा शक्तिद्वन्द्व (Power conflict) में भाग लेने की उसकी न हो। इंगलैंड ने यह भाग पूर्व काल में बड़े सफल तरीके से अदा किया। मारगन थों ने अपनी पुस्तक (Politics Among Nations) में दो उदाहरण, हेनरी अष्टम तथा महारानी ऐलिजाबेथ प्रथम के समय के दिये हैं, यह प्रदर्शित करने को कि इंगलैण्ड बहुत पहले से ही सन्तुलनकर्ता का खेल खेल रहा है। १८वीं और १९वीं सदी में इंगलैण्ड का कार्य तथा भाग सन्तुलनकर्ता के रूप में विशेष महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं सदी के प्रारम्भ में अमेरीका तथा यूरोप में नये राष्ट्रों के उत्थान के फलस्वरूप इंगलैण्ड अपना ऐतिहासिक भाग इन सदियों में अदा करने से वंचित रहा और आज परम्परागत अर्थों में सन्तुलनकर्ता का मिलना अत्यधिक कठिन है।

(ब) द्वितीय मतानुसार छोटे-छोटे राष्ट्र मिल कर सन्तुलनकर्ता का भाग अदा कर सकते हैं। वर्तमान युग में असंलग्न राष्ट्र (Non aligned Countries) सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य सन्तुलनकर्ता का कार्य कर रहे कहे जाते हैं।

(स) तृतीय मतानुसार शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के कार्य के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार की संस्था झगड़े के वक्त अपनी शक्ति कमजोर राष्ट्रों की ओर लगा देती है तथा इस प्रकार शक्ति सन्तुलन बना रहता है। आज के युग में संयुक्त राष्ट्र संघ (U N O) का नाम उदाहरणार्थ दिया जा सकता है।

तृतीय मत के अनुसार शक्ति सन्तुलन न तो स्वयं चालित है और न ही एक राष्ट्र के प्रयत्नों का फल हो सकता है। इसके कार्य करने के लिए आवश्यक है कि सब के सब राष्ट्र इसके लिए प्रयत्न करें अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र यह देखे कि शक्ति सन्तुलन कायम है या नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रों का और राजनीतिज्ञों का यह कर्तव्य है कि वे यह देखें कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं शक्ति सन्तुलन को किसी प्रकार उथल-पुथल न करदें तथा वह ऐसे प्रयत्न करता रहे जिससे मानव जाति युद्ध की सर्वनाशता से दूर शांति की गोद में सुख से रहे।

इन मतों के बारे में यही कहा जा सकता है कि शक्ति सन्तुलन के कार्य के लिये कोई एक मत पूर्णतः सन्तोषप्रद उत्तर नहीं देता। अनुभवों से ऐसा लगता है कि राष्ट्रों

की ओर से प्रयत्न तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का योगदान इस कार्य के लिए आवश्यक है।

शक्ति संतुलन सिद्धांत की आवश्यकताएं
(The Pre-requisities of the Balance of Power)

शक्ति सन्तुलन के सफल कार्य के लिए कुछ प्रतिबन्ध हैं। इन प्रतिबन्धों की पूर्णता पर ही शक्ति सन्तुलन का कार्य सम्भव है। यह आवश्यकताएं निम्न हैं—

(१) अधिक फैलाव तथा द्रवता (Dispersal and Fluidity)—शक्ति सन्तुलन के सफल कार्य करने के लिए आवश्यक है कि शक्ति का विभाजन अत्यधिक फैला हुआ हो क्योंकि शान्ति, शक्ति सन्तुलन से तभी स्थापित होना सम्भव है जब कि शक्ति अनेक राष्ट्रों के मध्य विभाजित हो। इस सम्बन्ध में प्रो० लर्च लिखते हैं कि, "शक्ति का केन्द्रीकरण और सम्बन्धों की कठोरता, यह दो ऐसी चीजें हैं जिनको शक्ति तथा सन्तुलन के समर्थक तथा लेखक, शान्ति के मार्ग में सबसे बड़े खतरे मानते हैं। अतः अत्यधिक फैलाव तथा द्रवता शक्ति सन्तुलन के कार्य के लिए पूर्व आवश्यकताएं (Pre-requisities) समझी जाती हैं।"

(२) अनेक या बहुराष्ट्र पद्धति (Multi-state system)—शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त के कार्यान्वित होने के लिए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक स्थिति पर अनेक राष्ट्रपद्धति विद्यमान हो।

(३) रहस्यमयी तथा गुप्त सन्धियाँ (Secret Negotiation and Pacts)—शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि प्रत्येक राष्ट्र में कुछ चतुर व शक्तिशाली राजनीतिज्ञ हों, जो अन्य राष्ट्रों के साथ रहस्यमय सम्बन्ध व सन्धियाँ रख सकें।

(४) यदि शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणित करना है तो आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र के राजनैतिक नेता तथा राजनीतिज्ञ अन्य देशों की शक्ति के अनुमान तथा उस देश की शक्ति के विषय पर अपना अत्यधिक समय व्यतीत करें।

(५) शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का एक साधन शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के विचारकों के अनुसार युद्ध है। उनका कथन है कि शक्ति को सन्तुलित करने के लिए युद्ध भी लड़ा जा सकता है परन्तु यह युद्ध अत्यधिक दुखदायी व भयानक न हों।

(६) प्रत्येक राष्ट्र में यह भावना हो कि वर्तमान स्थिति शक्ति सन्तुलन ठीक है और इसमें किसी प्रकार के बड़े सुधार की आवश्यकता नहीं है। साथ ही कुछ छोटे २ सुधार अवश्य होने की चाह हो।

(७) सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक प्रतिबन्ध या पूर्व आवश्यकता शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त के लिए है—सन्तुलनकर्त्ता की अर्थात् एक ऐसे राष्ट्र की या

स्थापित सन्तुलन से सन्तुष्ट हो और उसे कायम रख सके। वह यह प्रयत्न करे कि स्थापित शक्ति सन्तुलन असन्तुलित न हो। 18वीं और 19वीं सदियों में इंगलैण्ड ने यह प्रभावशाली और महत्वपूर्ण भाग अदा किया। प्रो० मारगनथा के अनुसार सन्तुलनकर्ता, शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त में मुख्य व महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि उसकी स्थिति पर शक्तिद्वन्द्व का परिणाम आश्रित है।

प्रो० लर्च का विचार है कि भारत व इसके सहयोगी राष्ट्र भावी सन्तुलनकर्ता बनने की क्षमता रखते हैं। उनका विश्वास है कि अफ्रीका, एशिया तथा अरब गुट भारत के नेतृत्व में सोवियत रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य शक्ति-सन्तुलन स्थापित कर सकेगा।[1]

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है शक्ति सन्तुलन के सफल कार्य के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। बिना इन पूर्व आवश्यकताओं की परिपूर्णता के शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त कार्य रूप में परिणीत नहीं किया जा सकता है। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त खाली स्थान (Vacuum) में कार्यशील नहीं हो सकता।

शक्ति सन्तुलन करने के साधन

(Devices for Maintaining the Balance of Power)

सन्धियां और विरोधी या प्रति सन्धियां

(Alliances & Counter alliances)

सन्धियां और प्रतिसन्धियां शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रयोग किया हुआ साधन है। प्रो० मारगन्थो कहते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से शक्ति सन्तुलन दो भिन्न राष्ट्रों की समता में प्रतिबिंबित नहीं होकर, एक राष्ट्र या समूह और दूसरे राष्ट्र या राष्ट्र समूह के सम्बन्धों के रूप में दृष्टिगोचर होता है।[2] जब कभी राष्ट्रों का एक समूह शक्ति सन्तुलन को विस्थापन करने के प्रयत्न करता है तो एक अन्य राष्ट्र समूह का जन्म हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व

---

1 'India and its allies constitute a strong candidate for the future balances If the Afro-Asia-Arab bloc led by India continues to gain power it might be able to hold balance between U. S A and U. S S R" —Prof Lerche

2 'The historically most important manifestation of the balance of power, however is to be found not in the equilibrium of two isolated nations but in the relations between one nation or alliance of nations and another alliance" —Prof. Margenthau

Triple-Alliance (जर्मनी, इटली और आस्ट्रिया के मध्य) तथा Triple Entente (त्रिगुट—फ्रांस, रूस और इंग्लैंड के मध्य) तथा साधारण और विस्तृत अर्थों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी गुट तथा साम्यवादी गुट और बाद में असंलग्न राष्ट्र गुट को भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

क्षतिपूर्ति (Compensation)

प्रो० हार्टमन का मत है कि बाह्य शक्ति, सीमा के निकट या उपनिवेशों के रूप में अतिरिक्त भूमि प्राप्त कर बढ़ाई जा सकती है।[1] क्षतिपूर्ति किसी राष्ट्र के विभाजन के रूप में या अन्य राष्ट्र की भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के रूप में एक सीधा व सर्वसाधारण तरीका है—शक्ति सन्तुलन के लिए। यह १८वीं और १९वीं शताब्दियों में सर्वाधिक रूप से प्रचलित तरीका था। प्रो० मारगनथा का विचार है कि राजनैतिक समझौते जो राजनैतिक सन्धियों के फलस्वरूप होते हैं क्षतिपूर्ति या पारितोषिक के ही रूप हैं अतः शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए १७१३ की Treaty of Vetrecht, जिसने स्पेन के उत्तराधिकारों के युद्ध का अन्त किया तथा पोलैण्ड का १७७२, १७९३ और १७९५ में विभाजन, १९०६ में Ethopia का इंगलैंड और इटली के मध्य प्रभावशील भागों (Sphere of Influence) में विभाजन तथा १९०७ में ईरान का प्रभावित भागों में विभाजन व अन्य कई प्रकार के मामले दिए जा सकते हैं।

शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण
(Armament and disarmament)

प्रो० मारगनथा, पामर, परकिन्स एवं अन्य विद्वानों का मत है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए सैनिक तैयारी पर सबसे अधिक जोर देता है और शस्त्रीकरण शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का एक प्रमुख साधन है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से शक्ति सन्तुलन का प्रगतिशील और महत्वपूर्ण साधन है—निःशस्त्रीकरण जिसके द्वारा राष्ट्र शस्त्रों को बढ़ाने की होड़ को छोड़ कर शस्त्रों की संख्या को कम करने की होड़ में लग जाते हैं। प्रो० पामर और परकिन्स का विचार है कि निःशस्त्रीकरण की समस्या निःशस्त्रीकरण न होकर शक्ति सन्तुलन है। नेपोलियन के युद्ध की समाप्ति के उपरान्त से ही अनेक सम्भव प्रयत्न निःशस्त्रीकरण के लिए किए जा चुके हैं।

---

1. "Power may also be increased externally by acquiring additional territory either contiguous to the existing frontier or in colonial areas." —*Prof. Hartmann.*

मध्यस्थता और अमध्यस्थता
(Intervention and Non-Intervention)

इस विधि का प्रयोग शक्ति सन्तुलन करने वाले राष्ट्र द्वारा किया जाता है। मध्यस्थता का अर्थ यह है कि सन्तुलनकर्ता राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के युद्ध और झगड़ों में भाग लेता है जिससे युद्ध के कारण शक्ति सन्तुलन असन्तुलित न हो जाए। अमध्यस्थता का अर्थ है कि राष्ट्र समय पर स्थित शक्ति सन्तुलन से सन्तुष्ट है और शक्ति सन्तुलन को कायम रखने के लिए शान्तिप्रद साधनों का प्रयोग करता है।

मध्य राष्ट्र (The Buffer States)

शक्ति सन्तुलन की एक अन्य विधि है मध्य राष्ट्र। दो राष्ट्र एक मध्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए इसलिए राजी हो जाते हैं कि उसका आधिपत्य एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से शक्तिशाली बना देगा। अतः कोई भी राज्य उसका (मध्य राष्ट्र) दूसरे राज्य के अधीन होना पसन्द नहीं करेगा। पामर और परकिन्स के विचारानुसार दो ध्रुवों वाली दुनिया (Bipolar world) में बिना मध्य क्षेत्र (Buffer zones) और उदासीन भूभागों (Neutral areas) के शक्ति सन्तुलन बड़ा कठिन है क्योंकि इस हालत में दो भागों में सीधी टक्कर होने की सम्भावना बनी रहती है।

उदाहरण के तौर पर अफगानिस्तान, बेलजियम, हॉलैण्ड तथा स्वीट्जरलैण्ड के उदाहरण दिए जा सकते हैं।

बांटो और शासन करो (Divide and Rule)

प्राचीनतम और अत्यधिक प्रयोग में आने वाली विधियों में से यह एक है जिसके द्वारा शक्ति सन्तुलन स्थापित किया जाता है। प्रो० मारगनथो कहते हैं कि सन्तुलन दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है—प्रथम शक्तिशाली राष्ट्रों को कमजोर बनाने के प्रयत्नों द्वारा तथा द्वितीय निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने के प्रयत्नों द्वारा। इसी प्रक्रिया का नाम 'बांटो और शासन करो' है। इसका प्रयोग उन राष्ट्रों द्वारा किया गया जिन्होंने अपने विरोधी राष्ट्रों को तोड़ के पीछे छोड़ने का प्रयत्न किया। इन राष्ट्रों ने विरोधी राष्ट्रों को विभाजित कर या बंटा हुआ रख कर उनको अपनी तुलना में आगे नहीं बढ़ने दिया। इसके प्रमुख उदाहरण हैं फ्रांस और जर्मनी की नीतियां, इंगलैंड की हेनरी अष्टम के समय में यूरोप के प्रति नीति तथा रूस की यूरोप में नीति।

शक्ति सन्तुलन करने वाला राष्ट्र अर्थात् सन्तुलनकर्ता
(The Holder of the Balance)

शक्ति सन्तुलन पद्धति में तीन अंग हो सकते हैं—दो अंग वे जिनमें शक्ति सन्तुलन करना है तथा तृतीय अंग वह राष्ट्र जो इन दो राष्ट्रों के मध्य शक्ति सन्तुलित करता है और जिसको सन्तुलनकर्ता (Balancer) के नाम से

वर्तमानकाल में शक्ति-सन्तुलन
(The Balance of Power today)

शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त ने उस युग में सफलतापूर्वक काम किया जब यूरोप में विभिन्न राज्यों की शक्ति में अधिक असमानता न थी और नीतियाँ कुछ व्यक्तियों द्वारा ही नियन्त्रित होती थी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पश्चात, यूरोप में *शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के सफलतापूर्वक कार्य की सम्भावनाएं कम हो गई, विशेष रूप* से यूरोप के शक्ति सन्तुलन के विश्वव्यापी बनने से। पामर और परकिन्स् (Prof. Palmer and Perkins) ने उन तत्वों का इस प्रकार वर्णन किया है, जिन्होंने इस सिद्धान्त को प्रभावहीन कर दिया है—

(१) *नई शक्तियों का प्रभाव—राष्ट्रवाद, औद्योगीकरण, प्रजातन्त्र, जन शिक्षा,* युद्ध की नई प्रणालियाँ, जनमत का बढ़ता हुआ महत्व, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन, राष्ट्रों की आर्थिक क्षेत्र में परस्पर निर्भरता, उपनिवेशों का अन्त—ने शक्ति सन्तुलन को *अत्यन्त सरल तथा अत्यन्त कठिन नीति बना दिया है।*

(२) वर्तमान युग में शक्ति की अवहेलना और सन्तुलनकर्ता के न होने से इस सिद्धान्त के लिए कार्य करना असम्भव बना दिया है। जैसा कि हमें ज्ञात है शक्ति सन्तुलन के लिए अनेक या बहुल राष्ट्र पद्धति और सन्तुलनकर्ता की आवश्यकता होती है, इसके बिना यह कार्य नहीं कर सकता।

(३) आक्रमणकारी राष्ट्र की शक्ति में विपक्षी राष्ट्र की तुलना में अस्थायी रूप से वृद्धि और युद्ध का रूप सम्पूर्ण युद्ध (Total war) होना—जिसका अर्थ है शक्ति *सन्तुलन का प्रबल समर्थक भी शक्ति सन्तुलन को ठीक बनाने के लिए विश्वव्यापी* संघर्ष में भाग लेने से पूर्व हिचकिचायेगा।

(४) विचारधाराओं का बढ़ता हुआ महत्व—१९वीं शताब्दी में राजनीतिज्ञों को *विपक्षियों की शक्ति के अनुमान लगाने में विशेष रुचि थी, न कि विचारधारा सम्बन्धी।* आजकल विभिन्न समझौते या सन्धियाँ राष्ट्रों के मध्य विचारधाराओं को आधार बनाकर किये जाते हैं।

(५) तुलनात्मक रूप में शक्तिशाली राष्ट्र और भी अधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनते जा रहे हैं जब कि दूसरी ओर कमजोर राष्ट्र अधिक कमजोर होते जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के विषय में विरोध में अन्य बातें भी हैं।

(६) शक्ति सन्तुलन में गुप्त सन्धियाँ और समझौते निहित हैं। २०वीं सदी में कूटनीति के प्रजातान्त्रिक हो जाने से *इस प्रकार की गुप्त सन्धियाँ असम्भव हो गई* हैं। वर्तमान युग सार्वजनिक और प्रजातान्त्रिक कूटनीति का युग है।

(७) दूसरे राष्ट्र की सम्भावित शक्ति का अनुमान लगाना बहुत ही कठिन है।

आज २०वीं सदी में शक्ति सन्तुलन सरल तथा साधारण है क्योंकि अमेरिका तथा रूस ही आज की राजनीति के नेता बन हुए हैं तथा इंगलैण्ड अब सन्तुलनकर्ता का भाग अदा करने में असमर्थ है। अतः कुछ विख्यात विद्वान् व राजनैतिक शास्त्री शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को बेकार मानते हैं। उदाहरण के लिए Carl J. Friedrich और Quincy Wright का मत है कि तात्विक रूप से, अगर यथार्थ में नहीं, शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अप्रभावशील व असामयिक हो चुका है। क्वींसी राइट इसे प्रजातन्त्र के विपरीत मानते हैं। उनका कहना है कि अगर प्रजातन्त्र को प्रोत्साहित करना है तो हमें शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को त्यागना होगा। प्रो० मारगन थो के अनुसार इसके निम्न तीन दोष हैं—(१) इसकी अनिश्चितता (Its uncertainty), (२) इसकी अवास्तविकता (Its unreality) और (३) इसकी अपर्याप्तता (Its inadequacy)।

यह सत्य है कि शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त इस युग में अपनी उपयोगिता और महत्ता खो चुका है तो भी इसको पूर्णतः बेकार कहना उचित नहीं और जैसा कि प्रो० पामर और परकिन्स कहते हैं—"जब तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राज्य-राष्ट्र-प्रणाली (Nations state system) प्रचलित है, शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता रहेगा, चाहे इसे सिद्धान्त में कितना ही दोषी कहा जाय। सभी अवस्थाओं में यह कार्य करता रहेगा, चाहे प्रादेशिक अथवा विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का संगठन किया जावे।"[1]

BIBLIOGRAPHY

(1) International Relations · Palmer and Peskins
(2) Politics Among Nations : Hans J. Margen than.
(3) The Relations of Nations : Hartmann
(4) Principles of International Politics · Prof. Lerebe
(5) Introduction to International Relations · Schleicher.

1. "As long as the nations state system is the prevailing pattern of international society, balance of power politics will be followed in practice, however soundly they are damned in theory. In all probability they will continue to operate even if effective supra national grouping, on a regional or a world level, are formed"

—Prof Palmer and Perkins

स्वतन्त्रता के बाद Dr Azikiwa प्रथम राष्ट्रपति और Abubkar Tabawa Balwa प्रथम प्रधान मन्त्री। राष्ट्रपति एवं प्रधान मन्त्री के पदों पर इस प्रकार सामान्य-सहमति से नाइजीरिया, प्रजातन्त्र की सफलता की प्रथम अग्नि परीक्षा सम्पूर्ण हुई, क्योंकि प्रधानमन्त्री पद के लिए इन दोनों नेताओं में बड़ा संघर्ष की सम्भावना थी, जो सम्भवतः दो कबीलों के गृहयुद्ध में परिणित हो जाता, जैसा कि कांगो में हुआ।

नाइजीरिया में 'Northern People, Congress' (N P C) प्रमुख राजनीतिक दल है, जिसके नेता प्रधान मन्त्री Tafawa Balwa है (Nation Council of Nigerica Citizens प्रमुख-विरोधी दल है। परम्परा-वादी N. P. C दल के विरुद्ध यह दल नए प्रगतिशील विचारों का समर्थक है। पूर्वी क्षेत्र के Ibo कबीले में इस दल का अधिक प्रभाव है। Northern Elements Progressive Union अन्य प्रगतिशील दल है। अन्य विकासोन्मुख देशों की तरह यहाँ भी दल गत-राजनीति धर्म, क्षेत्रीयता आदि पर आधारित है, जो राष्ट्रीय एकता में समय समय पर बाधक रहे हैं। दिसम्बर, 1964 के आम चुनावों के दौरान एक ऐसी ही गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई थी, जबकि पूर्वी प्रान्त के मुख्य मन्त्री और क्षेत्रीय N. C. N. C. दल के नेता Dr. Okkara ने अपने राज्य को अलग करने का प्रश्न उठाया था। किसी तरह राष्ट्रपति Azikiwa ने N P. C. और N. C N. C. दल की मिली-जुली सरकार बनवाकर समस्या को टाला।

नाइजीरिया में नई पीढ़ी में तीव्र-प्रगतिशील विचार पनप रहे हैं, जो पाश्चात्य-मूल्यों के स्थान पर समाजवाद और अफ्रीकावाद के अधिक निकट है। फिर भी निकट भविष्य में ऐसी कोई आशा नहीं दीखती कि यह देश वर्तमान-स्वरूप को छोड़कर Ultra Africanist [illegible] Socialist हो जायगा।

आइवरी-कोस्ट —फरवरी 1960 में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यह राष्ट्र फ्रांस का उपनिवेश था और इसमें गिनि सेनेगाल टोगो आदि राज्य भी सम्मिलित थे। परन्तु स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के तत्कालीन नेता व आइवरी कोस्ट के वर्तमान राष्ट्रपति की फ्रांस के प्रति उदारनीति के कारण शेष राज्यों ने पृथक हो जाना उचित समझा। प्रचुर साधन सम्पन्न आइवरी-कोस्ट ने भी इसे स्वीकार कर लिया क्योंकि यहाँ आर्थिक-समृद्धता व प्राकृतिक साधन अधिक थे व उन्हें शिकायत थी कि दूसरे राज्य उनमें हिस्सा बटायेंगे।

राष्ट्रपति Houphout Boigny फ्रांस की पद्धति पर अध्यक्षात्मक सरकार चला रहे हैं। स्वयं ही प्रधान मन्त्री भी हैं। Democratic Party of Ivory Coast (P.D.C.I.) यहाँ का एक मात्र राजनीतिक दल है। फिर भी दल के अन्दर शासन की आलोचना का पूरा अधिकार है। विधि-निर्माण के क्षेत्र में भी राष्ट्रपति को काफी विशेषाधिकार प्राप्त हैं और राष्ट्रपति विशेषाधिकार का प्रयोग कर सकता है। संसद दो तिहाई बहुमत से उसे महत्वहीन कर सकती।

राष्ट्रपति Boigny समाजवाद और अल्ट्रा अफ्रीकनिज्म के सख्त विरोधी हैं। फिर भी नई पीढ़ी में समाजवादी दृष्टिकोण को न पनपने देने में वे सफल नहीं हो पाये हैं।

लाइबीरिया :—लाइबीरिया अफ्रीका के समस्त देशों से अलग प्रकार का एक देश है जो पाश्चात्य मूल्यों के आधार पर प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील है। इथियोपिया को छोड़कर यही एक ऐसा देश है जो यूरोपीय दासता से मुक्त रहा।

संयुक्त राज्य अमेरिका का संरक्षण, इस देश को आज़ाद बनाए रखने के लिए काफी महत्वपूर्ण रहा है। इस राज्य को आबाद करने वाले वे अमरीकी नीग्रोज हैं जो अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत होकर यहाँ लौट आए हैं। यहाँ का एक मात्र राजनीतिक दल 'The

True Whig Party और राष्ट्रपति Tubman इसी अमरीकी लाइबेरियन समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वस्तुतः यहाँ के 20 लाख आदि वासियों तथा 20000 अमरीकी-लाइबेरियन्स में एक खाई बन गई है। परन्तु अब राष्ट्रपति Tubman कुछ वर्षों से विरोध के बाद इन दो विभिन्न समाजों का एकीकरण करने के लिए कटिबद्ध हैं। उन्होंने मन्त्रिमण्डल, न्यायपालिका और प्रशासनिक सेवाओं में आदिवासियों के लिए सुरक्षित स्थान भी रख छोड़े हैं। राष्ट्रपति टबमैन अपने देश को तटस्थ बताते हैं, फिर भी वे अमेरिका की ओर झुके हुए हैं। कुछ सैनिक सन्धियाँ भी कर रखी हैं। फिर भी फ्रांस एवं ब्रिटेन आदि की ओर उदासीन होने के कारण अन्य राष्ट्र उनकी तटस्थता में विश्वास करते हैं और कई बार दो अफ्रीकी राष्ट्रों के बीच झगड़ों में उन्हें मध्यस्थ बनाया गया है।

पाश्चात्य राष्ट्रवादी राज्यों के सामान्य तत्व

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन देशों पर पश्चिम का प्रभाव बहुत अधिक है। विदेश में इनकी नीति तटस्थता की रही है, फिर भी अनेकों अवसरों पर इन्होंने पश्चिम की ओर झुकाव दिया है। आइवरी कोस्ट के राष्ट्रपति Boigny मौके बे मौके साम्यवादी देशों की आलोचना करते ही रहते हैं। परन्तु प्रजातन्त्र का जो स्वरूप पश्चिमी देशों या हमारे देश में पहिचाना जाता है, वह यहाँ नहीं मिलता है। यहाँ नाइजीरिया को छोड़कर सब देशों में एक दल ही प्रमुख है। भाषण, प्रेस की स्वतन्त्रता या अन्य मौलिक अधिकारों को सरकारें दबाया करती रही हैं। वास्तव में यहाँ की सामान्य जनता भी इस ओर से उदासीन है। जब तक नई शिक्षित पीढ़ी तैयार नहीं हो जाती, प्रजातन्त्र का वास्तविक स्वरूप अभी दूर ही होगा।

Ultra Africanism

विज्ञान की देनों और आधुनिक व्यवस्था के प्रकाश में अफ्रीकी समाज और संस्कृति को पुनर्जीवित करना अल्ट्रा अफ्रीकानिज्म का प्रमुख उद्देश्य है। अफ्रीका सदियों से विश्व के अन्य भागों से कटा हुआ महाद्वीप रहा है। अतः यहाँ के लोगों की आदतें, स्वभाव एक विशिष्ट प्रकार के हो गए हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि यदि अफ्रीका का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास करना हो, प्रजातन्त्र स्थापित करना हो तो सामान्य जनता की इच्छाओं को, विचारों को समझा जाए। इस प्रकार से उनका सहयोग प्राप्त करके ही बढ़ा जा सकता है। अतः Ultra Africanism समर्थक अफ्रीका की संस्कृति व सामाजिक व्यवस्था को प्रमुख स्थान देते हैं। George W. shepherd ने Ultra-Africanism के सामान्य तत्व (Common elements) बताए हैं—[4]

(1) राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ ही नव-उपनिवेशवाद के प्रभाव से मुक्त होकर आर्थिक व सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना। इसके लिए अफ्रीकी एकता व बहुविध (Diversified) व्यापार को प्रोत्साहन देना।

(2) राज्य के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों के स्वामित्व, उत्पादन और समुचित वितरण की व्यवस्था और तेजी से आर्थिक विकास।

---

4. George W. Shepherd The Politics of African Nationalism (Frederick A. Praeger Publisher New York.) P. 65.

(3) जनता का विश्वास प्राप्त करते हुए एक दलीय शासन पद्धति को स्वीकार करना। दल के अन्दर विभिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता होगी पर सर्व मान्य राष्ट्रीय नीतियों के विरुद्ध दृष्टिकोण या आलोचना सह्य न होगी।

(4) उपनिवेशी दासता से मुक्ति के बाद बने राज्यों को एक बड़े संगठन में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करना। इस Pan African राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत अफ्रीकी लोगों की अमूल्य धरोहर महान संस्कृति और जातीय-व्यवस्थाओं को पुनर्जीवित करना।

घाना —हमें दिखा देना चाहिए कि हम अफ्रीकावासी स्वयं शासन संचालन कर सकते हैं राष्ट्र को प्रगतिशील एवं स्वतन्त्र बनाए रख सकते हैं और राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित रख सकते हैं। इस प्रकार के उत्तेजना एवं सनसनी-खेज वक्तव्य देने वाले घाना के राष्ट्रपति क्वामे नक्रूमा और उनका देश घाना अल्ट्रा-अफ्रीकनिज्म और पान-अफ्रीकनिज्म के सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वालों में अग्रणी रहे हैं। 1957 में ब्रिटिश दासता से मुक्ति के बाद से घाना तटस्थता की नीति पर चलता हुआ अपने आर्थिक विकास में लगा है। लन्दन-स्कूल आफ इकानोमिक्स में शिक्षा प्राप्त राष्ट्रपति नक्रूमा मार्क्सवाद से प्रभावित हैं। वे आर्थिक नियन्त्रणात्मक और वर्ग संघर्ष में विश्वास करते हैं। परन्तु वे साम्यवादियों के समाजवाद लाने के हिंसात्मक साधनों में विश्वास नहीं करते हैं। वास्तव में राष्ट्रपति नक्रूमा इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि अफ्रीकी-वातावरण के सन्दर्भ में प्रजातन्त्र और मार्क्सवाद दोनों का संशोधन कर मिश्रित स्वरूप व्यवहार में लाया जाय।

इसीलिए विकास की विभिन्न अवस्थाओं को पार करने के लिए वे एकीकृत केन्द्रीभूत शासन को व्यवहार में ला रहे हैं। घाना का संविधान केवल Convention Peoples Party को मान्यता प्रदान करता है। गांव के स्तर पर परम्परागत नेतृत्व वर्ग (कबीलों के सरदार) को कुछ भी विशेष अधिकार नहीं है। फलतः वे घाना की राजनीति में अनेकों बार अनावश्यक अवरोध उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं।

घाना के राष्ट्रपति अपने आपको अफ्रीका के नेता एवं पान-अफ्रीकनिज्म के प्रबल समर्थक घोषित करते हैं। 1961 में घाना की राजधानी अक्रा में आयोजित Organization of African Union के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर कहा था यदि हमें नव-उपनिवेशवाद के चंगुल से बचना है तो हमें हमारा एक राजनीतिक संगठन बनाना होगा। बिना संयुक्त राज्य अफ्रीका का निर्माण किए अफ्रीका विश्व में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

तंजानिया —अफ्रीका के तट पर स्थित जंजीबार और टैंगानिका राज्यों से मिलकर बना तंजानिया का संघ पहले अपनी स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था। यहां के राष्ट्रपति न्यरेरे प्रारम्भ में पश्चिम की ओर झुके हुए प्रतीत होते थे। परन्तु स्वतन्त्रता मिलने के बाद उनके स्वर बदल गए और अब वे Ultra Africanism की ओर झुके हुए हैं। उन्होंने अनेकों बार यह स्पष्ट घोषणा की है कि कोई भी जो तंजानिया की जीवन पद्धति को स्वीकार नहीं करता अच्छा हो कि वह इस देश को ही छोड़ दे।

राष्ट्रपति न्यरेरे पश्चिमी प्रजातन्त्र को अफ्रीका के लिए एकदम व्यर्थ बताते हैं। उनका प्रजातन्त्र से तात्पर्य है —

(1) एक-दल व्यवस्था।

(2) विभिन्न विषयों पर वाद विवाद हो पर दल के अन्दर ही।

(3) प्रजातान्त्रिक शासन केन्द्रित हो। इसमें सभी उत्तरदायी पदों पर निर्वाचित

प्रतिनिधि होंगे। वे राष्ट्रीय-गतिविधियों पर वाद-विवाद भी कर सकते हैं, पर निर्णय राष्ट्राध्यक्ष का मान्य होगा।

तंजानिया तटस्थ रहकर अपना विकास करना चाहता है। जून 1965 में चीनी प्रधान मन्त्री के स्वागत में दिए गए भोज में बोलते हुए उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में चीन को चेतावनी देते हुए कहा था "हम हमारे सिद्धान्तों और देश को थोड़ी सी मुद्राओं के पीछे बेचने को तैयार नहीं होंगे। न ही हम किसी का हस्तक्षेप पसन्द करेंगे।"

गिनी —पश्चिमी अफ्रीका में एक छोटा सा देश होते हुए भी अपनी दृढ़ नीतियों के कारण राष्ट्रपति Sikou Toure ने अपने राष्ट्र को अफ्रीका के प्रतिष्ठित राष्ट्रों की श्रेणी में रख दिया है। 1958 में फ्रांस के राष्ट्रपति द गाल की कड़ी धमकियों के बावजूद राष्ट्रपति तूरे ने फ्रांस का अंग बनना स्वीकार नहीं किया और अंत में देश को स्वतन्त्र कराकर ही रहे। फ्रांस और अन्य पश्चिमी देशों की कटु आलोचनाओं और साम्यवाद के पिट्ठू होने के आरोपों के बावजूद उन्होंने अपने देश को राष्ट्रपति तूरे ने अपने को नव उपनिवेशवादी राज्यों के चंगुल से बचाने की चेष्टा की है।

अन्य अल्ट्रा-अफ्रीकनिस्ट देशों की भांति यहां भी एक-दलीय शासन है। राष्ट्रपति तूरे विरोधी-दलों के बारे में सबसे अधिक असहिष्णु व्यक्ति माने जाते हैं। अफ्रीका जैसे पिछड़े महाद्वीप में उनका विश्वास है, कि विरोधी केवल विरोध के लिए होता है। धर्म व जातीयता की संकीर्ण विचारधाराएं शासन को नीचा दिखाने की कोशिश करती हैं। अतः विरोधी दलों को किसी भी तरह कुचल देने की नीति की राष्ट्रपति तूरे स्पष्ट घोषणा करते हैं।[5] जनता के लिए जनता की सरकार ही 'यह वे मानते हैं। पर एक दल में अपना विश्वास प्रकट कर भी जनता अपनी इच्छा व्यक्त कर सकती है। यही कारण है कि वहां केवल Democratic Party of Guinea को ही मान्यता प्राप्त है। गिनी का संविधान नागरिकों को निष्पक्ष न्याय पालिका व विशिष्ट धर्म-जाति को मानने की स्वतन्त्रता का आश्वासन देता है।

घाना के राष्ट्रपति नक्रूमा के साथ मिलकर राष्ट्रपति तूरे ने अल्ट्रा-अफ्रीकनिज्म के प्रसार में काफी योग दिया है।

अल्ट्रा अफ्रीकनिस्ट राष्ट्रों के सामान्य तत्व '—इन राष्ट्रों की प्रबल इच्छा है कि वे अफ्रीकी संस्कृति को महत्व प्रदान करते हुए देश में औद्योगिक विकास व समाजवाद लाने के प्रयत्न करें। उनकी इस भावना को पश्चिमी और साम्यवादी राष्ट्र स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाए हैं। यही कारण है कि तंजानिया, गिनी आदि पश्चिम के कोप-भाजन बनते रहे व कई बार आर्थिक-सहायता से वंचित होना पड़ा। इस स्थिति का लाभ साम्यवादी उठाते हैं व साम्यवाद का प्रचार करते हैं।

---

5. "A year from now one won't walk into a town and meet a thousand idlers chatting from morning to night…If [illegible] necessary to have a scaffold for counter-revolution aries who still wa t to hold down this country, France had the Guillotine, Guinea shall have the scaffold."

Quoted by G W. Shepherd : Op. cited (Page 99).

सैनिक शक्ति पर आधारित राष्ट्र

मिस्र, अल्जीरिया आदि कुछ देश ऐसे हैं, जहां सैनिक तानाशाही है। अपने शासकों से सत्ता हथियाने के बाद ये देश अपने आपको प्रजातांत्रिक पद्धति पर ढालने प्रयास कर रहे हैं। इनका अलग से अध्ययन करना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है, कि अफ्रीका और अफ्रीकी-संस्कृति के बारे में इनकी नीतियां स्पष्ट नहीं हो पाई हैं। वैसे तौर पर ये अल्ट्रा, अफ्रीकनिस्ट होने का दावा करते हैं, पर सूक्ष्म देखने पर इनका, विशेषकर मिस्र का, अल्ट्रा-अफ्रीकनिज्म से अलगाव स्पष्ट हो जाता है।

मिस्र — हम भी अफ्रीकी हैं' (We' too, are Africans) कहने वाले ... नासर ने 1953 में अपने पूर्व सैनिक तानाशाह General Naugib को पदच्युत शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया था। 1956 में स्वेज नहर के एक पक्षीय राष्ट्रीयकरण घोषणा कर मिस्र की जनता का विश्वास प्राप्त करने में अपूर्व चातुर्य दिखाया था। ... घटना ने उन्हें मिस्र में ही नहीं अरब राष्ट्रों में भी प्रतिष्ठित नेता का स्थान प्रदान किया। इजराइल विरोधी नीति को आधार बनाकर राष्ट्रपति नासर अरब राष्ट्रों में अपनी ... बनाए हुए हैं व उनका झुकाव अरब देशों के संगठन की ओर ही है।

साथ ही राष्ट्रपति नासर अफ्रीका में भी अपनी स्थिति बनाए रखना चाहते हैं यहां भी अपना नेतृत्व को प्रतिष्ठित रखने के लिए उनका दावा है 'हम भी अफ्रीकी हैं। वस्तुतः मिस्र कुछ समय पूर्व तक अफ्रीकी होते हुए भी अफ्रीका की ओर से उदासीन था। प्राचीन सभ्यता व इतिहास के साथ ही सहारा के मरुस्थल ने भी मिस्र अफ्रीका से अलग रहने देने में काफी योग दिया है। व मिस्र का सम्बन्ध शेष अफ्रीकी ... की अपेक्षा एशिया व अरब राष्ट्रों से अधिक रहा है। अभी भी मिस्र में अपने प्रति श्रेष्ठता की भावना व्याप्त है, जो उसे अफ्रीकी देशों से मिलने नहीं देती। परन्तु जब नक्... ने अफ्रीकी राज्यों के संघ और अफ्रीकी-संस्कृति का नारा लगाया तो महत्वाकांक्षी इधर भी अपना नेतृत्व बनाए रखने के लिए अपने अफ्रीकी होने की बात करने लगे व समय समय पर साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्षरत जनता को शस्त्रास्त्र से सहायता दी है।

स्वेज (हालांकि यह प्रश्न सुलझ चुका है) और इजराइल ये दो प्रश्न ऐसे थे ... राष्ट्रपति नासर को पश्चिम का कटु आलोचक बना दिया। परिणाम स्वरूप ब्रिटेन-फ्रांस आर्थिक सहायता बन्द कर दी। व अमरीका ने भी काफी कटौती की है। इसका ... रूस व चीन ने उठाने की कोशिश की है। हाल के चीनी-रूसी ... से शिक्षा लेकर ... अब रूस की ओर मैत्री का हाथ बढ़ा रहे हैं।

देश के अन्दर हालांकि सैनिक तानाशाही है फिर भी कुछ क्षेत्रों में नासर-... भावनाएं मौजूद हैं। राष्ट्रपति की हत्या के भी कई बार प्रयास किए गए। अगस्त 65 Moslem Brotherhood की आवाज उठाने वाले एक दल को नासर ने इसी घटना के सम्बन्ध में कुचलने का प्रयास किया है।

अल्जीरिया —में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व फ्रांसीसियों का उपनिवेश था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी यहां राजनैतिक स्थायित्व नहीं बनाए रखा जा सका। ... के कुछ ही समय बाद दो लोकप्रिय नेता बेनबेला और बनमेदा में नेतृत्व के लिए ... छिड़ गया। जनरल बूमेदीनिन की सहायता से अन्त में बेनबेला को सफलता मिली

बेनखेदा को कैद कर लिया गया। तब से राष्ट्रपति का कार्य भार बेनबेला ने सम्हाला और राष्ट्रीय सुरक्षा-विभाग बूमेदीन ने सम्हाला, जो साथ ही प्रथम उपराष्ट्रपति भी थे।

जून 1965 में अल्जीरिया में कर्नल बूमेदीन के नेतृत्व में पुनः क्रांति हुई और राष्ट्रपति बेनबेला अपदस्थ कर दिए गए और बूमेदीन ने स्वयं को क्रांतिकारी परिषद का अध्यक्ष घोषित कर दिया। तब से बूमेदीन अपने देश में व्यवस्था बनाए रखने में ही लगे हैं और आर्थिक क्षेत्र में व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में या अफ्रीकी देशों से सम्बन्ध के बारे में उनकी क्या नीतियां हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाया है।

श्वेत प्रभुत्ववाद पुनः सिर उठाता हुआ।—मई 1965 में Ian Smith के दल को दक्षिणी रोडेशिया में जब प्रबल बहुमत मिला और प्रधानमन्त्री पद की शपथ ग्रहण की तो जब उन्होंने एक पक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर देने के लिए धमकियां दीं तो अफ्रीका ही नहीं, पूरा विश्व एक बार फिर रंगभेद की नीति पर श्वेत-प्रभुत्ववाद के प्रति सशंकित हो उठा। अफ्रीका में दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी रोडेशिया अब भी दो ऐसे देश हैं जहां अल्पसंख्यक गोरे हुकूमत के बल पर अश्वेत लोगों पर स्वेच्छाचारी शासन कर रहे हैं।

दक्षिणी अफ्रीका।—अंग्रेज और डच लोग जो कि लगभग 30 लाख की संख्या में हैं, अफ्रीका के 1 करोड़ मूल निवासियों एवं 25 लाख गैर यूरोपियों जिनमें भारतीय प्रमुख हैं के शासक बने हुए हैं। 1910 में ब्रिटेन ने (1910 में यहां कई उपनिवेशित बोअर श्वेत नागरिकों ने ब्रिटिश सत्ता का प्रारम्भ में विरोध कर दिया था) आजादी के बाद गोरों की सरकार बनी। आरम्भ में कालों को संसद के 3 प्रतिनिधियों के लिए स्थान सुरक्षित था। पर बाद में 1936 में यह भी न रहा। इस प्रकार अश्वेतों को उनके मूल अधिकारों से ही नहीं अपितु सामाजिक सुविधाओं से भी वंचित रखने की कोशिश की जा रही है।

दक्षिणी अफ्रीका की वर्तमान पीढ़ी इन अत्याचारों के खिलाफ संघर्ष कर रही है। एशियाई देशों ने भी U. N. O. के माध्यम से अनेकों प्रतिबन्ध लगाए हैं, पर अभी तक समस्या का हल नहीं निकला है। यही कारण है कि नई पीढ़ी अब उग्र विचारों को अपनाकर हिंसात्मक कार्यवाहियों में विश्वास करने लग गई है।

दक्षिणी रोडेशिया।—दक्षिणी अफ्रीका की भांति दक्षिणी रोडेशिया भी श्वेतों का गढ़ रहा है। अभी तक वहां ब्रिटेन का शासन था। परन्तु वास्तव में आन्तरिक मामलों में स्थानीय श्वेत सरकार ने लगभग पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त कर ली है। और 2.5 लाख गोरे अब 30 लाख रोडेशिया के मूल-निवासियों के स्वामी बने हुए हैं। गोरों की राजनीति पूर्णतः रंग-भेद नीति पर आधारित है। मई 1965 के आम चुनावों से स्पष्ट हो जाता है कि रंगभेद नीति के कट्टर समर्थक होने के कारण ही इन्हें प्रबल बहुमत मिला है। और उदार विचार वाले संयुक्त रोडेशिया दल (United Rhodesia Party) को नगण्य स्थान मिला है।

शासकीय दल डोमीनियन पार्टी के नेता Ian Smith प्रधान मन्त्री बनने के बाद ब्रिटेन से पूर्ण आजादी प्राप्त करने की कोशिश में लगे हैं। उन्होंने ब्रिटेन को धमकी दी है कि यदि दक्षिणी रोडेशिया को शीघ्र ही स्वतन्त्रता नहीं प्रदान की गई तो एक पक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जायेगी। अफ्रीकी एशियाई देशों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। अक्टूबर 1965 में घाना में हुए अफ्रीकी एकता संघ (OAU) के सम्मेलन में अफ्रीकी राष्ट्राध्यक्षों ने संयुक्त विज्ञप्ति में प्रति-धमकी (Counter Threat) दी है कि यदि ब्रिटेन ने दक्षिणी-रोडेशिया के गोरों के विरुद्ध कड़ा कदम नहीं उठाया तो उन्हें विवश होकर ब्रिटेन से अफ्रीकी देशों के आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना होगा। ब्रिटेन के

प्रधान मंत्री विल्सन और रोडेशिया के प्रधानमंत्री स्मिथ में एक शाही आयोग बनाने के बारे में समझौता हो गया था।[6] यह आयोग एक ऐसे संविधान का आधार तैयार करेगा जो रोडेशिया की जनता को मान्य होगा। इसके फलस्वरूप स्मिथ द्वारा एक तरफा स्वाधीनता की घोषणा करने से उत्पन्न होने वाला संभावित संकट तब टल जाता। परन्तु 10 नवम्बर 1965 को स्मिथ सरकार ने रोडेशिया की स्वतन्त्रता की एक तरफा घोषणा कर दी।

अफ्रीकी राष्ट्रवाद का स्वरूप —अफ्रीका में राष्ट्रवाद के विभिन्न स्वरूपों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पीढ़ी किसी भी प्रकार के राष्ट्रवाद को अपना सकती है पर नई पीढ़ी में संभवतः उग्र व क्रांतिकारी विचार जन्म ले रहे हैं।[7] इस पीढ़ी में वस्तुतः अल्ट्रा अफ्रीकनिज्म की भावना पनप रही है। प्रजातन्त्र के स्वरूपों पर विचार या संघर्ष करने के स्थान पर वे तेजी से आर्थिक व सामाजिक क्रांति लाना चाहते हैं। सम्भावना यह है कि यदि उचित दिशा नहीं मिला तो नई पीढ़ी हो जाय।

प्रजातन्त्र और संविधान महत्वाकांक्षी नेतृत्व के संदर्भ में —अफ्रीकी-जनता के दृष्टिकोण का राष्ट्रीय-नेतृत्व का पूरा पूरा उपयोग करने की कोशिश कर रहा है। अफ्रीकियों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि अधिकांश देश दो या अधिक कबीला जातियां मिलकर बने हैं। भारत में साम्प्रदायिकता की भांति वहां भी इन जातियों में आपसी विरोधी-भावनाएं भरी जा सकती हैं। दूसरे व्यापक निरक्षरता के कारण—कुल की 12% अफ्रीकी जनता साक्षर है अफ्रीकावासी राजनीतिक प्रचारों के आसानी से शिकार हो जाते हैं। यही कारण है कि वहां संसदीय-प्रजातन्त्र सफल नहीं रहा है।

ऐसी दशा में यदि विभिन्न देश अपने आन्तरिक द्वन्द्वों में फंसे रहे तो आर्थिक विकास की गति अवरुद्ध हो सकती है। इन्हीं सम्भावनाओं पर विचार करते हुए अफ्रीका प्रजातन्त्र को अपने रूप में अपना रहा है। प्रायः अधिकांश राष्ट्रों में सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में है और विरोधी-दलों के लिए विशेष स्थान नहीं है। यूगांडा के प्रधान मंत्री ओबोटे ने समय पूर्व विरोधी-पक्ष की उपस्थिति संदर्भ में कहा था "संविधान ने विरोधी दल को कुछ दिया है मैं उसमें कुछ कमी नहीं कर रहा हूं पर वास्तविकता यह है कि संविधान ने उन्हें कुछ भी सुविधाएं या आश्वासन नहीं दिए हैं।"

अफ्रीका में सत्ता के केन्द्रीयकरण व एक व्यक्ति के प्रभुत्व की आवश्यकता को संदर्भ में अनुचित नहीं ठहरा सकते। पर समस्या तब उपस्थित होती है जब दो या अधिक नेता सत्ता के लिए संघर्ष करते हैं और स्वयं को लोकप्रिय बताते हैं। कांगो में राष्ट्रपति कासावूबू व स्वर्गीय प्रधान मंत्री के बीच व [illegible] के बीच हुए संघर्ष इसके उदाहरण हैं। कुल मिलाकर मुसीबत यह कि जनता के निर्वाचन के आधार पर नहीं अपितु सैनिक संघर्ष के आधार पर दो विरोधी विचारों व नेता सत्ता हथियाने की कोशिश करते हैं। ऐसे संघर्ष अफ्रीकी-जनता व सामाजिक व्यवस्था के लिए बड़े खतरे हैं।

---

6 हिन्दुस्तान, 31 अक्तूबर 1965

Nationalism eager to be marged into Pane-Africanism

राष्ट्रपति नक्रुमा ने 1960 में घाना के स्वतन्त्र होते ही अफ्रीकी राजनीतिक एकता संघ (African Political Union) का नारा लगाया है। उनका कहना है अफ्रीका . . . ने उपनिवेशवादियों के हाथों एक जैसे दुख सहे हैं। सभी राष्ट्र पिछड़े हुए हैं और इसीलिए आर्थिक सहायता के बहाने नव उपनिवेशवाद पुनः सत्ता जमाना चाहता है। अतः बिना एक संगठन स्थापित किए—जिसे वे संयुक्त राज्य अफ्रीका पुकारते हैं—अफ्रीका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं बनाए रख सकता।[7]

राष्ट्रपति नक्रुमा के समर्थक गिनी के राष्ट्रपति Sekon Toure तन्जानिया के राष्ट्रपति न्यरेरे[8] आदि हैं। 21 से 26 अक्टूबर 65 के बीच होने वाले अफ्रीकी-एकता संघ के सम्मेलन में (36 राष्ट्राध्यक्षों ने इसमें भाग लिया था) घाना ने प्रस्ताव रखा था कि संयुक्त राज्य अफ्रीका की ओर क्रमशः बढ़ने के लिए प्रथम कदम के रूप में सभी राज्यों की एक कार्यपालिका समिति स्थापित की जाय। पर यह केवल 18 राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया। सनीगल, लाइबेरिया, नाइजीरिया आदि राज्यों ने इसका विरोध किया। विशेषकर पश्चिमी प्रभाव क्षेत्रों में यह शंका व्यक्त की जाती है कि ऐसे संघ को प्रतिक्रियावादी तत्व अपनी इच्छाओं को क्रियान्वित करने के लिए मंच बना लेंगे। अतः अफ्रीकी एकता संघ राज्य में परिणित होना असम्भव ही लगता है।

अफ्रीका और संयुक्त राष्ट्रसंघ :—अफ्रीकी देश ज्यों ज्यों स्वतन्त्र होते जा रहे हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रीका और एशियाई देशों का संयुक्त स्वर अधिक सशक्त और प्रभावशील होता जा रहा है। दक्षिणी अफ्रीका की आर्थिक-नाकेबन्दी की भावना, कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ का कड़ कदम उठाने के लिए बाध्य करना और अब दक्षिणी रोडेशिया के मामले पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में आवाज उठाना आदि ऐसे उदाहरण हैं कि जिनसे संयुक्त राष्ट्र संघ में अफ्रीकी देशों का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

परन्तु पश्चिम में इस बात को लेकर बड़ी चिन्ता है। उन्हें भय है कि कहीं भावावेश में आकर अफ्रो-एशियाई राष्ट्र जल्दबाजी में निर्णय न लेने लग जाय। गम्भीरता से विचार न करने से सम्भव है कि कोई पक्ष अत्यधिक उत्तेजित हो जाय और विश्व शांति को खतरा उपस्थित हो जाय। 1962 में संयुक्त राष्ट्र महा सभा में बोलते हुए मेक्सिको

---

7. पान-अफ्रीकनिज्म की व्याख्या एवं स्वरूप की कोलिन लीगम ने इस प्रकार विवेचना की है : "Pan. Africanism has produced a language of its own which conditions the thinking and the politics of the entire continent. Emotion have been converted into ideas and ideas into slogans" by Colin Legum :

Pan Africanism' (Page & 111)

8. The week and divided can never hope to maintain adignified independece. We know that a black-nised Africa, even if gets independence, will in fact be an easy try to the forces of neo-colonialism"

Nyerere speaking in the Conference of African States, 1961

२१

पंचायती राज-एक आलोचनात्मक अध्ययन

(PANCHAYATI RAJ-A CRITICAL APPRAISAL)

—कमला वल्लभ शर्मा

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में लोक-प्रशासन केवल कुछ विशेष कार्यों तक ही सीमित था-जैसे कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखना, कर (Tax) वसूल करना अथवा कुछ सामाजिक सेवायें प्रदान करना। द्वितीय महायुद्ध के समय से भी भारत का लोकप्रशासन पुलिस व्यवस्था तक ही रहा। दूसरे शब्दों में यह कहना न्यायोचित होगा कि अंग्रेजी राज ने भारत में प्रशासन के क्षेत्र में केवल वह व्यवस्था स्थापित की जो कि न्यूनतम सरकार (Minimum Government) एवं उन्मुक्त आर्थिक जीवन के लिए ही पर्याप्त थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् परिस्थितियाँ बदलने लगी तथा भारत में अब तक चली आ रही साधारण अर्थ-व्यवस्था का विशृंखलित होना प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर अंग्रेजी सरकार ने भारतीय समाज की नवीन आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति आवश्यक कदम उठाये किन्तु फिर भी इस दिशा में कोई विशेष प्रगति न हो सकी। महायुद्ध के समाप्त होते ही भारत में स्वतन्त्रता की लहर व्याप्त हो गई और १५ अगस्त १९४७ को विभाजन के साथ सत्ता का स्थानान्तर हुआ।

स्वतन्त्र भारत के नवीन संविधान ने भारत में स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व एवं न्याय जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय सम्मिलित था, को प्राप्त करने के संकल्प का उद्घोष किया। यही नहीं संविधान ने भारतवर्ष में लोक हितकारी राज्य की स्थापना के निश्चय में भी विश्वास व्यक्त किया। परन्तु प्रश्न यह था कि समाज में इन नवीन परिवर्तनों के प्रति उत्साह किस प्रकार जगाया जाय जिससे कि ये योजनायें सफलीभूत हो सकें। अतः जनता में चेतना जागृत करने के लिए सरकार ने सामुदायिक विकास योजना (Community Development Programme) के राष्ट्रीय कार्यक्रम का आरम्भ किया। आशा तो यह की गई थी कि भविष्य में जनता इन

विकास योजनाओं में सक्रिय भाग लेकर सामाजिक कल्याण में सरकार का हाथ बंटा सकेगी। सामुदायिक विकास योजना के द्वारा देश में और विशेषकर गावों में नवीन प्रशासकीय ढाचे को खड़ा किया गया जिससे ग्रामीण जनता का चतुर्मुखी विकास सम्भव हो सके। इस प्रशासकीय ढांचे में खण्डों (Blocks) की स्थापना की गई और इनकी देख-रेख के लिए विकास अधिकारियों की नियुक्ति हुई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कार्यक्रम ने जनता में सुधार की एक माग पैदा की एवं वर्तमान दशाओं के प्रति तीव्र असन्तोष की भावना को जन्म दिया। किन्तु फिर भी ग्राम स्तर पर कार्यक्रम की क्रियान्विति के लिए बनाई गई ये संस्थायें, इसे जनता का कार्यक्रम बनाने में असफल सिद्ध हुईं। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का उद्देश्य जन सहयोग के द्वारा गावों का सामाजिक एवं आर्थिक विकास करना था। सरकार का कार्य तो केवल सलाह देने एवं मार्ग दर्शन तक ही सीमित था किन्तु ग्रामीण जनता ने इस कार्यक्रम में सक्रिय रूप से हाथ नहीं बँटाया। अतः यह योजना जन जीवन की परिधि से बाहर ही रही। पाच वर्षों के सामुदायिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रम ने यह सिद्ध किया कि कहीं न कहीं ऐसी त्रुटि अवश्य है, जिसे दूर करने के लिए आमूल-चूल परिवर्तन करना अनिवार्य है। इसी अनिवार्यता को दृष्टिगत रखते हुए गुजरात के वर्तमान मुख्य मन्त्री श्री बलवन्त राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। इस समिति ने अपनी सिफारिशों में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentralisation) की जो रूपरेखा रखी, उसने ग्राम्य प्रशासन में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया है।

लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का विचार

अतः १६५८ में बलवन्तराय मेहता समिति की रिपोर्ट के फलस्वरूप देश के विभिन्न राज्यों में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में इस विचार के कारण कदम उठाये गए कि विकास कार्यक्रमों की क्रियान्विति में तभी लोग हाथ बंटायेंगे, जब कार्यक्रमों के निर्धारण में उनका हाथ होगा। सामुदायिक विकास के प्रति जनसाधारण का निरुत्साह ही मेहता समिति के गठन का कारण था। दूसरे शब्दों में, १६५५ में ग्राम्य क्षेत्रों में प्रारम्भ किये गए विकास कार्यक्रम असफल रहे थे और इसका कारण यह मानकर चला गया कि उनमें जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं हो रहा था। मेहता समिति ने इस बाधा को दूर करने के लिए एक उपाय निकाला और वह यह कि जनता स्वयं अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं और साधनों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए विकास योजनायें तैयार करे और उन पर सरकारी मंजूरी मिल जाने के पश्चात् सरकार द्वारा वित्तीय और तकनीकी सहायता प्राप्त कर अधिकारियों के मार्गदर्शन में उन योजनाओं को क्रियान्वित करे। एक ऐसा कार्यक्रम, जो जनता के दिन प्रतिदिन के

जीवन से घनिष्टता से सम्बन्धित हों, और जिसका क्रियान्वन भी जनता द्वारा ही किया जाय।

स्पष्ट है कि पंचायती राज (Panchayati Raj) या प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की एक त्रिस्तरात्मक व्यवस्था द्वारा देश के ग्राम्य जीवन का एक नई चेतना फूँकने का प्रयास किया जा रहा है जिससे कि राष्ट्रीय जनतन्त्र का आधार व्यापक और सुदृढ़ बन सके। पंचायती राज का प्राथमिक उद्देश्य प्रारम्भ से लेकर अन्त तक विकास योजनाओं से जन साधारण को सम्बद्ध करना है। २६ जनवरी १९५० को भारतीय संविधान के रूप में, देश के करोड़ों नागरिकों को अपना शासन चलाने के लिए अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिला था किन्तु लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की इस योजना के उद्घाटन से देश के करोड़ों निवासियों को अपने इलाके के विकास कार्यों में सीधे भाग लेने तथा अपना भविष्य स्वयं अपने हाथों से संवारने के भी व्यापक अधिकार प्राप्त हो गये हैं। निश्चय ही यह एक ऐसी घटना है जिसका महत्व इस वर्तमान में भले ही उतना प्रभावपूर्ण न लगे किन्तु सारे विश्व में लोकतन्त्र का भावी स्वरूप निर्धारित करने में इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि जब तक जनता को स्वयं अपने विकास की पूरी जिम्मेदारी न सौंपी जाय, तब तक वास्तविक प्रगति आकाश कुसुम के समान है और न ही जनतन्त्र की ओर की ही सुदृढ़ता प्रदान की जा सकती है। विकास तभी सम्भव होगा जब कार्यक्रमों की जिम्मेदारी जनता के कन्धों पर डाली जाय और विकास के लिए कार्यक्रमों को पूर्ण रूपेण जनसाधारण का बनाया जाय। लेकिन बुनियादी प्रश्न यह है कि क्या यह वास्तविकता नहीं है कि विकास कार्यक्रमों की असफलता के मूल में एक मात्र जनता के सहयोग की ही कमी रही? सरकार ने यह तो स्वीकार किया है कि नौकरशाही के ढंग के कारण तथा सचिवालय के बन्द कमरों में बनी योजनाओं के कारण विकास कार्यों में सहयोग नहीं मिल सका है और फलतः वे असफल रही हैं लेकिन अपनी जिम्मेदारी को दूसरे पर डालने की मंशा के कारण इस सम्भावना को उसने जानबूझ कर नजरअन्दाज कर दिया कि योजनायें अपने आप में भी गलत हो सकती हैं। किन्तु यह भी सही है कि उत्तम से उत्तम योजना भी सफल नहीं हो सकती, यदि इसे जनसहयोग प्रदान न किया जाय और जनता का सहयोग भी इसे तभी प्राप्त हो सकता है जब कार्यक्रमों के निर्धारण एवं उनकी क्रियान्विति में जनता का हाथ हो। सक्रिय सरकार में सीधे भाग लेने की इस प्रक्रिया को ही पंचायती राज की संज्ञा दी गई है।

त्रिकोणात्मक व्यवस्था

इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए श्री बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल ने इस बात पर बल दिया कि गाँव, खण्ड (Block) और जिले के स्तर पर सुसंगठित एवं निर्वाचित प्रजातान्त्रिक संस्थायें (Democratic institutions) होनी चाहिए जिनके

द्वारा योजनाओं तथा विकास के कार्यक्रमों को गतिशील बनाया जा सके। लगभग सभी राज्यों ने (३१ मार्च सन् १९६२ तक सिवा केरल और पश्चिम बंगाल के) इस पंचायती राज योजना को अपना लिया है। सन् १९६२ की इस तिथि तक देश के ५,३३,००० गांव और लगभग ६५% ग्रामीण जनता इस नवीन योजना के अन्तर्गत आ गई है जो निश्चय ही उत्साह वर्द्धक है।[1]

मेहता रिपोर्ट में जो कतिपय सिफारिशें की गई हैं उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी सिफारिश त्रीन स्तरीय योजना (Three tier system) की है जिसके अनुसार ग्राम स्तर, खण्ड स्तर एवं जिला स्तर पर निर्वाचित और संगठित प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की आवश्यकता को प्रतिपादित किया। जिस तरह भारत में शक्ति एक स्थान अर्थात् केन्द्र में एकत्रित न रखकर विभिन्न राज्यों मे बांट दी गई है उसी प्रकार शेष प्रान्तीय शक्ति का भी आगे जिला, खण्ड एवं ग्राम स्तर पर विकेन्द्रीकरण किया गया है जिससे जनता स्वयं अपना भला बुरा पहिचान सके। समिति का मत था कि सरकार को अब अपने आपको कुछ कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से अलग हो जाना चाहिए एवं इसे उन संस्थाओं को सौंप देना चाहिए जो कि विकास के कार्यों में संलग्न हों। इस तरह सरकार को केवल बड़ी-बड़ी योजनाओं मात्र तक ही अपने आप को सीमित कर लेना चाहिए।

इस योजना के अन्तर्गत सर्वप्रथम जिला स्तर पर एक जिला परिषद् होगी जो पुराने डिस्ट्रिक्ट बोर्डों (District Boards) का स्थान ले लेंगी। इसका कार्य पंचायत समितियों के बीच समन्वय स्थापित करना, उनके कार्यों की देख-रेख करना तथा उनके ऊपर नियन्त्रण रखना होगा। प्रत्येक खण्ड मे एक पंचायत समिति स्थापित की गई है जो अपने क्षेत्र के कार्य के लिए योजना बनायेगी और अपने निरीक्षण में पंचायतों द्वारा उसे कार्यान्वित करायेगी। पंचायत का मुख्य कार्य पंचायत समिति द्वारा निर्धारित नीति को कार्यरूप में परिणित करना होगा। पंचायतों तथा पंचायत समितियों द्वारा बनाई गई योजनाओं को जिले की योजनाओं के साथ समन्वित किया जायगा और बाद मे ये योजनायें राज्य की

1. पंचायतें और उनके द्वारा सेवा प्रदान किये जाने वाले गावों के कुछ आंकड़े इस प्रकार हैं—"The average number of villages per Panchayat varies from 22 in the case of Himachal Pradesh to 1.4 in the case of Madras Orissa has 20 villages on an average under a Panchayat. The average population of a Panchayat also varies from 755 in U. P. to 11,996 in Keral. The average for the country as a whole is 2.6 Villages Per Panchayat with a population of about 1400."

योजना का अंग बनेंगी। इस प्रकार पंचायती राज की स्थापना द्वारा सच्चे अर्थों में ग्राम्य स्वराज्य की ओर एक क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है।

एक गाँव को या कई गाँवों को मिलाकर जो ग्राम पंचायत बनाई जायगी उसमें ८ या १० निर्वाचित सदस्य होंगे और एक प्रधान होगा जो सरपंच कहलायेगा। यह सरपंच ही गाँव का मुख्य कार्यवाहक अधिकारी होगा। ग्राम पंचायत के पश्चात् खण्ड स्तर पर पंचायत समिति बनाई गई है। पंचायत समिति में ग्राम पंचायतों के सरपंच और कुछ विशेष हितों, जैसे खेती, हरिजनों, आदिवासियों और स्त्रियों के विशेष प्रतिनिधि होंगे। इन विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों को नामजद करने का अधिकार पंचायत समिति के सदस्यों को होगा। विधान सभा के सदस्य पंचायत समिति के सहकारी सदस्य रहेंगे। इसके बाद जिला परिषद् में जिले की सब पंचायत समितियों के प्रधान, उस क्षेत्र विशेष के संसद सदस्य और विधान सभा के सदस्य, कुछ विशेष हितों जैसे हरिजनों, आदिवासियों, स्त्रियों और सहकारी समितियों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य होंगे। जहाँ तक इन लोकतन्त्रीय संस्थाओं के द्वारा किये जाने वाले कार्यों का प्रश्न है, ग्रामों के सम्बन्ध में योजनायें बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने की मूल इकाई ग्राम पंचायत होगी। पंचायत समितियाँ ग्राम संस्थाओं के कार्यों की देखभाल करेंगी। इनके कार्यक्षेत्र में खेती के विकास सम्बन्धी सभी कार्य, सहकारिता, भूमि का उद्धार, सिंचाई, पशुपालन, जनशक्ति का उपयोग, गाँवों की सफाई और स्वास्थ्य, संचार व्यवस्था, उद्योग, आँकड़े एकत्रित करना, जंगलात एवं पाठशाला आदि की उन्नति ये सभी विषय आ जाते हैं। यह आवश्यक है कि पंचायतों के द्वारा बनाई गई योजनायें, प्रान्तीय सरकार एवं केन्द्रीय सरकार के द्वारा बनाई गई योजनाओं के ढाँचे में बैठ सकें। जिला परिषद को अधिकार होगा कि वह पंचायत समितियों के बजटों का निरीक्षण करे। राज्य सरकार द्वारा जिले के लिए दिये गये अनुदान को उनमें बाँटे, उनके कार्यक्रमों का निरीक्षण करे और उनमें समन्वय स्थापित करे। लोकतन्त्रात्मकता के इस विकेन्द्रीकरण की योजना का मूल उद्देश्य यह है कि अब तक जो काम राज्य सरकार करती रही है उसमें जनता और उसके जिला एवं खण्ड स्तर की प्रतिनिधि संस्थायें भी भाग लें और साथ ही विभिन्न स्तरों पर काम करने वाले लोगों में अधिक से अधिक विश्वास का भाव जागृत किया जाय।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण

पंचायती राज की अवधारणा (Concept) के अध्ययन एवं निर्माण के लिए दो मार्ग अथवा दृष्टिकोण (Approaches) हो सकते हैं। प्रथम तो Normative अर्थात् जहाँ एक पैमाने एक कसौटी या आदर्श को लेकर अग्रसर हुआ जाय तथा द्वितीय Empirical अर्थात् जहाँ हम केवल सिद्धान्त पर ही नहीं, बल्कि प्रयोगों (Experiment) पर

निर्भर रहें। एक स्वीकृत पैमाने एवं आदर्श को लेकर चलने वाला राजनीतिक सिद्धान्तवादी अपनी ही कल्पना एवं आकांक्षाओं के अनुसार पंचायती राज के नमूने का निर्माण करेगा। किन्तु दूसरी ओर परीक्षण एवं प्रयोग पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति (Empirical) पंचायती राज की अवधारणा का अध्ययन उसके कार्यरूप में करेगा। उसका प्रयास सदैव आदर्श एवं व्यवहार के बीच की दूरी को नापने का होगा। इसके साथ ही, वह उन प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालेगा जो व्यवहार में पंचायती राज की अवधारणा को प्रभावित करती हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण पंचायती राज की आकृति को उभारने में महत्वपूर्ण रोल अदा करते हैं किन्तु इन्हें एक दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक मानना ही न्यायोचित होगा।

इस विषय पर प्रतिपादित किये गए दृष्टिकोणों में एक मुख्य दृष्टिकोण सर्वोदयी दृष्टिकोण है,[1] जिसे अधिक अच्छे ढंग से श्री जयप्रकाश नारायण का दृष्टिकोण कहकर परिभाषित किया जा सकता है। इस विचारधारा का जन्म सर्वप्रथम गांधीवादी विचारों में हुआ, जिसे विनोबा भावे के हाथों एक नवीन समर्थन प्राप्त हुआ, किन्तु अब इस विचारधारा के सबसे संगत एवं व्यवस्थित प्रवक्ता श्री जयप्रकाश नारायण हैं। इस विचारधारा का जन्म संसदीय सरकार की आलोचना में हुआ है जो श्री नारायण के अनुसार भारत के लिए कदापि उपयुक्त नहीं है। श्री नारायण ने विद्यमान संसदीय ढांचे के विकल्प (Alternative) के रूप में जिस समुदायवादी जनतन्त्र (Communitarian Democracy) का सुझाव दिया है वह केवल स्थानीय सरकार का ढांचा ही नहीं है बल्कि इसमें कुछ अधिक है। यह सम्पूर्ण भारतीय संविधान के लिए एक रचना सम्बन्धी आदर्श (Structural Model) है जो नीचे से ऊपर की ओर गतिशील है जब तक कि एक पिरामिड के रूप में नये संविधान का उदय नहीं हो जाता। पंचायत इस त्रिकोणात्मक ढांचे (Pyramidal Structure) का महत्वपूर्ण आधार है। केवल यही एकमात्र ऐसी संस्था है जिसे प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होना है। इसके अतिरिक्त पंचायत को ग्राम सभा के प्रति उत्तरदायी होना है, जो ग्रामीण व्यक्तियों की एक सार्वभौम संस्था होगी। श्री नारायण ने जिस प्रकार के समुदायवादी जनतन्त्र पर जोर दिया है, उसे उनके अनुसार दल रहित आधार पर निर्मित होना है, जहां एक मत के सिद्धान्त पर जोर दिया जायेगा। अत: स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार ग्राम सभा के सार्वभौम चरित्र पर महत्व दिया गया है। कुछ अन्य तथ्य जिन पर भी यहाँ बल दिया गया है इस प्रकार हैं—भारतीय संविधान के सूच्याकार ढांचे के आधार स्वरूप पंचायत का महत्व, पंचायत के आत्मनिर्भर एवं स्वायत्त चरित्र पर जोर, ग्राम सभा के प्रति पंचायत का

1. Narayan J. P.—A plea for the Reconstruction of Indian Polity.

उत्तरदायित्व एवं पंचायत के चुनावों का दलबन्दी और राजनीति से यथा सम्भव दूर रखना आदि। श्री जयप्रकाश नारायण की इस थीसिस से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं जो पंचायती राज की अवधारणा में मूलभूत हैं। उदाहरण के लिए पंचायती राज योजना में ग्राम सभाओं को क्या स्थान दिया जाय, क्या पंचायत को पंचायती राज ढांचे की आधारभूत इकाई समझा जा सकता है, तथा क्या पंचायती राज को दल रहित आधार पर संगठित होना चाहिये, इत्यादि।[1]

स्थानीय सरकार (Local Government) की विचारधारा स्वभाविक रूप से, ग्रामीणों के द्वारा स्वयं ही अपने मामलों की व्यवस्था किये जाने पर जोर देती है। इसका अर्थ हो जाता है कि पंचायतों को अधिक से अधिक स्वायत्तता, विचार विमर्श करने की शक्ति, नीति निर्धारण एवं उनके क्रियान्वयन की शक्ति एवं आय के स्रोतों की देखभाल तथा नियन्त्रण की शक्ति प्रदान की जाय जिसका प्रयोग वे राज्य स्तर से कम से कम नियन्त्रण की सीमाओं में रह कर कर सकें। यहां पर भी पंचायती राज संस्थाओं की स्वायत्त प्रकृति के महत्व पर बल दिया गया है यद्यपि ऊपर से कम से कम नियन्त्रण की आवश्यकता को भी नहीं भुलाया गया है। इस दृष्टिकोण के समर्थक पंचायती राज संस्थाओं के कार्यात्मक क्षेत्राधिकार (Functional) को केवल परम्परागत सार्वजनिक कार्यों तक ही सीमित रखना नहीं चाहेंगे। कुछ समर्थक तो राजस्व प्रशासन (Revenue Administration) और यहां तक कि शायद अन्त में कानून एवं व्यवस्था का भार भी पंचायतों को ही सौंपना चाहेंगे।

एक अन्य महत्वपूर्ण नौकरशाही दृष्टिकोण[2] (Bureaucratic view point) कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण का आधार अपने मामलों की स्वयं व्यवस्था करने में अशिक्षित ग्रामीण जनता की योग्यता में अविश्वास है। अतः यहां स्वाभाविक रूप से पंचायती राज संस्थाओं के स्वयं प्रबन्ध करने के पहलू पर कम महत्व दिया जाता है। जहां तक इन संस्थाओं के द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों का सम्बन्ध है, इस ओर दो छोर पकड़े जा सकते हैं—एक तो अति को पहुँचा हुआ और दूसरा अपेक्षाकृत नरम। अतिवादी (Extremist) पंचायती राज संस्थाओं को केवल एक संस्था के कार्य सौंपना पसन्द करेंगे किन्तु संयतवादी इन संस्थाओं को कुछ शक्ति एवं उत्तरदायित्व सौंपे जाने का भी समर्थन करेंगे।

अन्तिम रूप में प्रसंगवादी एवं विकासवादी दृष्टिकोण (Contextual and Developmental view Point) के अनुसार पंचायती राज की आकृति, प्रकृति एवं

1. Dey S. K. : Panchayati Raj—a Synthesis (Asia Publishing, 1961)

2. Mukerji B. : Community Development in India.

कार्य का निर्धारण बीते हुए अनुभवों एवं घटनाओं के आधार पर किया जाना चाहिये। कुछ पूर्वगामी तथ्य भी बलवन्तराय मेहता द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। उनके अनुसार सामुदायिक विकास कार्यक्रम जनता में अपने कार्यक्रमों की क्रियान्विति के लिए उत्साह जगाने में असफल सिद्ध हुआ है। अगर सामुदायिक विकास योजना के प्रशासन एवं ग्रामीण विकास योजनाओं को ग्रामीण स्तरों पर, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाय तो इन कमियों को बड़ी मात्रा में दूर किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार पंचायती राज अपने उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों में सामुदायिक विकास का विस्तार ही है। पंचायती राज संस्थाओं को विकास यंत्र (Development mechanism) के रूप में ही कार्य करना चाहिए, शक्ति को हथियाने के साधन के रूप में नहीं। पंचों और सरपंचों का प्रधान लक्ष्य जनता का मत प्राप्त करके केवल मात्र सत्ता को हथियाना ही नहीं होना चाहिये बल्कि उन्हें चाहिए कि वे अपने प्रधान उद्देश्य अर्थात् गांवों के चतुर्मुखी विकास की दिशा में सतत अग्रसर रहें।

किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से भी पंचायती राज की अवधारणा को देखा जा सकता है—वह है Empirical angle. यद्यपि यहां विश्लेषक की सीमाओं का भी दृष्टिगत रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम बात तो यह है कि पर्याप्त क्षेत्रीय अनुसंधानों (Field researches) के अभाव में सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है। पंचायती राज में अधिक क्षेत्रीय अनुसन्धान नहीं किये जा सके हैं। इसके अतिरिक्त ये संस्थायें अभी शिशु अवस्था में ही हैं। बहुत थोड़े राज्यों में इन्हें कार्य करते हुए अभी ५ या ६ वर्ष ही व्यतीत हुए हैं। कुछ अन्य राज्यों में तो इन्हें कार्य करते हुए और भी कम समय हुआ है पर फिर भी कुछ प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। इस दृष्टि से हमारे सम्मुख पंचायती राज की तीन आकृतियां प्रकट होती हैं—राजनैतिक, सार्वजनिक एवं (Statutory) वैधिक। राजनैतिक आकृति हमारे उत्तरदायी नेताओं द्वारा उनके भाषणों, वक्तव्यों एवं लेखों द्वारा खड़ी की जाती है। इसकी मुख्य विशेषता ग्रामीण जनता के द्वारा स्वयं ही अपने स्थानीय मामलों का प्रबन्ध है। अतः पंचायती राज आवश्यक रूप से एक ग्रामीण स्थानीय सरकार का रूप ग्रहण कर लेती है। सार्वजनिक आकृति का निर्माण ग्रामीण जनता के द्वारा स्वयं ही किया जाता है। ग्रामीण जनता अविकसित अशिक्षित एवं अकिंचन है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु फिर भी नये वातावरण से प्रभावित होकर वह अपनी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के प्रति सचेत बन रही है। अन्तिम रूप में पंचायती राज की एक वैधिक आकृति भी है जो वास्तविक रूप से नौकरशाही के द्वारा खड़ी की गई है। यहां पर अधिक जोर सेवा पर दिया जाता है, शक्ति पर नहीं। कर्तव्यों पर अधिक बल दिया जाता है अधिकारों पर नहीं।

पचायती राज व्यवहार में

पचायती राज सस्थायें विकास करने के यन्त्र के रूप में इतनी विकसित नहीं हुई हैं जितनी शक्ति एवं सत्ता को हथियाने के यन्त्र के रूप में। वास्तव में इससे नये-नये नेताओं का विकास हुआ है। जो भी सरपंच अथवा पंच तीन चार बार अपने गावों में चुन लिए जाते हैं वे अपने आपको नेता समझने लगते हैं। वही बाद में जाकर सामान्य चुनावों के समय पार्टियों का समर्थन पाकर अपने सदस्यों को जिताने में सहायता करते हैं। सरपंच और प्रधान की अपनी २ पंचायत और समिति में वही दशा होती है जो कि एक मन्त्रि परिषद में प्रधान मन्त्री की। वह बराबर वालों में प्रथम (First among equals) बन जाता है जो निश्चय ही पचायती राज के विकास के लिये हितकर है।

वैसे तो पचायती राज भारतवर्ष के ग्राम्य निवासियों की जीवन पद्धति बनता जा रहा है।[1] धीरे धीरे अनेक नई जिम्मेदारियां उनके कंधों पर डाली जा रही हैं किन्तु फिर भी ऐसी अनेक त्रुटियां हैं जिनके निराकरण के बिना किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करना सभव नहीं। अशिक्षित जनता, राजनीतिक चेतना की कमी, ग्रामीणों में निःस्वार्थ सेवा भावना का अभाव, जाति एवं धर्म सम्बन्धी अविश्वास, सामन्तों के प्रति अनावश्यक वफादारी, अलोकतान्त्रिक सामाजिक एवं पारिवारिक ढाचा आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिनके हल पर ही पचायती राज की सफलता और अन्त में प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर है। कुछ प्रशासकीय समस्याएं भी प्रगति के मार्ग में रोडे अटकाए हुए हैं। उदाहरण के लिए विकास कार्यकर्ता की आधारभूत सस्था समिति हो या परिषद्। सरकारी एवं गैर सरकारी अधिकारियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी प्रश्न सूचक बना हुआ है। जिला स्तरीय अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे मित्र, दार्शनिक एवं सलाहकार के रूप में ग्रामवासियों के साथ कार्य करें किन्तु वास्तविकता यह है कि ये अधिकारीगण ग्रामवासियों पर अपनी राय थोपने का प्रयास करते हैं। जिला अधिकारियों का कार्य एक निर्देशक की भांति होना चाहिए। यदि हम चाहते हैं कि वे ग्रामीणों के मनोविज्ञान को भली भांति समझ सकें तो उन्हें नौकरशाही का बोझा उतारना ही होगा जो उनके और ग्रामीणों के बीच गहरी खाई खोदे हुए है। यह सही है कि यह मनोवैज्ञानिक तालमेल है जो समय के साथ साथ ही पनपेगा किन्तु फिर भी इस दिशा में कुछ कदम अवश्य उठाए जा सकते हैं।

गावों में गुटबन्दी अपनी चरमता पर दिखाई देती है। पचायतें भी दो भागों में विभक्त हो गई हैं—प्रथम तो बहुमत से सम्बन्ध रखने वाला और द्वितीय वे जो अल्प-

---

1 देखें "Study Team's Report on Panchayati Raj" (Rajasthan and Andhara) (Congress Party in Parliament) A V. A R D Report इत्यादि।

मत समूह के अन्तर्गत आती हैं। इसका स्पष्ट अर्थ हो जाता है कि सानों के वितरण म भेदभाव और दलबन्दी। इस बहुमत समूह का योजना के उद्देश्या एव क्रियान्वन पर गंभीर प्रभाव पड़ता है जो एकाधिकारवादी रुख एव प्रवृति का जन्म देता है। यह प्रवृत्ति जनतन्त्र विरोधी एव सामाजिक सुदृढ़ता को कमजोर बनाने का कारण है। अतः पंचायती राज से सम्बन्धित एक समस्या कुछ ऐसे नियन्त्रण और सन्तुलनो (Checks and Balances) का विकास करने की है जो इस प्रवृत्ति के प्रतिरोधक के रूप में कार्य कर सके। पंचायती राज संस्थाओं के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी भी अर्थ मे नीचे से योजना की प्रक्रिया से जुड़ी हुई हैं। इसके साथ ही कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठ खड़े होते हैं कि क्या नीचे से चलाई जाने वाली योजना हमारी केन्द्रीकृत राष्ट्रीय योजना की व्यवस्था के साथ किसी भी अर्थ में साथ चलने योग्य है ?[1] तथा नीचे से चलाई जाने वाली योजना की भारत सरीखे विकासशील (Developing) देश में क्या कमजोरिया हैं एव योजनाओं के निर्माण और क्रियान्विति मे पंचायती राज संस्थाओं को किस सीमा तक सम्मिलित किया जाये।

अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन परिणाम

पंचायती राज के राजनीतिक परिणामों को दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। प्रथम तो तात्कालिक, प्रत्यक्ष एवं अल्पकालीन परिणामों का अध्ययन हो सकता है तथा दूसरे उन प्रवृतियो तथा सुझावों का अध्ययन हो सकता है जो ग्रामीण समुदाय के राजनैतिक जीवन पर अप्रत्यक्ष एव दीर्घकालीन प्रभाव डालती हैं। पिछले पाच वर्षों के अनुभव ने बताया है कि स्थानीय नेताओं और पंचायती राजनीतिज्ञों ने सत्ता को हासिल करने एव एकाधिकार जमाने की प्रवृति दिखाई है जिसका एक हिस्सा उन्हें पंचायती राज-व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त हो गया था। उन्होंने पंचायती राज संस्थाओं को विकास का यन्त्र बनाने के साथ-साथ सत्ता को हथियाने का साधन भी बना लिया है। ये नेता अपने लिए महत्व का राजनीतिक स्थान ग्रहण करना चाहते हैं क्योंकि इस स्थान पर रहने से ही उन्हें शक्ति, सत्ता और सम्मान मिलता है। ये पंचायती नेता प्रत्येक राज्य के ग्राम, खण्ड और जिले के स्तरों पर महत्वपूर्ण स्तम्भ बन गए हैं। धीरे-धीरे इस Nucleus elite के कार्यों का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है।

पंचायती राज संस्थाओं के द्वारा विकास की माग ने आशाओं की बढ़ोतरी में योग दिया है जिसे बढ़ती हुई आशाओं की क्रांति (Revolution of Rising Expectations) कहा जाता है। यह तथ्य कि पंचायती संस्थायें देश के जनसाधारण में

---

1. इस संदर्भ मे देखें Meddicks H. की पुस्तक "Democracy, Development and Decentralisation."

लिए हैं एवं कल्याणकारी गतिविधियों को किए जाने का दावा करती हैं, आशाओं को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। अगर यह कहा भी जाय कि अज्ञान एवं परंपरा मग्न व्यक्तियों की कोई आशायें नहीं हैं किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि 1959 के वर्ष की अपेक्षा अब व्यक्तियों की आशायें एवं आकांक्षायें कई गुनी बढ़ी हैं। विकास सम्बन्धी कार्यों के लिए राजनीतिक शक्ति को हस्तगत करने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। ऐसे अवसर भी देखे गए हैं जहां कुछ वर्ष पूर्व तक कोई भी व्यक्ति गूंगे कुओं और धूल से भरी हुई पगडंडियों के विषय में बातें नहीं करता था किन्तु जैसे ही पंचायत ने कुछ करने का निश्चय किया, वे राजनीतिक वाद विवाद के विषय बन गए। पंचायती राज पर हाल में हुए अध्ययनों में कहा गया है कि राजनीतिक मसलों पर विवाद करते या निर्णय देते समय जो एक सामान्य प्रवृत्ति देखी गई है वह है शक्ति एवं अधिकारों को, कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से अधिक महत्व देना।[1] किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि जनता को अपने अधिकारों एवं उत्तरदायित्व के विषय में नई जानकारी मिली है। आज ग्रामवासी भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे हैं और यह इस बात का प्रतीक है कि पंचायती राज ने नई-नई मांगों को जन्म देकर गांवों में राजनीति का प्रवेश कराया है। आज ग्रामवासी उन कार्यों को करने को तैयार नहीं हैं जिसे वे सदियों से करते चले आ रहे थे। वास्तव में जब से पंचायतों व पंचायत समितियों के हाथ में विकास कार्यों को क्रियान्वित करने की शक्ति आई है गांवों का बहुत कुछ कायापलट हो पाया है।[2] पंचायती राज के माध्यम से जहां ग्रामीण जनता में राजनीतिक जागृति आई है वहां उनमें आत्मविश्वास की भावना भी जागृत हुई है और अपनी स्थिति सुधारने के लिए भाग्य भरोसे न बैठकर कुछ कर गुजरने की प्रवृत्ति भी उनमें पनपी है।[3]

राजनीतिक चेतना का विकास

पंचायती राज के फलस्वरूप राजनीतिक चेतना की गति कई गुनी अधिक बढ़ गई है। यह कथन जहां ग्रामीण जनता की राजनीतिक जागृति के विषय में सही है वहां यह सामाजिक चेतना के विषय में भी अक्षरशः सही उतरता है। छुआछूत और भेदभाव की दीवारों को पंचायती राज ने अन्तिम धक्का देकर भूमिसात किया है। कहीं-कहीं तो ऐसा देखा गया है कि अब तक मजदूर और नौकर कहा जाने वाला व्यक्ति पंचायत अथवा पंचायत समिति की अध्यक्षता करता है। यह सामाजिक क्रान्ति निःसंदेह महान है और

---

1 See Report of the Study Team on Panchayati Raj (1964) popularly known as Sadiq Ali Committee Report

2 Ibid.

3 Ibid.

केवल कानूनों के द्वारा यह संभव नहीं है। पंचायती राज संस्थाओं ने राजनीतिक चेतना का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। जन प्रतिनिधि सदा कर (Tax) लगाने से हिचकिचाते रहे हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष कर से प्रतिनिधियों की लोकप्रियता को धक्का लगता है। किन्तु पंचायत और पंचायत समितियों के सदस्यों ने इस ओर अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर अधिक और ऐसी आशंकाओं की ओर कम ध्यान दिया है। अनेक पंचायतों ने अपनी आय के स्रोतों में वृद्धि करने के लिए कर लगाये हैं एवं अपने साधनों में वृद्धि की है।

सादिकअली दल का मत

यह भली भांति जानते हुए कि प्रधान और प्रमुख आने वाले सामान्य चुनावों में राज्य एवं राष्ट्रीय राजनीति को आकार देने में महत्त्वपूर्ण रोल अदा करेंगे, राज्य के नेता उनसे व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करने में प्रयत्नशील हैं। यह माना जा सकता है कि ग्रामीण लोग आज अपनी ग्रामीण राजनीति के मसलों में अधिक रुचि लेते हैं चाहे वे उनसे अधिक अच्छी तरह परिचित न हों। सादिकअली अध्ययन दल (Sadiq Ali Study Team) ने राजस्थान में पंचायतों के कार्य-संचालन का अध्ययन करके कहा है कि गांव में व्यक्ति आज निश्चय रूप से अपने उत्थान के लिए अधिक उत्सुक और चेतनाशील है। पंचायती राज ने जनता को सामाजिक सेवा का एक नया अवसर प्रदान किया है। इसके साथ ही जनता के मन से सरकारी अधिकारियों का डर समाप्त होने लगा है। जनता आराम से विकास अधिकारी (B. D. O) के पास जाकर अपनी समस्याओं को सुलझाती है। आजकल जो चुनाव होते हैं उनमें जनता काफी परिमाण में भाग लेती है। वह जब अपना वोट डालने जाती है तो नाचती, गाती, इठलाती, कूदती दिखाई देती है। चुनाव इनके सांस्कृतिक जीवन का एक अंग बन गए हैं। अभी हाल में राजस्थान के पंचायती चुनावों में एक ८४ वर्षीया अन्धी वृद्धा अपना वोट डालने आई। किन्तु इस मत का एक अन्धकारमय पहलू भी है जो निराशाजनक है। पंचायती राज में राजनीति के प्रवेश कर लेने से पंचायत समितियों और पंचायतों के बीच विरोधी भावनाओं और झगड़ों ने घर करना शुरू कर दिया है। आये दिन चुनाव सम्बन्धी मामलों को लेकर मारा-मारी, गुटबाजी, मारपीट और कभी-कभी राजनीतिक कारणों से हत्या तक भी कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त पाठशालाओं को पंचायतों के अन्तर्गत कर दिया गया है जिससे शिक्षा में राजनीति प्रविष्ट हो गई है और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का स्तर और भी तेजी से गिरने लगा है।

सरकारी और गैर सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्ध

एक सामान्य राजनीतिक घटना के रूप में यह देखा गया है कि शक्ति एवं

विकास के यन्त्र के रूप में पंचायती राज ने सरकारी एवं गैर सरकारी कर्मचारियों के पारस्परिक सम्बन्धों को विद्वेषपूर्ण बना दिया है। गैर सरकारी कर्मचारी उत्तरदायी सरकार के नाम पर सत्ता हथियाने का प्रयास करते हैं तथा सरकारी कर्मचारी कार्यक्षमता एवं प्रभावशाली विकास के हित में जनता पर अपना प्रभाव रोके रखना चाहते हैं। अपरिपक्व एवं कुशल के मध्य पाया जाने वाला यह असन्तुलन विकासशील समाजों की जनतांत्रिक राजनीति का एक सामान्य लक्षण है किन्तु पंचायती राज में यह सन्तुलन टूटता सा नजर आता है।

भूत और भविष्य

प्रश्न जो स्वाभाविक रूप से उठता है वह यह कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण लागू करने के पूर्व जो स्थिति थी उसमें क्या कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हो सका है? क्या औसत किसान करोड़ों रुपयों के व्यय के बावजूद पूर्वापेक्षा अधिक खुशहाल बन सका है? यदि सच्चाई और ईमानदारी से इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढे जाय तो वे नकारात्मक ही मिलेंगे। सामान्यतः प्रति एकड़ उपज में गिरावट आई है और साधनहीन काश्तकार की आर्थिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। काश्तकारों को काश्त के लिए आवश्यक सामग्री का अभाव है। सिंचाई की उपयुक्त सुविधायें उपलब्ध करवाना तो दूर अनेक जिलों में अभी तक पेय जल का भी अभाव है। सुधरे हुए बीज, उर्वरक और खाद तथा मशीनें केवल साधन सम्पन्न काश्तकारों को ही सुलभ हैं। यदि किसान को बैलों की जोड़ी, बीज और सिंचाई के लिए जल उपलब्ध करवाया जा सके तो वह मेहनत करने से कभी इन्कार नहीं करेगा। अभी तक मानसून पर कृषि को आश्रित रखना सरकार की निष्क्रियता और धीमी नीति का परिणाम है। ग्राम्य उद्योगों की स्थिति भी कृषि से कोई बेहतर नहीं है। संरक्षण के बावजूद अभी तक कृषि पर आधारित उद्योगों को योजनाबद्ध ढंग से चलाने के लिए कोई ठोस प्रयत्न नहीं किए जा सके हैं। ग्राम विद्युतीकरण की योजनायें अभी तक पूरी नहीं की जा सकी हैं। राज्य सरकार के अव्यावहारिक विकास कार्यक्रमों का विस्तार से उल्लेख करने पर स्पष्ट होता है कि जन साधारण का सहयोग न मिलने का आरोप निराधार है। पंचायती राज से इस मूलभूत स्थिति में किसी जादुई परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। सत्य यह है कि ग्राम सभाओं ने अपनी जो आवश्यकतायें बताईं उन्हें भी ठोस ढंग से योजना में स्थान नहीं दिया जा सका और स्थानीय साधन बढ़ाने के लिए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकृत संस्थाओं से गरीब जन साधारण पर अनाप-शनाप कर लागू करने के लिए उन पर अनावश्यक दबाव डाला गया। फलतः असन्तुष्ट करदाता से योजना की क्रियान्विति में सक्रिय सहयोग की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेहता समिति की सिफारिशों का मुख्य उद्देश्य केवल नौकरशाही (Bureaucracy) के प्रभाव को खत्म करना था ताकि जन साधारण अपनी योजनायें स्वयं बनाये

और उन्हें क्रियान्वित करे। लेकिन फिर भी यह सत्य है कि शनैः शनैः लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकृत संस्थाएँ स्वशासन की इकाइयों के रूप में विकसित होने लगी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि पूरी सच्चाई के साथ संविधान की ४०वीं धारा में दिए गए निर्देशक के अनुरूप सही ढंग से ग्राम पंचायतों को आवश्यक अधिकार दिए जायें ताकि वे स्वशासित इकाइयों की तरह काम कर सकें। विकास कार्यों को तीव्र गति देने में ग्रामीणों की उदासीनता एकदम गलत दलील है क्योंकि अभी तक योजनाओं को बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने में नौकरशाही ही १९५९ के पूर्व बाधक थी और आज भी बाधक सिद्ध हो रही है।

इसमें सन्देह नहीं कि पंचायती राज का लक्ष्य गांवों की दशा का सुधार करना, उनमें राजनीतिक और आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। गांव वालों की असीम शक्ति का लाभ उठाने और उनमें नेतृत्व क्षमता पैदा करने के लिए यह एक अच्छा संगठनात्मक सुधार है। इससे न केवल भारत में लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत हुई हैं बल्कि तमाम सामुदायिक विकास आन्दोलन जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में आया है। पंचायती राज का महत्व तभी समझा जा सकता है जब कि हम यह भली प्रकार जान लें कि गांव ही समस्त राष्ट्र की उन्नति के नियामक हैं। पंचायती राज योजना की इन सफलताओं के बीच झांकते हुए कुछ खतरे भी यद्यपि सामने आये हैं किन्तु फिर भी हमें आशावादिता के साथ भारत में लोकतन्त्र के उज्ज्वल भविष्य की कामना करनी चाहिए।

भारत का प्रशासनिक ढांचा और इतिहास का प्रभाव

भारत में सरकार और प्रशासन का ढांचा दूसरे देशों से भिन्न, अपने ही प्रकार का है। यह अपने लंबे इतिहास और सम्पन्न संस्कृति से जनमा है। किसी सरकार की कोई व्यवस्था ज्यों की त्यों नकल करके दूसरे देश में लागू नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, अमेरिका के लिए जो सर्वश्रेष्ठ प्रशासन है वह आवश्यक रूप से भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ प्रशासन नहीं हो सकता। किसी अन्य व्यवस्था से प्रेरणा अवश्य ली जा सकती है। इस दृष्टि से यदि देखें तो भारतीय व्यवस्था पर ब्रिटिश संस्थाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है और भारतीय सरकार और प्रशासन का ढांचा बहुत कुछ ब्रिटेन के अनुरूप है यद्यपि इसे पूर्णतः ब्रिटेन के समान भी नहीं कहा जा सकता। यहां ब्रिटेन की भांति संसदीय शासन प्रणाली है परन्तु क्राउन जैसी सत्ता नहीं है।

प्रशासकीय संगठन

प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से भारत सरकार का प्रशासकीय ढांचा अनेक मन्त्रालयों (Ministeries) में बंटा हुआ है। मन्त्रालय या विभाग का एक राजनीतिक प्रमुख होता है अर्थात् प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन होता है। वही विभाग की मुख्य नीति का निर्धारण करता है और उस विभाग के कार्य के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्री की सहायता एक सचिव द्वारा की जाती है, जिसके नियन्त्रण में केन्द्रीय सचिवालय (Central Secretariat) का एक भाग होता है। सचिव (Secretary) विभाग का प्रशासकीय प्रमुख (Administrative Head) होता है और मन्त्रालय की परिधि के अन्तर्गत आने वाले नीति तथा प्रशासन सम्बन्धी सभी मामलों में मंत्री का प्रधान सलाहकार (Adviser) होता है। सचिव को किसी भी समस्या से सम्बन्धित तथ्य और आंकड़े मंत्री के समक्ष प्रस्तुत करने होते हैं। उसे यदि आवश्यकता हो तो मन्त्री को सूचना, सलाह और चेतावनी भी देनी होती है। मंत्रियों द्वारा किये जाने वाले नीति सम्बन्धी निर्णयों पर सचिव का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। काम की अधिकता के कारण, सचिव की सहायता के लिए संयुक्त सचिव (Joint Secretary), उपसचिव (Deputy Secretary), अवर सचिव (Under Secretary) तथा कभी कभी अतिरिक्त सचिव (Adtional Secretary) भी होते हैं। सचिवालय के ये उच्च पद भारतीय प्रशासन सेवा (I A S) तथा प्रथम श्रेणी की केन्द्रीय सेवा (Central Services Class I) के सदस्यों से भरे जाते हैं। सचिवालय पुनर्गठन पर प्रस्तुत की गई व्हीलर रिपोर्ट (Wheeler Report) के अनुसार भारत सरकार के सचिवालय में स्टाफ की पूर्ति सीधे भर्ती करके नहीं, बल्कि प्रान्तों (अब राज्यों) में पहले से ही काम कर रहे अधिकारियों द्वारा की जानी चाहिये और दूसरे केन्द्रीय सचिवालय में काम करने वाले और प्रान्तों (अब राज्यों) में काम करने वाले पदाधिकारियों की पदावधि में नियमित अदला-बदली होनी चाहिये।" जहां तक प्रथम का सम्बन्ध है,

ऐसी ही व्यवस्था है। उच्च सचिवालय अधिकारी राज्यों में बीस से पच्चीस वर्ष तक का प्रशासकीय अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् तीन वर्ष की अवधि के लिये सचिवालय में आते हैं।

कुछ समस्यायें

अब हम भारतीय प्रशासनिक ढांचे का आलोचनात्मक विश्लेषण करेंगे।

अल्पावधि (Short Tenure)

भारतीय प्रशासन अधिकारी भर्ती के पश्चात् राज्यों में नियुक्त कर दिये जाते हैं और फिर प्रशासकीय अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् सचिवालय में महत्त्वपूर्ण पदों को सम्भालते हैं। परन्तु अल्पावधि और केन्द्रीय सचिवों की राज्यों को वापिसी के कारण केन्द्रीय सचिवालय अनुभव तथा दीर्घावधि की परम्परा से वंचित हो जाता है। अतः सचिवों के कार्यकाल की अवधि तीन वर्ष से अधिक होनी चाहिये।

कार्य-सुनिश्चितता का अभाव

प्रशासन एक मशीन के सदृश्य है। यदि इसके सब भाग कुशलता (Efficiency) से कार्य करते हैं तो मशीन भी कुशलता से चलती है। इस मशीन के भाग व्यक्ति होने के कारण, परस्पर अतिक्रमण की स्थिति में संघर्ष और भ्रष्टाचार को जन्म दे सकते हैं। अतः प्रशासन तंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर है कि हर भाग के कार्य और कर्तव्य सुनिश्चित किये जायें और हर भाग अपने इन कर्तव्यों को कुशलता से पूरा करे। इनमें से प्रथम के न होने का अर्थ है संगठन की असफलता और दूसरे के न होने का अर्थ है पद्धति या कार्मिक तत्व (Personnel) की असफलता। दोनों ही स्थितियों का परिणाम है अकुशलता, अर्थात् प्रशासन के काम बिल्कुल सम्पन्न न होना अथवा देरी से होना तथा भ्रष्टता।[1]

इकाइयों में गलत संबंध

दो इकाइयों में गलत सम्बन्ध या एक इकाई में गलत कार्य प्रणाली भी अकुशलता को जन्म देती है। दोनों ही स्थितियों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक इकाई द्वारा दूसरी पर अतिक्रमण के उदाहरण सचिवालय, कार्यपालिका विभाग, वित्त मंत्रालय, मंत्री और सचिव आदि के सम्बन्धों में देखे जा सकते हैं। इकाई के अन्दर गलत कार्य होने के परिणामस्वरूप भी इकाई और कर्मचारी दोनों में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।[2]

अनावश्यक हस्तक्षेप

विभागाध्यक्ष का सम्बन्ध नीति के निष्पादन (Execution) से होता है, उसके निर्माण से नहीं। परन्तु भारत में मंत्रालय और विभागाध्यक्ष के बीच ठीक से सम्बन्ध का

1. A D Gorwala Report on Public Administration
2. Ibid

विकास नहीं हुआ है। "संगठन सम्बन्धी दोष का एक उत्तम उदाहरण, जिसमें प्रशासन की शाखा अन्य शाखा के कार्यों का अतिक्रमण करती है उन सम्बन्धों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जो सचिवालय अर्थात् मंत्रालय और उसके अन्तर्गत काम करने वाले विभागाध्यक्षों के पाये जाते हैं। दोनों के ही कार्यों की सीमायें स्पष्ट हैं–मंत्रालय नीति के निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है और विभाग उस नीति के कार्यान्वित (Implementation) के लिये परन्तु मंत्रालय विभाग द्वारा किये जाने वाले कार्य को देखने के लिये इतना ज्यादा रहता है कि वह निरंतर उसके कार्यों में हस्तक्षेप करता है। फलस्वरूप विभागाध्यक्ष समस्त प्रेरणा समाप्त हो जाती है और अपने कार्य में व्यस्त रहने और उसको करने के बजाय उसे अपना काफी समय अनावश्यक प्रतिवेदन (Reports) प्रस्तुत करने व्यय करना पड़ता है ऐसे मामलों पर उसे मंत्रालय से आज्ञा मांगनी होती है स्पष्टतः उसके अपने अधिकार क्षेत्र में होते हैं। विभागाध्यक्ष के काम को मंत्रालय द्वारा किये जाने के प्रयत्न के परिणाम निश्चित रूप से असुविधा और असफलता के रूप में आते हैं। काम में देरी होती है। काम अच्छी तरह नहीं हो पाता और जब काम बिगड़ता है तो ऐसा कोई एक व्यक्ति नहीं होता जिसे जिम्मेदार ठहराया जा सके।"[1]

विभागीय सम्मिश्रण

एक अन्य समस्या है विभिन्न विभागों का सम्मिश्रण। उदाहरणार्थ–राजस्व (Revenue) और न्यायिक सबंधी (Judicial) कार्यों का मिश्रण भारतीय प्रशासन की एक हानिकारक परम्परा है। "पुलिस विभाग को गाड़ीवाहन कर एकत्रित करने को कहा जाता है। इंजिनियरिंग अधिकारियों को लाइसेंस फीस एकत्र करने के लिये तथा अभियोग कार्य सम्भालने को कहा जाता है विशेषतः स्थानीय बोर्डों में।"[2]

वित्तमंत्रालय से सम्बन्ध

एक अन्य महत्वपूर्ण संगठनात्मक दोष जिसने शासन में कठिनाइयों को बढ़ाया है, वह है प्रशासनिक मन्त्रियों और वित्त मंत्रालयों में संबंध। केन्द्र में वित्त मंत्रालय के कार्यों और दायित्व की स्पष्टता के अभाव की शिकायत प्रायः सुनने में आती है। यह कहा जाता है कि वित्त मंत्रालय ने अपने पास स्वीकृति देने की सारी शक्ति केन्द्रित कर ली है और व्यय की छोटी से छोटी रकम के लिये प्रशासनिक विभागों को वित्त मंत्रालय का मुँह ताकना पड़ता है। अतः उचित

1. A. D. Gorwala—Report on Public Administration

2. "· · · The Police department is asked to collect motor vehicles tax, Engineering officers have to do prosecution work for encroachment and collection of licence-fees specially in the Local Boards." (M. Ruthnaswamy : Principles & Practice of Public Administration)

गया कि प्रशासनिक मन्त्रालयों और विभागाध्यक्षों को बजट स्वतन्त्र के अन्तर्गत सामयिक व्यय करने के लिये कुछ वित्तीय शक्तियाँ हस्तान्तरित (Delegate) कर दी जायें। यदि यह हस्तान्तरण पहले से ही अस्तित्व में हो तो उसे लागू किया जाये। इन शक्तियों का दुरुपयोग न हो इसके लिये वर्ष में एक बार उनका पुनरावलोकन किया जा सकता है।[1]

समन्वय तथा सहयोग का अभाव

भारत में विभागों में पारस्परिकता के सम्बन्ध समुचित रूप से नहीं पाये जाते। इस बारे में श्री गहन ने स्वीकार किया था कि "केन्द्रीय सरकार के साथ मेरा अनुभव सुखपूर्ण नहीं है। सरकार को जितने विभिन्न प्रकार और अधिक विषयों को निपटाना होता है उस सन्दर्भ में विभिन्न विभागों में समुचित समन्वय आवश्यक है। प्रायः सत्ता और उत्तरदायित्व साथ-साथ कार्य नहीं करते जिसका परिणाम योजनाओं की कार्यान्विति में देरी के रूप में सामने आता है।"[2] एक राज्य के सदृश्य प्रशासन के विभिन्न विभाग परस्पर निर्भर हैं अतः विभिन्न विभागों में उचित समन्वय और सहयोग की आवश्यकता है।

गोरवाला के अनुसार उपरोक्त समस्या की पूर्णता अन्त की कमी से भी आ सकती है जो राज्य समस्या की भांति केन्द्रीय हस्तक्षेप और निर्देशन के बिना सुलझाई नहीं जा सकती। इसके लिए कार्यवाही उच्च स्तर से आरम्भ होनी चाहिये। केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक और प्रशासनिक दोनों ही अनुभवी और सदा आज्ञा एवं बिना विचार [illegible] और एक निश्चित [illegible] होना चाहिये जो इन्हीं समस्याओं की ओर अपना पूरा ध्यान और समय दे सकें। राज्यों में इस बात के समान भाग अनुभवी और एक [illegible] उचित होने चाहिये।[3]

कर्मचारी प्रशासन (Personnel Administration)

अब हम भारत में कार्मिक का प्रशासन और इससे सम्बन्धित समस्याओं को लें। सम्भवतः विभिन्न देश राजनीतिक संरक्षण (Political Patronage) या लूट-खसोट प्रणाली (Spoil's System) के दोषों से मुक्त रहे हैं। सिविल सेवा में भर्ती योग्यता के आधार पर की

1. A. D. Gorwala : Report on Public Administration.

2. "My experience in this respect with the Central government is not a happy one. Proper cooperation between the various departments is essential in the context of abundance and variety of subjects which the government has now to deal with—often enough authority and responsibility did not function together which resulted in delay in the execution of the schemes." Reported by The Hindu, Dated 2 July 1949.

3. A. D. Gorwala : Report on Public Administration.

जाती है। योग्यता की जांच खुली प्रतियोगिता द्वारा की जाती है, जिसकी व्यवस्था एक स्वतन्त्र, निष्पक्ष एवं अर्धन्यायिक लोकसेवा आयोग करता है। संघीय लोकसेवा आयोग (UPSC) IAS, IFS, IPS, आदि केन्द्रीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है। अतः "चयन के सिद्धांत के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भारत में लगभग वैसी ही निष्पक्षता बरती जाती है जैसी कि किसी भी आधुनिक सिविल सेवा पद्धति में पाई जाती है परन्तु परीक्षा की विधियां अभी भी आधुनिक नहीं हैं और ये प्रशासकीय योग्यताओं के विषय में आधुनिक ज्ञान का पूर्णतः उपयोग नहीं हैं।" परीक्षा-विधि शैक्षणिक है, प्रशासकीय नहीं।[1] भरती के नियन्त्रण पर जोर देते हुये गोरवाला ने कहा है कि "यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं (Psychological Tests) की महत्ता अनुभव की जाये और धीरे धीरे वे मौखिक परीक्षाओं का स्थान ले लें। अपरिचित प्रत्याशियों के साथ होने वाली बातचीत उनके व्यापक अनुभव से सम्बद्ध होती है यद्यपि यह उग्र पुरुष मनोवैज्ञानिक परीक्षा का स्थान नहीं ले सकती जिसका उद्देश्य प्रत्याशी के मानसिक गुणों तथा भावनात्मक दशा पर एक मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि डालना है।"[2]

पदोन्नति और प्रशिक्षण

सिविल सेवकों को श्रेष्ठता और योग्यता के आधार पर पदोन्नति के न्यायोचित अवसर प्रदान किये जाते हैं तथा भविष्य निधि (Provident Fund) और पेंशन आदि के रूप में सेवा निवृत्ति लाभ (Retirement Benefits) भी दिए जाते हैं। सामान्य शर्तों के अन्तर्गत उन्हें पद की पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जाती है। सिविल सेवकों की ट्रेनिंग के लिए विभिन्न संस्थाओं तथा परिवीक्षा काल (Probation Period) आदि की व्यवस्था होती है। इस प्रकार भारत में पदोन्नति के न्यायोचित अवसरों, नौकरी की सुरक्षा तथा अच्छे वेतन के द्वारा सिविल सेवकों के मनोबल तथा कार्यक्षमता के स्तर को ऊंचा उठाने की व्यवस्था की गई है।

राजनीतिक तटस्थता

सिविल सेवकों की निष्ठा सरकार के प्रति होती है, किसी दल के प्रति नहीं। भारत में मन्त्रियों और सिविल सेवकों में वैसा ही सम्बन्ध पाया जाता है जैसा कि ब्रिटेन में। वारेन फिशर (Warren Fisher) ने इस सम्बन्ध को इन शब्दों में व्यक्त किया है।[3] "मन्त्रियों का कार्य नीति निर्धारित करना है और जब एक बार नीति का निर्धारण कर दिया जाता है तो सिविल सेवकों का यह निश्चित कर्तव्य हो जाता है कि चाहे वे उस नीति से सहमत हों या नहीं, उसको ईमानदारी के साथ यथार्थ रूप में एक सी शक्ति तथा समान इच्छा के साथ क्रियान्वित करने का प्रयत्न करें। उनका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि वे, बिना

1. Paul. H. Appleby : Public Administration in India-Report of a Survey.
2. A. D. Gorwala's Report on Public Administration.

किसी भय और पक्षपात के और बिना इस बात की परवाह किये कि कोई वर्तमान मन्त्री के प्रारम्भिक विचारों से मेल खाता है या नहीं, महत्वपूर्ण निर्णय किये जाने चाहिए उसके पास उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री तथा अनुभव अपने राजनीतिक स्वामी को उपलब्ध करावे।"

समस्यायें तथा सुझाव

अब हम भारतीय वर्तमान प्रशासन में उपस्थित कुछ समस्याओं और सुझावों को लें। भारत में शासक दल तथा सिविल सेवा के बीच अभी ठीक-ठीक सम्बन्धों का विकास होना बाकी है। ऐसी बहुत शिकायतें की जाती हैं कि स्थानीय एम० एल० ए०, तथा संसद सदस्य प्रशासन के कार्य दिन प्रतिदिन हस्तक्षेप करते हैं। वे सिविल सेवकों से अनुचित पक्षपात करवाना चाहते हैं और सिविल सेवकों के ऐसा न करने पर उनके 'बड़े भाइयों' (Big Brothers) अर्थात् मन्त्रियों द्वारा दबाव डलवाते हैं, परिणामस्वरूप सिविल सेवकों को स्थानान्तरित अथवा अपमानित किया जाता है। यदि ये सब आरोप ठीक हैं तो निश्चय ही भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य अधिक उज्ज्वल नहीं है। इस सम्बन्ध में हैदराबाद उस्मानिया यूनिवर्सिटी में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए थे। उनके निष्कर्षों का सबसे प्रमुख कारण अधिकारियों की यह इच्छा है कि वह अपने राजनीतिक प्रमुखों (Political Chiefs) को खुश करने वाली बात ही कहते हैं। इससे वे सारे देश को हानि और क्षति पहुँचाते हैं। इस स्तर पर उच्च और निम्न अधिकारियों के बीच यही स्थिति है। "यदि प्रजातान्त्रिक सरकार को भली-भांति कार्य करना है तो अधिकारियों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपने कर्तव्य के सम्पादन करने वाले किसी भी विषय पर बिना भय और अपने राजनीतिक प्रमुख के नाराज होने की चिन्ता किये बिना स्वतन्त्रता से बोल सकें।"

सामाजिक स्तर तथा सम्मान

जनता को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी प्रजातन्त्रीय सरकार तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसमें कार्य करने वाले सिविल सेवकों का यथेष्ट सम्मान न किया जाये। समाचार पत्रों में, संसद में तथा सार्वजनिक मंचों पर गैरजिम्मेदारी की अनुत्तरदायित्वपूर्ण आलोचना तथा निन्दा करने से सिविल सेवा का मनोबल कम होता है तथा उसकी कार्यक्षमता घटती है और देश के किसी भी दृष्टि से यह बहुत हानिकारक सिद्ध होगा।

लोकतन्त्रीय समाजवाद और जनसहयोग

भारत आजकल परिवर्तनकालीन संकट से गुजर रहा है। भारतीय सिविल सेवा को लोकतन्त्रीय समाजवादी समाज की नई मांगों के अनुरूप बनना है। 19वीं शताब्दी की सिविल सेवा की परम्परा से 20वीं शताब्दी की समस्याओं के लिये उपयोगी नहीं रहेगी। आज एक विचारहीन, बौद्धिक क्षमता से युक्त, जनता की मांगों के प्रति उदासीन तथा मात्र अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों के निर्देशन के अनुसार काम करने वाली सिविल सेवा का भाव समाप्त है। सिविल सेवक भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना ...

समझते थे और जनता को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। लोकतन्त्रीय स्वतन्त्र भारत में अब सिविल सेवा का यह रूप असामयिक ही नहीं, हानिकारक भी है। नौकरशाही को जन सहयोग से कार्य करना है। यदि नौकरशाही को लोकतन्त्रीय समाज की सेवा करनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके दृष्टिकोण तथा कार्य के तरीकों में भी परिवर्तन किया जावे।

भारतीय प्रशासन के कर्मचारी प्रशासन में आज जो बुराइयाँ विद्यमान हैं उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

लालफीताशाही

भारतीय प्रशासन की सबसे बड़ी आलोचना उसके कार्य की दैनिक प्रकृति (Routine Nature) के कारण की जाती है। भारत में प्रशासन नियमों तथा विनियमों की बहुत ज्यादा चिंता करता है, जो कई बार उसके कार्य को आगे बढ़ाने की जगह बाधा डालता है। [illegible] अधिकारी नियमों तथा विनियमों में प्रवीणता प्राप्त करते हैं और जब वे उन्हें लागू करते हैं, वे अपने व्यवसाय में ऐसे दर्जी बन जाते हैं जो कपड़ा की काटछाँट (टेलरिंग) तो करते हैं परन्तु उन्हें शरीर का पता नहीं रहता। इस प्रशासन में अनावश्यक बाधायें उपस्थित होती हैं। भारत में लालफीताशाही या अनावश्यक प्रशासनिक देरी के कई कारण हैं। एक कारण है, विभाग में प्राप्त होने वाली सभी फाइलों और पत्रों को पदाधिकारियों के पास भेजने से पूर्व सहायकों के समक्ष रखा जाना। दूसरे, किसी मामले पर, निर्णय लिए जाने से पूर्व एक से अधिक विभागों में विचार किया जाना। पहले की अपेक्षा अब जूनियर अफसरों द्वारा बहुत कम मामलों में निर्णय लिया जाता है। परिणामस्वरूप कार्य का बोझ सेक्रेटरियों और ज्वाइंट सेक्रेटरियों पर आ पड़ता है। मन्त्रियों और अन्य उच्च अधिकारियों द्वारा निम्न [illegible] के अधीन आने वाले मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप भी लालफीताशाही की प्रवृत्ति को बढ़ाता है।

अत्यधिक कार्यकर्ता

जनता में प्रशासन के विरुद्ध अनेक आलोचनाएं पायी जाती हैं। बहुत अधिक कार्यकर्ताओं वाली बेईमान, अकुशल और लालफीताशाही सरकार में किस प्रकार अनावश्यक कार्यकर्ता हैं यह जानने के लिए विस्तृत अध्ययन की जरूरत है। चपरासी तथा निम्न वेतन और निम्न स्थिति वाले कर्मचारी बहुत अधिक हैं जब कि उच्च स्तरों पर, सचिव, संयुक्त सचिव, उपसचिव आदि के पद बहुत कम हैं। यह सामान्यतः किसी भी विस्तृत संगठन के बारे सत्य है किन्तु जहाँ आवश्यकता से अधिक कार्यकर्ता हों वहाँ कार्य का पुनर्व्यवस्थित और सरल करके पर ये कार्यकर्ता कम किये जा सकते हैं।

अकुशलता

भारतीय प्रशासन पर एक अन्य आरोप अकुशलता का लगाया जाता है। यह आरोप

सामान्य जनता द्वारा भी लगाया जाता है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो हमारे यहां प्रशासकीय निकायों और विभिन्न क्षेत्रों की स्पष्ट व्याख्या का अभाव है, जिससे प्रशासन में अतिक्रमण, लालफीताशाही और देरी आदि उत्पन्न होती है। दूसरे, अकुशलता का एक अन्य कारण समन्वय का कमी होना भी है। तीसरे, कार्यों में कुशलता और दक्षता लाने के लिए सत्ता का हस्तान्तरण (Delegation) आवश्यक है जिसका भारतीय प्रशासन में अभाव है। हमारे यहां उच्च अधिकारी अपने पास अधिकाधिक सत्ता रखते हैं और अपने से निम्न पदाधिकारियों में उनका अविश्वास रहता है। अतः अधिक कार्य के भार से उनके शिथिल होने से अकुशलता बढ़ती है। चौथे, कभी कभी आदेश की एकता का अभाव, जिसमें एक व्यक्ति दो उच्च पदाधिकारियों के अधीन आ जाता है, अकुशलता को जन्म देता है। ऐसी स्थिति में उसे एक से आदेश मिलता है कि 'ऐसा करो', जब कि दूसरा कहता है 'ऐसा मत करो'। उदाहरण के लिए जिला बोर्डों का एक डाक्टर जिला बोर्डों के निर्वाचित अधिकारी से एक आदेश प्राप्त करता है और जिला चिकित्सा अधिकारी से दूसरे।

निम्नस्तर का मनोबल

यह भारतीय प्रशासन की एक अन्य बुराई है। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, पदोन्नति योग्यता और वरिष्ठता के आधार पर न की जाकर अनुचित आधारों पर की जाती है। जाति, सम्प्रदाय, धन आदि तत्वों के प्रभाव से योग्य व्यक्ति पीछे रह जाते हैं और अयोग्य स्थान पाते हैं। उनमें निराशा व विरोध की भावनाएं पैदा होना स्वाभाविक है। द्वितीय कारण है सिविल सेवकों में उत्तरदायित्व को टालने और निर्णय न लेने की प्रवृत्ति। इसी तरह तीसरा कारण है सरकार की ओर से सिविल सेवकों को कष्ट दिये जाना। इस सम्बन्ध में केंद्रीय वेतन आयोग ने कहा था कि "हमारे समक्ष जो साक्षियां प्रस्तुत की गईं, उनसे पूर्ण निराशा तो नहीं, पर सभी कर्मचारियों का सरकार की न्याय नीति में अविश्वास अवश्य प्रकट होता है। यह उस निम्न मनोबल को निर्दिष्ट करता है जो अच्छे प्रशासन के लिए आत्मघात के समान है।"[1]

भ्रष्टाचार

भारतीय प्रशासन में आज जो सबसे बड़ा दोष नजर आ रहा है वह है अनियमितता और भ्रष्टाचार (Irregularity and Corruption)। आज प्रशासन का कोई क्षेत्र इससे मुक्त नहीं। उच्च स्तरों-मन्त्रियों और पदाधिकारियों में ही जब इसका आगमन हो रहा है तो निम्नस्तर में तो क्या आशाएं की जायें? मन्त्रियों के कार्य अन्य कर्मचारियों में अनैतिकता और पक्षपातवाद (Favouritism) के भावों को प्रोत्साहन देते हैं। आज जिस राज्य की ओर नजर जाता है वहीं पदाधिकारियों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव रखे जा रहे हैं।

---

1. "The evidence before us has disclosed absolute distrust, not to say despair on the part of most grades of public servants as to their receiving a fair response from the government to their represenetatives." (Central Pay Commission 1957-59)

और जांच समितियां बिठाई जा रही हैं या यह सब हो चुका है या सोचा जा रहा है। केन्द्र और राज्य दोनों में उच्च पदाधिकारियों की यही स्थिति है। घूसखोरी और सरकारी धन का व्यक्तिगत काम के लिए दुरुपयोग बढ़ता जा रहा है।

सुधारों की आवश्यकता

इसमें भारतीय प्रशासन के कुछ मुख्य पहलुओं और उनमें निहित दोषों का उपरोक्त विवेचन किया है। यदि भारतीय प्रशासन को भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का महान कार्य करना है तो इसके लिए बहुत से सुधारों की आवश्यकता है। एक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में भारत ने जो उच्च लक्ष्य अपने सम्मुख रखे हैं उनके लिए प्रशासन की जाँच और कुछ तत्कालीन और कुछ दीर्घकालीन सुधारों की अत्यन्त आवश्यकता है।

भर्ती में व्यक्तिगत गुणों को प्रमुखता दी जाय

सर्वप्रथम अधिकारियों की भर्ती केवल शैक्षणिक आधार पर नहीं की जानी चाहिये, वरन् चरित्र, उत्साह आदि व्यक्तिगत गुणों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये। आई ए एस., आई एफ एस, आदि में भर्ती होने वाला के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था का सुधारा जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में गोरवाला का सुझाव है कि "आवश्यक अधिकारियों और स्टाफ सहित प्रशिक्षण, संगठन और कार्यप्रणाली के निदेशक की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार को तुरन्त कर देनी चाहिये। राज्यों में भी चीफ सेक्रेटरी के अधीन संगठन होने चाहिये।"[1] इस सम्बन्ध में आज हमारे प्रशासन में विभिन्न सेवाओं के लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों और पुनरावृत्ति पाठ्यक्रमों (Refresher Courses) की अधिक आवश्यकता है।

अनावश्यक विलम्ब मिटाया जाय

विभिन्न कार्यों में अनावश्यक देरी को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि समय बचाने वाले साधनों का प्रयोग किया जावे और कागजों का एक से दूसरी मेज पर आवश्यक स्थानान्तरण समाप्त किया जावे। सत्ता का हस्तान्तरण देरी और लालफीताशाही की समाप्ति में बहुत अधिक सहायक होगा। अनावश्यक औपचारिकताओं को त्याग कर प्रत्येक स्तर के अधिकारियों को अपने क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार तुरन्त निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। मन्त्रियों को प्रशासन में और उच्च प्रशासनिक अधिकारियों को अपने से निम्नतर व्यक्तियों के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

कर्मचारी कम किये जायें

1 "The Central Government should appoint a Director of Training, Organisation and Methods with the necessary officers and other staff, the state too would be well advised to have organisation, methods and training sections, working directly under the Chief Secretary."

बहुत अधिक कर्मचारियों के पाये जाने का दोष प्रशासन के पुनर्गठन द्वारा दूर किया जा सकता है। किसी भी स्तर पर आवश्यकता से कम या अधिक कर्मचारियों का होना प्रशासन में देरी और अकुशलता को जन्म देता है।

कुशलता और दक्षता लाने के लिए सुझाव

संगठन में सभी पदों का उत्तरदायित्व और सत्ता निश्चित और बिल्कुल स्पष्ट होने के साथ साथ शासन में एक दूसरे के अनुरूप भी होनी चाहिये। दूसरे, किसी भी पद पर नियुक्त कर्मचारी एक से अधिक व्यक्ति की आज्ञाओं के अधीन नहीं रहना चाहिये। अधीनस्थ कर्मचारियों को आज्ञाएं उनके ऊपर स्थित प्रमुख अधिकारी द्वारा ही दी जानी चाहिये। तीसरे, विभाग के किसी भी प्रशासक के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करने वाले अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या उससे अधिक नहीं होनी चाहिये, जितनों का वह यथेष्ट रूप से निरीक्षण कर सकता हो। चौथे, अधिकारियों को अपनी सत्ता का हस्तान्तरण और विकेन्द्रीकरण करना चाहिये। पांचवें, कुशलता के लिए विभागों का इस प्रकार संगठित होना आवश्यक है कि उनमें उचित समन्वय रहे। विभाग के संचालक का प्रमुख कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह विभाग के अंतर्गत शाखाओं के कर्मचारीवर्ग तथा कार्यों में समन्वय स्थापित करे तथा सहयोग को प्रोत्साहन दे। अन्त में, प्रशासकों को इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये कि जनता उनकी स्वामिनी है।

योग्यता और परिश्रम के आधार पर पदोन्नति और प्रोत्साहन

उच्चकोटि के मनोबल के लिये इस सिद्धान्त का पालन आवश्यक है। भारत में अधिकांशतः उच्चतर तथा मध्यम स्तर के पदों के लिये तो योग्यता पर जोर दिया जाता है और निम्न स्तर के पदों के लिये 'ज्येष्ठता और उपयुक्तता' (Seniority-cum-fitness) पर। सिद्धांत यद्यपि हमारे यहाँ योग्यता पर ही बल देता है पर व्यवहार में ज्येष्ठता को अधिक बल दिया जाता है। संघीय लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष ने केन्द्रीय वेतन आयोग के समक्ष कहा था —"इस ठोस सिद्धान्त का सम्मान इसका अनुसरण करने की अपेक्षा इसको भंग करने के रूप में ही अधिक किया जाता है।" अतः वास्तविक सिद्धांत का सच्चे अर्थों में पालन होना चाहिये, वेतन आयोग ने भी यही सिफारिश की थी। कुशल और ईमानदार कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के लिये अधिक वेतन वृद्धि आदि के रूप में पुरस्कार भी दिये जा सकते हैं।

भ्रष्टाचार का निवारण

आज भारतीय प्रशासन के सम्मुख सबसे प्रमुख समस्या भ्रष्टाचार है। इसके लिये सरकार को नागरिकों के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिये, जिससे कि आय के अनुचित साधनों की ओर प्रवृत्त न हों। राजनीतिक पदों पर अवकाश प्राप्त प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त नहीं किये जाने चाहिये क्योंकि राजनीतिक पद प्राप्त करने के लिये वे पदाधिकारी निर्णय करते वक्त अपने उच्च अफसरों को खुश रखने के लिये अनुचित कार्य करने लगते हैं। भ्रष्टाचार

और रिश्वतखोरी के दोषियों के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। हाल ही में केन्द्र सरकार द्वारा 'भ्रष्टाचार निवारण समिति' की स्थापना की गई है परन्तु आवश्यकता इन उपायों के द्वारा दृढ़तापूर्ण कार्यवाही करने की है। इस सम्बन्ध में श्री एपलबी के सुझाव इस प्रकार हैं —

"ऐसा संगठनात्मक ढांचा बनाया जाना चाहिये जो पक्षपातवाद और बेईमानी के अवसरों को कम से कम कर सके और योग्यता और सच्चरित्रता के अवसरों को अधिकाधिक बढ़ाता है। अनियमितताओं व प्रतिवेदनों उत्तम कार्यों के लिये सजाओं आदि के प्रति जागरूकता आवश्यक है। यह सम्भवतः मामला है स्थानान्तरित उच्चतर स्तर क्षेत्रों में सर्वाधिक सावधानी और जागरूकता जरूरी है। इन क्षेत्रों में विक्रय, खरीद, लाइसेंस, परमिटों आदि के लिये प्रार्थनाएं तथा ठेकों, पर्चेजों, समझौतों आदि के गठन से सम्बन्धित कार्यवाहियां आती हैं। निम्न वेतन स्तर वाले कर्मचारियों में सामान्य स्थिति आश्चर्यजनक रूप से अच्छी है। मेरा अनुमान है कि यहां लोग सामान्यतः अधिक ईमानदार हैं। कठिनाइयां जो भी हैं वे राजनीतिक अनुभव और अनुचित संस्थात्मक प्रबंध के अभाव की हैं।"

एपलबी के उपरोक्त विचार बहुत कुछ सही हैं परन्तु हमारे विचार में भारतीय कर्मचारियों की ईमानदारी के बारे में एपलबी का अनुमान पूर्णतः उचित नहीं है। जनमत तो यह मानता है कि आज अकुशलता, भ्रष्टाचार, अनियमितता, बेईमानी, रिश्वतखोरी आदि बुराइयां इतनी बढ़ गई हैं कि किसी भी क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति के लिये जांच कमीशन नियुक्त करने की आवश्यकता है।

जहां तक कानून का सम्बन्ध है उसे अमल में लाया जा सकता है और उसका प्रभाव भी होता है, लेकिन केवल कानून से भ्रष्टाचार समाप्त नहीं हो सकता। हममें से प्रत्येक को प्रयास करना होगा और मिलजुल कर ऐसे कार्य करने होंगे जिससे देश में निष्कलुषित जीवन और अच्छे और प्रभावी प्रशासन की स्थापना की जा सके। समाज के 'महाजन' जो आज के मन्त्री आदि हैं वे अपना आचरण शुद्ध करें। महाजनों का जैसा आचरण होगा उसी के अनुसार समाज चलेगा क्योंकि जनसाधारण उसी का अनुसरण करता है। राजकार्य, अर्थकार्य और समस्त सामाजिक जीवन में गांधीजी के नैतिक मूल्यों के अनुसार ही देश का वर्तमान दूषित वातावरण शुद्ध किया जा सकता है। यही भ्रष्टाचार उन्मूलन का एक प्रभावी उपाय है।

देश में शुद्ध प्रशासन के लिये हाल ही में संसद में एक सुझाव रखा गया था कि राज्य सभा के अध्यक्ष को लोकसभा के अध्यक्ष से परामर्श करके सब राजनीतिक दलों के नेताओं की एक ऐसी समिति नियुक्त करनी चाहिये जो संसद तथा विधान सभा के सदस्यों के लिये एक आचरण संहिता तैयार करे। यद्यपि सरकार श्री नन्दा के नेतृत्व में प्रशासन में भ्रष्टाचार को हटाने के लिये प्रयत्नशील है परन्तु यह जिस व्यापक और विविध रूप में फैला हुआ है उसे देखते हुए इस सुझाव को अमल में लाये जाने की और भी अधिक जरूरत है।

मन्त्रियों के लिये आचरण संहिता का निर्माण किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी राष्ट्र के जीवन में मंत्रिपद महान् दायित्व का पद होता है जिसके उचित निर्वाह के लिये मंत्री का शुद्ध रहना बहुत जरूरी है। यही एक मार्ग है जिसके द्वारा शेष प्रशासन-यंत्र को भ्रष्टाचार से मुक्त रखा जा सकता है और आम जनता भी सुख की सांस ले सकती है किन्तु विधायकों और संसद सदस्यों का पद भी कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। उन्हें अधिकार और सत्ता जरूर हासिल नहीं है किन्तु जिन नीतियों और कानूनों के अनुसार कोई लोकतांत्रिक देश चलता है उसके अन्तिम निर्णायक वे ही हैं। यदि वे ही भ्रष्टाचार का शिकार होंगे तो ऐसे कानून नहीं बन सकेंगे जो जनता के सुख, सन्तोष और समृद्धि का आधार बन सकें। मन्त्रियों का चुनाव भी इन्हीं में से होता है। अतः इन्हें शुद्ध रखने की व्यवस्था किये बिना मन्त्रियों से श्रेष्ठ आचरण की आशा कैसे की जा सकती है? इन निर्वाचित प्रतिनिधियों से राष्ट्र के सच्चे शुभचिन्तक बनने की आशाएं की जाती हैं परन्तु प्रायः इनमें से अधिकांश इन आशाओं को पूरा नहीं करते और स्वार्थों के वशीभूत होकर अपने कर्तव्यों के प्रति न्याय नहीं कर पाते। परिणामतः जिस विचार विनिमय पर देश का भविष्य आश्रित होता है वही दूषित हो जाता है।

आचारसंहिता की आवश्यकता

आचरण संहिताओं, भ्रष्टाचार निरोधक कानूनों, दण्ड-व्यवस्थाओं की घोषणाएँ मात्र ही समाज के आचरण को सही दिशा देकर भ्रष्टाचार का उन्मूलन नहीं कर सकतीं। परन्तु ये सब व्यवस्थाएं ऐसे अंकुश अवश्य हैं जिनके रहने से सामान्य कर्मचारियों से लेकर देश के भाग्य-निर्माताओं तक को भ्रष्ट होने का अवसर कम मिलेगा और वे अपने कर्तव्य के प्रति अधिक न्याय कर सकेंगे। अतः इस क्षेत्र में केन्द्र सरकार, राज्यों तथा जनता को अधिकाधिक सजग और प्रयत्नशील होना चाहिये तभी प्रशासन से इन भयंकर बुराइयों का निवारण सम्भव है।

सिविल सेवकों में मंत्रियों और संसद-सदस्यों द्वारा विश्वास की आवश्यकता

सिविल-सेवक को कभी कभी मंत्रियों और संसद सदस्यों के हाथ का खिलौना-मात्र बतलाया जाता है। जब तक यह स्थिति दूर नहीं हो जाती स्वतन्त्र भारत द्वारा आयोजित कार्यक्रमों की सफलता के लिये एक ठोस तथा सारग्राही दृष्टिकोण का विकास नहीं हो सकता। संसदीय प्रतिमान के फलस्वरूप सिविल सेवकों ने आज स्वयं को शासन की कठोर कार्यविधियों तथा प्रक्रियाओं तक ही सीमित कर छोड़ा है। इससे स्वतन्त्र भारत के महान उद्देश्यों को पूरा करने की उनकी क्षमता में भारी कमी हुई है। सिविल सेवा एक ऐसा यंत्र है जिसके द्वारा कोई भी कार्यवाही आगे बढ़ाई जा सकती है और यदि इसका उचित प्रतिमान के साथ लिया गया तो इसके कार्य भी कम प्रभावशाली होंगे। सिविल सेवकों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित करने की जरूरत है जिससे वे मंत्रियों के हाथ का खिलौना न रहें। उनके विशिष्ट ज्ञान का

सर्वश्रेष्ठ प्रयोग करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें बिना किसी भय के अपने प्रमुखों के सम्मुख सरकार के मामलों पर अपने मत प्रकट करने के अवसर दिये जायें।

एपलबी के सुझाव

पॉल एपलबी ने भारतीय प्रशासन में सुधार के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिये हैं जिनमें से कुछ मुख्य निम्न प्रकार से हैं —

(१) सरकार द्वारा किसी योग्य मंत्री के प्रत्यक्ष आधीन संगठन और व्यवस्था अथवा लोकप्रशासन कार्यालय (Organisation & Management or Public Administration Office) की स्थापना की जानी चाहिये। सरकारी ढांचे और प्रशासनिक पद्धतियों के सुधार के प्रस्तावों और अध्ययन के लिये ऐसा कार्यालय जरूरी है।

(२) बाहरी विशेषज्ञों की टीम द्वारा और अधिक तथा विशिष्ट अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिये।

(३) लोक प्रशासन पर राष्ट्रीय और अनौपचारिक रूप से ध्यान केन्द्रित करने के लिये सरकार की आधीनता में एक लोक प्रशासन संस्था (Institute of Public Administration) की स्थापना जिसका उद्देश्य साहित्य-वृद्धि द्वारा प्रशासनिक ज्ञान में कुशलता प्रदान करना हो।

(४) लोक प्रशासन में शैक्षणिक स्नातक प्रोग्रामों का विकास और लोकसेवा में वार्षिक प्रवेश के लिये विशेष मार्गों की स्थापना। उपरोक्त लोक प्रशासन संस्था को विश्वविद्यालयों और सरकारों में नये और निकट के पारस्परिक आदान प्रदान और कार्यात्मक संबंध स्थापित करना चाहिये।

(५) सामुदायिक योजनाओं को चलाने और इनके संचालन में लचीलापन और विशिष्टता लाने के लिये प्रशासनिक दायित्व को मजबूत बनाना चाहिये।

(६) विभाग और सामाजिक कार्यों के भी क्षेत्रों में अन्तर मन्त्रालय-द्वन्द्वों को कम करना तथा सरकार के विभिन्न स्तरों पर समालोचना (Reviewing) के तरीकों को सुधारना।

(७) पद सोपानों में उच्च और निम्न स्तरों पर विद्यमान विस्तृत दूरियों को कम करके प्रशासकीय पदसोपान को पूरा करना।

(८) सरकार के लिये कार्य करने वाले भी व्यक्तियों की क्षमता बढ़ाने के लिये विस्तृत कार्मिक वर्ग विकास योजनाओं (Personnel Development Programmes) की स्थापना।

(९) भारतीय प्रशासन सेवकों के लिए अन्य देशों के भाग प्रशासन को देखने और उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिए। इसके अलावा अन्य देशों द्वारा

उत्पादित व्यावसायिक साहित्य का विस्तृत रूप से उपलब्ध होना भी उपयोगी होगा और ऐसा होने पर ही यहां के प्रकाशन अन्य स्थानों पर रुचिपूर्वक पढ़े जायेंगे।

(१०) भर्ती से सम्बद्ध प्रशिक्षण केन्द्र होने चाहिये और पहले से नियुक्त व्यक्तियों के लिये भी समय समय पर सैद्धान्तिक सेवाकालीन प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिये।

(११) ओ० और एम० डिविजनों की स्थापना—ये केन्द्र और राज्य दोनों में हो सकते हैं।

(१२) Institute of Public Administration की स्थापना।

इनमें से अन्तिम तीन सुझाव क्रियान्वित किये जा चुके हैं।

इन उपरोक्त सुझावों के अतिरिक्त पॉल एपल्बी ने प्रजातन्त्र और लोककल्याणकारी धारणा के अनुरूप प्रशासनिक सिद्धान्तों के लिये भी सुझाव दिये हैं। उनका कहना है कि वर्तमान भारतीय समाज के दो मुख्य पहलुओं—प्रजातन्त्र तथा कल्याणकारी राज्य की धारणा—से सम्बन्धित प्रशासनिक सिद्धान्त के विकास का विशेष आवश्यकता और अवसर है। प्रजातान्त्रिक लोक प्रशासन का अर्थ केवल प्रजातान्त्रिक ढंग से चुने और उत्तरदायी नेताओं के नियन्त्रण और निर्देशन में लोक प्रशासन का होना ही नहीं है और न होना चाहिए "प्रजातन्त्र उस ढंग पर निर्भर है जिससे उत्तरदायित्व (Responsiveness) निश्चित किया जाता है। ऐसी सरकारें प्रजातान्त्रिक हैं जो उत्तरदायित्व की वृद्धि करती हैं। वह प्रशासनिक पद्धति पूर्णतः उत्तरदायी नहीं कही जा सकती है, जो नागरिकों के पत्रों का उत्तर न देने या गलत ढंग या देरी से देने की आज्ञा देती है। वह प्रशासनिक पद्धति भी प्रजातन्त्रीय नहीं है जो सरकारी दफ्तरों और सार्वजनिक स्थानों पर नागरिकों के प्रवेश पर बाधायें लगाती है या जो नौकरशाहियों के विभिन्न स्तरों के मध्य मुक्त बाधायें उत्पन्न करती है या जो नागरिक आलोचनाओं का मूल्य नहीं समझती। जो पद्धति भाग लेने (Participation) के नाम पर जनता के विचारों और सुझावों को प्राप्त करती है वही सच्चे अर्थों में और अधिक मात्रा में उत्तरदायी है।

बाह्य आयोग द्वारा जांच

समाज की परिवर्तनशील मांगों एवं परिस्थितियों के अनुसार प्रशासन का पुनर्गठन होना चाहिये। निःसन्देह "यदि प्रत्येक दस या बीस वर्षों की अवधि के पश्चात् एक बाह्य आयोग (Outside Commission) द्वारा सरकारी विभागों की पुनः जाँच की जाये तो उससे बड़ा लाभ होगा। बाह्य आयोग अधिकारियों व कार्यरत अधिकारियों (Incharge Officials) के साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहने के लिये मामलों पर सहानुभूति से विचार करेगा। यह आशा की जा सकती है कि किसी अन्य आन्तरिक एजेन्सी के मुकाबले बाह्य आयोग की सिफारिशों पर अधिक ध्यान दिया जायेगा। विभिन्न देशों में समय-समय पर पुनर्गठन आयोगों (Reorganisation Commission) की नियुक्तियां की जाती हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका में हूवर आयोग इसी प्रकार का प्रयास था। भारत सरकार ने भी इस सम्बन्ध में सिफारिशों की सराह

की है और उन्होंने सरकार के सम्मुख प्रतिवेदन प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम सन् १९४९ में ए० गोपालस्वामी आयंगर ने 'सरकारी यन्त्र रचना के पुनर्गठन पर प्रतिवेदन (Report on the Reorganisation of Machinery of Govt.)' प्रस्तुत किया था। इसके बाद १९५१ में गोरवाला तथा एपलबी ने भारतीय लोक प्रशासन पर दो प्रतिवेदन—क्रमशः Report on Public Administration और Public Administration in India : Report of a Survey प्रस्तुत किए। इन दोनों में हमारे प्रशासन के दोषों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया और भारतीय प्रशासकीय ढाँचे में परिवर्तन के बारे सुझाव दिये गये जिनमें से अनेक को क्रियान्वित भी किया जा चुका है।

अब तक हुए प्रयास

भारत में १९५४ में संगठन तथा प्रणाली विभाग (O & M Division) की स्थापना की गई। प्रशासनिक कुशलता में वृद्धि के लिए इस विभाग का कर्तव्य वर्तमान पद्धतियों और कार्यविधियों का परीक्षण करना तथा यह ध्यान रखना है कि प्रशासनिक कार्यवाहियां समय के प्रतिकूल न हो जायें और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप रहें। केन्द्रीय सरकार ने मंत्रालयों को शामिल करके तथा विभिन्न विभागों के अन्तर्विभागीय समीक्षा और वर्गीकरण का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है। लोक प्रशासन के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए 'Institute of Public Administration' की भी स्थापना की जा चुकी है। १४ फरवरी १९६० के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रशासन के ढाँचे की जाँच के सम्बन्ध में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि "गृहमंत्रालय से भारत सरकार की प्रशासकीय मशीनरी के सुगम संचालन के लिए दूरगामी महत्व के सुझाव प्राप्त हुए हैं। इसके बाद कहा गया कि गृहमन्त्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए एक दस्तावेज़ी विवरण प्रकाशित किया है जिसमें कहा गया था कि "एक उच्च स्तर की समिति की शीघ्र ही स्थापना की जायेगी जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बंगलौर अधिवेशन में पास किये गये प्रस्ताव के अनुसार प्रशासकीय ढाँचे में सभी स्तरों पर मितव्ययिता, दक्षता एवं पूर्णता लाने के लिए केन्द्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों की जाँच करेगी।" इस प्रकार समय समय पर भारत के प्रशासकीय ढाँचे का पुनर्गठन किया जाता रहा है।

निष्कर्ष

यद्यपि, एपल्बी के शब्दों में, हमारा देश "Twelve Best Administered Countries of the World" में से एक है और यहाँ "उच्चतम स्तरों पर ईमानदारी" है फिर भी सरकार में अनेक स्थानों पर सुधार की आवश्यकता है। सन् १९५० में संविधान के उद्घाटन के साथ राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर योजनाबद्ध विकास का लक्ष्य रखा गया तब एक दूसरे और बड़े चरण (कल्याणकारी राज्य का

निर्माण) का प्रारम्भ हुआ। प्रजातान्त्रिक मूल्य और आर्थिक पहलू की प्राप्ति के लिए, सबको अवसर की समानता उपलब्ध कराने के लिए और विशाल देश के मानवीय और भौतिक साधनों के अधिकतम विकास के लिए प्रशासन पर नए और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दायित्व आ पड़े हैं। प्रशासन की मशीनरी, पद्धतियां और कार्यविधियों के पुनर्गठन का विषय जो अत्यधिक गम्भीर है, विकास के लिए और भी गम्भीर हो गया है। "इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वच्छ, कुशल और निष्पक्ष प्रशासन सफल प्रजातान्त्रिक आयोजन की प्रथम शर्त है।"[1]

सुधार और पुनर्गठन के लिए उठाये गये उपरोक्त कदमों से यह स्पष्ट होता है कि सरकार इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रही है परन्तु फिर भी मध्यस्थानक दावों तथा श्रमिक वर्ग के विकास और कार्य-पद्धतियों में सुधार की बहुत आवश्यकता है। "प्रशासकीय यन्त्र को अब कल्याणकारी राज्य की स्थापना से सम्बन्धित नई समस्या का सामना करना है।"[2] "लोक प्रशासन का स्वरूप जितनी कुशलता से यह कार्य करता है और जो सहयोग यह पैदा करता है उस पर ही अधिकांशतः विकास का भावी स्वरूप निर्भर होगा।"[3] हमारे प्रशासन का मुख्य दायित्व केवल शान्ति एवं व्यवस्था और कानून व्यवस्था बनाये रखना ही नहीं है जैसा कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य था, वरन् देश में से भूख, अभाव और दरिद्रता को समाप्त करने के लिए भी देश के मानवीय और भौतिक साधनों के विकास के लिए कार्य करना है। इसके लिए हमें उच्चकोटि के प्रशासकों की आवश्यकता है। एपलबी के अनुसार "   एक कल्पित व्यक्ति केवल उसे कार्य करता हुआ भारतवर्ष में कोई नया सुधार नहीं ला सकता। प्रशासनिक अधिकारियों को चाहिये कि वे भारत की भावी मांग को अपनी शक्ति और उचित कार्यों द्वारा पूरी करें। भावी भारत में लोक प्रशासन

---

1. "There can be no doubt that, efficient and impartial administration is the first condition of successful democratic planning." —N R. Pillai, Secretary, Planning Commission, July 17, 1951.

2. ".. ...... the machinery of administration has now to face problems connected with the establishment of a welfare state." Observed by Congress Working Committee in a resolution on Social and Economic programme.

3. "The phase of development will depend largely upon the quality of public administration-the efficiency with which it works and the cooperation which it evokes" (Stated by Planning Commission in its recommendation on the Five Year Plan)

अधिक महत्वपूर्ण होगा। इसके विकास के लिए आवश्यक है कि वह बौद्धिक और प्रणाली मूलक होने के साथ-साथ प्रशासन के ढांचे को भी प्रभावित कर सके।"[1]

BIBLIOGRAPHY

1 A D Gorwala Report on Public Administration

2 Paul H Appleby Public Administration in India—Report of a Survey

3 Herbert Emmerich Essays on Federal Reorganisation

4 Ruthnathswamy Principles of Public Administration

5 Hydrabad Economy Committee Report

---

1 " Average person working in an average way can not bring a wholly new day in India Very extra ordinary people must carry the hope of India into the management of tasks enormously difficult and complicated Public Administration will grow in importance and significance in India Its growth should be as much intellectual and methodological as it is physical"

२६

दक्षिण एशिया का क्षेत्रीय एकीकरण

(स्वरूप, सम्भावना एवं समस्यायें)

—पुरुषोत्तम नागर

अपने लम्बे और कठिन संघर्ष के पश्चात् एशिया के देशों को विदेशी साम्राज्य के मरणदायी पंजे से अपने-आपको निकाल कर स्वतन्त्रता की वायु में श्वास लेने का अवसर प्राप्त हुआ। इस स्वतन्त्रता को स्थिर एवं सुदृढ़ बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अपने विकास कार्यों में ये देश मिलकर, सहयोगपूर्वक एवं एक संगठन के रूप में अग्रसर हों। इसी कारण अनेक उच्चकोटि के विद्वानों को आज यह विचार प्रभावित करता जा रहा है कि दक्षिण-एशिया क्षेत्र को एक संगठन का रूप दे दिया जाये।

दक्षिण एशिया की इकाइयाँ—दक्षिण एशिया के इस क्षेत्रीय संगठन में किन किन देशों को शामिल किया जाय इसके बारे में विचारकों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान इसे भारत, पाकिस्तान, नेपाल तथा लंका तक सीमित करते हैं जबकि दूसरे अफगानिस्तान और बर्मा को भी इसमें मिला लेते हैं। बर्मा को प्रायः दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं अफगानिस्तान को पश्चिमी एशिया के साथ संयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार भारत को भी भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और आधुनिक राजनैतिक झुकावों की दृष्टि से पश्चिम तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से जोड़ा जाता है।[2] पाकिस्तान भी, क्योंकि 'सेन्टो' तथा 'सिएटो' का सदस्य है, पश्चिमी एशिया अथवा दक्षिणी-पूर्वी एशिया का एक भाग माना जाता है। मत भिन्नता रहते हुए भी दक्षिण-एशिया को एक क्षेत्रीय संगठन का रूप देने वाले अधिकांश विचारक भारत, पाकिस्तान, नेपाल, लंका, बर्मा एवं अफगानिस्तान को इस संगठन की इकाइयाँ मान कर चलते हैं।

क्षेत्रीय संगठन की आवश्यकता—दक्षिण एशिया के इन सभी राष्ट्रों के सम्मुख मुख्य रूप से दो कार्य हैं—अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा देश का सर्वांगीण विकास।[*] जिस पराधीनता के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए इन राष्ट्रों को अनेक सपूतों की बलि चढ़ानी पड़ी थी वह फिर से न आ जाय इसकी रोकथाम के लिए रक्षात्मक तैयारियों एवं सैनिक शक्ति की मात्रा पर्याप्त होना आवश्यक है। किन्तु इस

---

1. Jawahar Lal Nehru's Speeches, 1947–49, P. 236.
2. "Congrunted by many similar problems, and with a common interest in preserving and consolidating their newly won freedom, these Countries have a common stake in regional co-operation for common ends."
—Norman D. Palmer in forword of 'India and Regional Integration in Asia', by Sisir Gupta.

आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन देशों के पास समुचित साधनों का अभाव है अतः इन सब को एक संगठन बना लेना चाहिए तथा एक होकर अपनी स्वतंत्रता के दुश्मनों का मुकाबला करने को तैयार रहना चाहिए। दूसरी समस्या है इन देशों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में उन्नति करने की। इस समस्या का समाधान भी इन देशों की परस्पर सहयोगपूर्ण नीति पर आधारित है। संगठन में शक्ति होती है। इस शक्ति का प्रयोग करके ये देश अपने आपको ऊंचा उठाकर प्रगतिशील राष्ट्रों की श्रेणी में रख सकेंगे।

क्षेत्रीय संगठन में सहायक तत्व—जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में मित्रता का आधार होता है निकट सम्पर्क, समान पृष्ठ भूमि, एक-सी अभिरुचियां, समान समस्यायें, लक्ष्यों की समरूपता आदि आदि, ठीक उसी प्रकार दक्षिण एशिया को एक क्षेत्रीय संगठन का रूप देने के लिए अनुकूल परिस्थितियां विद्यमान हैं। इस क्षेत्र के देशों में पृष्ठ-भूमि, राजनीति, संस्कृति, धर्म, स्तर, लक्ष्य आदि की समानता परिलक्षित होती है जिसके आधार पर यह सम्भावनीय स्वीकार किया जाता है कि इन देशों के बीच परस्पर मैत्री एवं सहयोग की स्थापना हो सकती है। क्षेत्रीय संगठन के अनुकूल विद्यमान तत्व निम्न प्रकार हैं—

(१) **भौगोलिक एकरूपता**—इस क्षेत्र की व्यवस्था भौगोलिक दृष्टि से पर्याप्त निकट है। अधिकांश की सीमायें एक दूसरे से मिली हुई हैं। यदि बर्मा और अफगानिस्तान को एक ओर रखें तो हम पायेंगे कि अन्य चारों देशों की सीमाओं में भारी निकटता एवं सान्निध्य है। यही कारण है कि इन देशों का जलवायु, मानसून, कृषि की अवस्थायें तथा रहन-सहन आदि के बीच एक आधारभूत समानता प्राप्त होती है। बर्मा तथा अफगानिस्तान को ऊँचे पहाड़ और गहरी घाटियों ने भौगोलिक दृष्टि से विलग कर दिया है किन्तु फिर भी ये देश पश्चिमी एशिया एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया से भी उतने ही दूर हैं अतः दक्षिण एशिया में इनको समाहित किया जा सकता है।

(२) **जीवन-यापन का धार्मिक तरीका**—इस क्षेत्र के सभी देशों के नागरिकों का जीवन-यापन का तरीका किसी न किसी धर्म से प्रभावित है। सभी देशों में हिन्दू, मुसलमान, सिख, बौद्ध एवं ईसाई धर्मावलम्बी निवास करते हैं। भारत में हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या निवास करती है किन्तु साथ ही लगभग छः करोड़ मुसलमान भी भारत के नागरिक हैं तथा अन्य धर्म भी अल्प संख्या में निवास करते हैं। लंका और बर्मा में बौद्धों का बहुमत है। पाकिस्तान में मुसलमानों की संख्या अधिक है। पाकिस्तान एक धार्मिक राष्ट्र [Theocratic State] है। धर्म ही इसके जन्म का आधार है तथा राज्य के रूप एवं नीतियों पर धार्मिक शिक्षाओं का पर्याप्त मात्रा में प्रभाव है। लंका के लोक-जीवन में बौद्ध धर्म उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे कि माला में सूत्र।

(३) **ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकार**—दक्षिण एशिया के सभी राष्ट्र स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पंजे में जकड़े हुए थे। इन सभी राष्ट्रों को

समान रूप से विदेशी शासन एवं शोषण का शिकार रहना पड़ा था। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सभी दृष्टियों से समान रूप से इनको कुचला गया था। ब्रिटिश सरकार की नीतियां एक रूप से इन राज्यों के शासन का संचालन कर रही थी। शिक्षा, धर्म, राजनीति, अधिकार आदि क्षेत्रों में अंग्रेजों ने जो रुख भारत में अपनाया वही अन्य देशों में भी अपनाया गया। पाश्चात्य शिक्षा से रंगी हुई एक नवीन संतति सभी देशों में समान रूप से विकसित होने लगी। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति का सभी देशों को कटु फल चखना पड़ा। इन सभी समानताओं के आधार पर यह मानना अयौक्तिक न होगा कि दक्षिण एशिया क्षेत्र के इन सभी देशों की प्रकृति, स्तर एवं समस्याओं में एकरूपता होनी चाहिए। ये सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे तथा एक ही सांचे में ढाली गई मूर्तियों के समान हैं। इन सभी देशों में शासन की बागडोर उन लोगों के हाथ में रही जिन पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का उल्लेखनीय प्रभाव है। जातीय भाषागत एवं सांस्कृतिक अनेकता रहते हुए भी दृष्टिकोण की समानता इनमें पाई जाती है जिसके कारण सभी अनेकतायें महत्वहीन बन जाती हैं।[1] बाण्डुंग सम्मेलन में भाग लेने वाले अधिकांश सदस्यों का यह भाव था कि "हम एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है। एशिया और अफ्रीका के हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचार के शिकार हुए हैं और इस प्रकार गरीबी व पिछड़ेपन की स्थिति में रहने को मजबूर किये गये हैं। हमारी आवाज जबरन दबाई गई है, हमारी महत्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है।"

(४) आर्थिक अर्धविकसितता—इन सभी देशों के सामने आर्थिक समस्यायें समान रूप से उपस्थित हैं। पराधीनता के समय साम्राज्यवादी देशों द्वारा इन सभी देशों को समान रूप से शोषण का शिकार बनना पड़ा था। आर्थिक क्षेत्र में परस्पर सहयोग की नीति अपनाकर ये देश अपने विकास की गति को तीव्रतर बना सकते हैं। इस क्षेत्र का योजनाबद्ध विकास किया जाय तो जल्दी ही आर्थिक समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है। उत्पादन के कुछ क्षेत्रों में निपुणता तथा तकनीकी योग्यता का परस्पर आदान प्रदान किया जाय। इस क्षेत्र के देशों के आर्थिक विकास का स्तर समान नहीं है। प्रत्येक देश अपने स्रोतों का अधिक से अधिक प्रयोग उन क्षेत्रों में करना चाहता है जो उसकी स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप हैं तथा आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से लाभदायक हैं। इस क्षेत्र के विकास का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जाना चाहिए जिसमें उत्पादन एवं तकनीकी योग्यता का परस्पर आदान प्रदान होता रहे। भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पीछे यही भावना कार्य कर रही है। भारत ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना का निश्चय करते समय पूरे क्षेत्र की दृष्टि से सोचने का प्रयास किया

1. W. Hindersen, "The Development of Regionalism in South-East", Vol IX, P. 464.

गया था। सोचा गया था कि गरीबी, जीवन-निर्वाह का निम्न स्तर तथा आर्थिक पिछड़ापन आदि समान प्रकृति की समस्यायें हैं। इन समस्याओं से छुटकारा पाने में एक देश के कार्यों एवं अनुभवों का दूसरे देश के लिए बड़ा उपयोग रहेगा।[1] भारत आर्थिक दृष्टि से दक्षिण एशिया क्षेत्र का सदैव समर्थक रहेगा। यह इस दृष्टि से भारत के लिए लाभकारी रहेगा।[2]

(५) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं शान्ति का समर्थन—दक्षिण एशिया क्षेत्र में स्थित सभी राष्ट्रों का स्वार्थ यह मांग करता है कि विश्व में संघर्ष एवं वैमनस्य न रहे। शान्ति एवं परस्पर सहयोग का वातावरण ही वह उपयुक्त जलवायु है जिसकी उपस्थिति में इन देशों का स्वतन्त्रता का नव विकसित पौधा बढ़कर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में विकास के फल और पुष्प प्रस्फुटित कर सकता है। इस क्षेत्र के अधिकांश देश दोनों गुटों के बीच के संघर्ष की भावना को कम करके दोनों से ही अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के पक्षपाती हैं। भारत जैसे देश असंलग्नता के सिद्धान्तों पर अपनी विदेश नीति को आधार करते हैं जिसका प्रमुख सदय विश्व से युद्ध के संकट को टालना तथा अपने विकास कार्यों में सभी राष्ट्रों का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करना है। पाकिस्तान यद्यपि पश्चिमी सैनिक सन्धियों का सदस्य हो चुका है किन्तु साम्यवादी गुट के सहयोग की वह अवहेलना एवं तिरस्कार नहीं कर सकता।

संगठन के मार्ग की ओर किए गए प्रयास—इस क्षेत्र के देशों को एक दूसरे के अधिकाधिक समीप लाने की दिशा में पहले से ही अनेक प्रयास किये गये हैं। क्षेत्रीय संगठन का अर्थ भौगोलिक दृष्टि से निकट स्थित राष्ट्रों का एक ऐसे संघ से है जो इकाइयों की सुरक्षा एवं विकास की दृष्टि से बनाया जाता है। इस संघ की शर्तें किसी सन्धि या अन्य दूसरे साधन द्वारा निर्धारित की जाती हैं। इसी प्रकार के एक संघ को जन्म देने के लिये इस क्षेत्र के देशों ने कई बार प्रयास किये हैं, अनेक सम्मेलन बुलाये गये तथा मिलकर इस क्षेत्र की समस्याओं का समाधान ढूंढने का प्रयास किया गया। सन् १९४७ ई० देहली में २३ मार्च से २ अप्रैल तक एशियाई सम्बन्धों पर एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें एशिया के २८ देशों ने भाग लिया तथा एशिया की समस्याओं पर विचार विमर्श किया जैसे एशिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन, जातीय

1. "It has to be kept in mind that poverty, low standard of living and economic backwardness are problems of common interest, and the efforts and experiences in each country are bound to be of value to the others in the area faced with similar problems."
—India the Second Five Year Plan, New Delhi, 1956, P. 19-20.

2. "In any event, India's aversion to regional co-operation or integration in Asia is likely to be the least in the economic sphere."—Sisir Gupta: India and Regional Integration in Asia. P. 105-6.

समस्यायें, सांस्कृतिक कार्य, कृषि एवं उद्योग आदि।[1] इस सम्मेलन में उद्घाटन भाषण देते समय पण्डित नेहरू ने क्षेत्रीय सहयोग की महत्ता पर बड़ा बल दिया था। इस सम्मेलन का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में था कि एशियाई देशों के बीच सम्बन्धों के विकास का इसने श्रीगणेश किया। १९४८ में इण्डोनेशिया पर डचों द्वारा जो आक्रमण किया उसे एशिया वालों ने बड़ी गम्भीरता से लिया तथा इसे एशिया पर आक्रमण के रूप में माना। नई दिल्ली में इस समस्या पर विचार करने को सम्मेलन बुलाया गया। इसमें करीब १९ देशों ने भाग लिया। सम्मेलन २० जनवरी १९४९ को बुलाया गया। इसके बाद बेगिनो सम्मेलन (Bagino Conference) बुलाया गया। भारत ने इस सम्मेलन में भाग लेने की जो शर्त रखी वह यह थी कि सम्मेलन केवल अराजनैतिक क्षेत्रों से ही अपना सम्बन्ध रखे। भारत को जब यह आश्वासन मिल गया कि सम्मेलन राजनैतिक मामलों पर विचार-विमर्श न करके केवल सांस्कृतिक कार्यों से संबंध रखेगा तो भारत ने इसमें भाग लिया। १९५० में होने वाले इस सम्मेलन में करीब ९ देशों ने भाग लिया। इसमें सांस्कृतिक क्षेत्र में सहयोग के प्रस्ताव पास किए गए। अप्रैल, १९५४ में कोलम्बो में लंका, भारत, इण्डोनेशिया, बर्मा और पाकिस्तान जैसी कोलम्बो शक्तियों ने एक सम्मेलन का आयोजन किया। यह सम्मेलन मुख्यतः उपनिवेशवाद का विरोधी था। इस सम्मेलन में भारत-चीन स्थिति, हाइड्रोजन-बम का प्रश्न, ट्यूनिशिया व मोरक्को के प्रश्न और सामान्यतः साम्यवाद के प्रश्न पर विचार किया गया। इस सम्मेलन के सदस्यों ने अलग अलग पहलुओं पर जोर दिया था। लंका ने साम्यवाद के खतरे से बचने के लिए अधिक सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता पर जोर दिया, बर्मा ने आर्थिक सहयोग बढ़ाने की माँग की, पाकिस्तान के अनुसार सम्मेलन को मूलतः काश्मीर समस्या पर ही विचार करना चाहिए था, पण्डित नेहरू ने इण्डो-चायना तथा हाइड्रोजन के मसलों को महत्वपूर्ण माना जबकि इण्डोनेशिया एक अफ्रो-एशियाई सम्मेलन बुलाने की माँग पर जोर डाल रहा था।[2]

अप्रैल १८ से २४, १९५५ तक एशिया तथा अफ्रीका के देशों का एक सम्मेलन बाण्डुंग (इण्डोनेशिया) में बुलाया गया। भारत सहित २९ एशियाई व अफ्रीकी देशों ने इसमें भाग लिया। इस सम्मेलन के परिणाम केवल असंतोषजनक ही न थे वरन् आशा के विपरीत भी थे। इसने एशिया के देशों की विदेश नीति के बीच भारी अन्तरों की स्थापना की। पश्चिम समर्थक व विरोधी देशों के बीच का अन्तर बढ़ा। असंलग्नता की नीति पर चलने वाले राष्ट्र भी कई रास्तों की ओर हट गए। इस सम्मेलन ने चीन के गौरव को भारत की कीमत पर बढ़ाया। २४ अप्रैल, १९५५ के न्यूयार्क टाइम्स में टिप्पणी की कि पण्डित नेहरू इस सम्मेलन की कार्यवाही को अपनी इच्छा के अनुसार संचालित करने में असमर्थ रहे। इस सम्मेलन में मुख्यतः आर्थिक सहयोग, सांस्कृतिक

1. Keesing's Contemporary Archives, 1947, P. 8362.
2. Keesing's Contemporary Archives, 1954, P. 13576.

सहयोग, मानवीय अधिकार व आत्म-निर्णय, पराधीन व्यक्तियों की समस्या तथा विश्व-शान्ति व सहयोग की समस्या पर विचार किया गया।

मई, १९५५ में १३ एशियाई देशों का एक सम्मेलन शिमला (भारत) में बुलाया गया। इस सम्मेलन के विचार का प्रमुख विषय अमरीकन सहायता का उपयोग, उपयोग में आने वाली कठिनाइयाँ एवं अन्य इसी प्रकार के आर्थिक प्रश्न थे। कहा जाता है कि इस समय अमरीका की हार्दिक इच्छा थी कि एशिया में क्षेत्रीय संगठन के भाव जागृत हों। Harold Stassen इस सम्मेलन के प्रमुख प्रेरक थे। किन्तु अमरीका की आशाओं के अनुसार इस सम्मेलन के परिणाम प्राप्त न हो सके जैसा कि १३ मई के न्यूयार्क टाइम्स के सम्पादक का कथन है कि अमरीका को आशा थी कि शिमला कोई ऐसी योजना तैयार करेंगे जिसमें आइजनहावर फण्ड का नानुक्रिक आधार पर उपयोग किया जा सके किन्तु शिमला सम्मेलन ने यह बताया कि एशिया का कोई देश क्षेत्रीय योजना को स्वीकार नहीं करता, उससे डरता है।

सितम्बर, १९६१ में पुनः एशियाई आर्थिक आयोजकों का नई दिल्ली में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें क्षेत्रीय सहयोग की समस्याओं पर पुनर्विचार किया गया। इस सम्मेलन के जो सीधे उद्देश्य थे वे काफी सीमित थे। उनकी प्राप्ति में यह सम्मेलन सफल रहा किन्तु क्षेत्रीय सहयोग के मूल लक्ष्य की प्राप्ति में यह कामयाब न हो सका।

क्षेत्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधायें—दक्षिण एशिया का क्षेत्रीय एकीकरण करने के मार्ग में अनेकों बाधायें हैं जिनका निराकरण किये बिना आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। इस क्षेत्र के देशों में अनेकों भिन्नतायें विद्यमान हैं। क्षेत्र में एक मत का अभाव है, इस क्षेत्र के अनेक देश बाह्य शक्तियों द्वारा निर्मित एशियाई देशों की सन्धियों में बंधे हुए हैं। उनकी अपनी ही समस्यायें हैं। इस क्षेत्र के देश राजनैतिक दृष्टि से स्थिर व एकरूप नहीं हैं। यहाँ के देशों ने एशिया के बाहर वालों से अपने सम्बन्ध बना रखे हैं तथा आपस में आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता से व्यवहार करते हैं। इन सब परिस्थितियों के होते हुए क्षेत्रीय एकीकरण की कल्पना कुछ निराधार सी प्रतीत होती है। इस कल्पना की सिद्धि के मार्ग में कुछ अन्य कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं—

(१) **इकाइयों की असमानता**—इस क्षेत्र के देश भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं अन्य दृष्टियों से समान नहीं हैं। नेपाल व बर्मा जैसे छोटे व कम शक्ति वाले देश इसमें हैं, साथ ही भारत जैसे विशाल व शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र भी हैं। जैसा कि हम व्यक्तिगत जीवन में भी देखते हैं, मित्रता सदैव बराबर वालों में ही होती है नहीं तो ऊँच-नीच का भाव आये बिना नहीं रह सकता।[1] छोटे देश को यह खतरा है कि बड़े देश क्षेत्रीय एकीकरण के नाम पर उन पर हावी न हो जायें तब कहीं पुनः उनकी स्वाधीनता कोई छीन न ले। इसके अतिरिक्त भारत एक विशाल देश अवश्य है किन्तु

1. "There is no friendship when nations are not equal, when one has to obey the other and one dominates the other."
—Jawahar Lal Nehru's Speeches, 1953-57, P. 290-1.

अमरीका की भांति वह आर्थिक व सैनिक क्षेत्र में अभी इतना सशक्त नहीं हो पाया है कि अपना प्रभाव प्रयोग करके क्षेत्रीय सहयोग की स्थापना कर सके।

(२) आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता—आर्थिक दृष्टि से ये देश एक दूसरे के सहयोगी होने के स्थान पर प्रतिद्वन्द्वी हैं। इस क्षेत्र के अधिकांश देशों को बहुत कुछ सामान के सहारे ही जीवन निर्वाह करना होता है। इस दृष्टि से इन देशों के हितों में कई बार विरोध पैदा हो जाता है। यह भी कहा जाता है कि यदि इस क्षेत्र का एकीकरण कर भी दिया जाय तो भी इन देशों के स्रोत इनके विकास के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। निश्चय ही एशिया में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग के मार्ग की यह मूलभूत सीमा रेखा है।[1] सुहरावर्दी से जब यह पूछा गया कि आप ब्रिटेन या अमरीका जैसी बड़ी शक्ति से बचने की अपेक्षा आपस में मिल क्यों नहीं जाते तो उनका उत्तर था कि शून्य और शून्य और शून्य मिल कर आखिर शून्य के बराबर ही तो होते हैं।[2] यह कथन इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि इस क्षेत्र के देशों के पास पर्याप्त साधनों का अभाव है। यदि एकीकरण भी हो जाय तो भी इनको बड़ी शक्तियों की मुंह की ओर ताकना होगा।

(३) घरेलू झगड़े—इस क्षेत्र के अधिकांश देशों के बीच किसी न किसी विषय पर संघर्ष होता है। भारत और पाकिस्तान के बीच काश्मीर का झगड़ा एक घोषणा-हीन युद्ध का कारण बन गया तथा दोनों देश कुल्हाड़ के दो सिरों की स्थिति में आ गए जो कभी मिल सकेंगे यह कल्पना नहीं की जा सकती। 'पाकिस्तान का झगड़ा अफगानिस्तान के साथ भी है, पख्तूनों की समस्या को लेकर। लंका और भारत के बीच लंका स्थित भारतीयों को लेकर कुछ मत मुटाव है।' इस मत-मुटाव व संघर्ष की स्थिति में इन देशों के एकीकरण की सम्भावना आकाश कुसुम एवं बन्ध्यापुत्र की सम्भावना की भांति आधारहीन है।

(४) राजनैतिक बाधायें—दक्षिण एशिया क्षेत्र में स्थित देशों के राजनैतिक रूपों में पर्याप्त भिन्नतायें वर्तमान हैं। एक ओर बर्मा, पाकिस्तान आदि देश हैं जो प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध तानाशाही शासन में विश्वास करते हैं तथा इसी व्यवस्था में देश के आर्थिक (एवं अन्य क्षेत्रों में) विकास को परिलक्षित करते हैं। समानता, स्वतन्त्रता आदि आदर्शों का इन देशों में कोई विशेष स्थान नहीं है। दूसरी ओर भारत जैसे देश हैं जो प्रजातन्त्र में विश्वास करते हैं और स्वतन्त्रता और समानता आदि आदर्शों की रक्षा के लिए धीमे विकास के मार्ग को अपनाने में संकोच नहीं करते।

---

1. "This indeed is a basic limitation on regional economic co-opertion in Asia."
   —P. S. Lokanathan, "Regional Co-operation in Asia." India quarterly, January March, 1951.

2. "Zero plus Zero plus Zero is after all equal to Zero."
   —Prime Minister's Statement on Foreign Policy, 9 Dec., 1956.

इन देशों के राजनैतिक आदर्श भी भिन्न हैं। पाकिस्तान के सैनिक प्रशासन, भारत का संसदात्मक प्रजातन्त्र, नेपाल की पंचायत-व्यवस्था में कोई अधिक सम्बन्ध नजर नहीं आता। वर्तमान भारत-पाक संघर्ष में यह स्पष्ट हो गया कि तानाशाही और प्रजातन्त्रात्मक आदर्श साथ मिलकर नहीं रह सकते। एक दूसरे में आग व फूस का सा बैर है। इस युद्ध में भारतीय जवानों ने प्रजातन्त्र व धर्म-निरपेक्षतावादी अपने आदर्शों की रक्षा के लिए कुर्बानियां की। युद्ध के दौरान डा० राधाकृष्णन् ने कहा था कि हमारा युद्ध प्रजातन्त्र व धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्तों के लिये है। हमारी विजय पर ही 'एशिया में प्रजातन्त्र का भविष्य' निर्भर करता है। नेपाल में लोकतंत्र की स्थापना के लिये भारत की ओर से काफी प्रयास किया गया किन्तु कुछ तत्वों के अनुसार इसका यह अर्थ लगाया गया कि भारत नेपाल पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है।

(५) विदेशनीति में भिन्नता—इस क्षेत्र के सभी देशवासी एक प्रकार की विदेश नीति का अनुसरण नहीं करते हैं। कई स्थानों पर इनकी विदेश-नीतियां आपस में टकराती भी नजर आती हैं। पाकिस्तान ने प्रारम्भ में ही तटस्थता की नीति का परित्याग कर दिया था। पाकिस्तान की विदेश नीति के दो प्रमुख लक्ष्य प्रारम्भ से ही रहे हैं। (१) कश्मीर प्रश्न पर भारत को झुकने के लिये बाध्य करना और कश्मीर को भारत से विलग कर पाकिस्तान में मिलाना। (२) समस्त इस्लामी जगत का नेतृत्व करना। ये दोनों लक्ष्य सीधे भारत की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं तथा दोनों देशों के बीच संघर्ष, मनमुटाव और यहां तक कि युद्ध का भी कारण बन गए हैं। नेपाल की विदेश नीति जैसा कि १९६२ में उस पर प्रकाश डालते हुए तत्कालीन आचार्य ने बताया था, साम्यवादी चीन रूस की नीति को अपना आदर्श मान कर चली। कहने को तो भारत को यह विश्वास दिलाया गया कि नेपाल विश्वशान्ति और साम्राज्यवाद विरोधी भारत की नीति पर इसके चरण चिन्हों का अनुसरण करने को तैयार है किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया। नेपाल और बर्मा ने साम्यवादी चीन के साथ सीमा-सम्बन्धी सन्धियां की। इन सन्धियों से चीन का उद्देश्य कुछ और अधिक प्रदेश प्राप्त करना न होकर भारत को सीधी चुनौती देना था क्योंकि एशिया के वास्तविक पट पर लोकतन्त्रात्मक भारत की उपस्थिति चीन के एशिया का नेतृत्व करने के स्वप्न को पूरा करने में बाधक थी। लंका में साम्यवादी काफी संख्या में मौजूद हैं और समय समय पर सरकार को नई समस्याओं में उलझाने का प्रयास करते रहते हैं। तमिल सिंहली संघर्ष और भारतीय प्रवासियों की समस्या के कारण भारत व लंका के बीच कटुता के भाव हैं। अफगानिस्तान और भारत की विदेश नीति असंलग्नता की नीति है। ये देश किसी गुट या देश विशेष के साथ अपने आपको बांधना नहीं चाहते। साम्यवादी रूस का सबसे निकटवर्ती पड़ोसी राष्ट्र होते हुए भी अफगानिस्तान के राष्ट्र ने साम्यवाद विरोधी प्रतिरक्षात्मक सन्धियों में शामिल होने से मना कर दिया। भारत भी इन सन्धियों का आरम्भ से ही विरोध करता रहा है। इन देशों

की यह नीति पाकिस्तान से जो कि सीएटो तथा सेन्टो का सक्रिय सदस्य है, भिन्न है। बर्मा भी तटस्थ नीति का अनुसरण करता हुआ साम्यवादी व गैर-साम्यवादी दोनों ही गुटों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास कर रहा है। इस भिन्नता के रहते हुये यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि कोई क्षेत्रीय संगठन की स्थापना हो जायेगी।

अन्य समस्यायें—यूरोप और लैटिन अमरीका की भांति दक्षिणी एशिया का क्षेत्र निर्धारित नहीं है। क्षेत्रीय एकीकरण की दिशा में कौन से प्रयास किए जाने चाहिए। क्षेत्रीय जनता के सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीय जीवन में कोई समानता नहीं है। इन देशों में परम्परागत मूल्य तथा अन्य स्वामि भक्तियों के अनुसार भी परस्पर निकटता की अभिवृद्धि नहीं होती। इस क्षेत्र में वर्तमान बौद्धिक वर्ग की श्रद्धा भी एकीकरण की ओर नहीं है। योरप की भांति एशिया के देशों का आकार एक सा नहीं है। इस क्षेत्र में कोई देश इतना शक्तिशाली व समर्थ नहीं है कि जो अपनी आर्थिक शक्ति व सैनिक सामर्थ्य को क्षेत्रीय संघ के निर्माण में प्रयुक्त कर सके। यदि इस क्षेत्र के सभी देश मिल जायें तो भी किसी बड़ी शक्ति के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहेंगे। इस क्षेत्र के देशों में संचार के साधन अधिक सक्रिय नहीं हैं। राजनैतिक दल एवं प्रभावशाली समुदायों के बीच अधिक सम्बन्ध नहीं है। विभिन्न राष्ट्रों के बुद्धिजीवी वर्ग में व्यावहारिक दृष्टि से समस्याओं पर विचार विनिमय नहीं होता। राजनैतिक व्यवस्था, मूल्य और विचारों की दृष्टि से इस क्षेत्र के देशों में पर्याप्त भिन्नता वर्तमान है। आर्थिक व सामाजिक आदर्शों में भी उतना ही अन्तर है। विदेशनीति के क्षेत्र में असंलग्नता, संलग्नता और साम्यवादी-तीनों ही नीतियों में विश्वास करने वाले देश इस क्षेत्र में स्थित हैं। असंलग्नता में विश्वास रखने वाले देशों के विचारों में भी एकता नहीं है। राष्ट्रों के बीच परस्पर काफी संघर्ष के तत्व वर्तमान हैं। क्षेत्रीय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि इस क्षेत्र के अधिकांश राज्य हाल ही में राष्ट्र राज्य के रूप में उदित हुए हैं। इस स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि राष्ट्र भक्ति के स्थान पर ये देश क्षेत्र भक्ति विकसित कर सकें। आर्थिक क्षेत्र में क्षेत्रीय एकीकरण से होने वाले लाभों के प्रति छोटे देश समान रूप से जागरूक नहीं हैं। छोटे देशों को डर है कि कहीं बड़े देशों की प्रभुता स्थापित न हो जाये। इन देशों की आर्थिक स्थिति सहयोगी न होकर प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण है। नाथनियल पेफर का यह मत है कि विश्व राजनीति में एक प्रभावशील इकाई के रूप में दक्षिण-पूर्वी एशिया नाम की कोई चीज नहीं है। यह तो भूगोल के उस स्थान पर स्थित है जहां कुछ समुदाय थोड़ी बहुत समानतायें रखते हुए पास-पास रह रहे हैं।[1]

---

1. "In short South East Asia is not a region that can be conceived as an effective entity in world politics. It is a place in the globe where certain groups of peop e, holding little in common, live contiguous to one another"

—Nathaniel Peffer, "Regional Security in South East Asia", International Organisation, Aug 1954.

क्षेत्रीय संगठन पर प्रभाव डालने वाले तत्व—अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अनेक ऐसी घटनायें घटी व परिवर्तन हुए जिन्होंने क्षेत्रीय एकीकरण की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों को प्रभावित किया। साम्यवादी चीन का एशिया की एक बड़ी शक्ति के रूप में उदय ऐसा ही एक तत्व है। कोई भी क्षेत्रीय संगठन बनाते समय, मुख्य प्रश्न यह आने लगा कि क्या चीन को उसमें सम्मिलित किया जाय? यदि नहीं, तो एक बड़ी शक्ति के विरोध का भय था और यदि हाँ तो उसके प्रसार करने का भय था। चीन के उदय ने इन क्षेत्रीय संगठनों के रूप को आर्थिक व सांस्कृतिक के स्थान पर सैनिक बना दिया। यह रूप भारत की रुचि के अनुकूल न था। चीन ने एशिया में अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ कर दिया। एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेंस में ही चीन ने भारत के साथ शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ कर दी।[1] एशिया एवं अफ्रीका में अपना प्रभुत्व जमाने की दृष्टि से ही चीन ने भारत पर १९६२ में आक्रमण किया। चीन ने पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध भड़का कर इसकी शक्ति का संतुलन करना चाहा। दक्षिण एशिया के देशों के हितों में चीन का एक दूसरा ही हित उभरा तथा वे साम्यवादिता के निकट आये। चीन से सांठ गांठ कर कश्मीर को हस्तगत करने का पाकिस्तान को अच्छा अवसर मिला। उसने घुसपैठिये भेज कर काश्मीर में विद्रोह कराने का असफल प्रयास किया और बाद में सशस्त्र आक्रमण कर दिया। पाकिस्तान के आक्रमण के समय दक्षिण एशिया के देशों का जो रुख रहा उसने क्षेत्रीय संगठन की रही-सही सम्भावनाओं पर भी कुठाराघात कर दिया। पाकिस्तान ने भूमि-समझौता करके भारत की विशाल भूमि-राशि को चीन को सौंप दी है। भारत-पाक संघर्ष में भी चीन ने भारत का आक्रान्ता प्रचार कर पाक के प्रति जो सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया उसने भारत के दिल में पाकिस्तान के प्रति रहे-सहे सन्देह को भी साफ कर दिया।

दक्षिण-एशिया क्षेत्रीय संगठन के विकल्प—दक्षिण एशिया क्षेत्रीय एकीकरण के मार्ग की बाधाओं को देखकर अनेक लेखकों द्वारा यह सुझाव दिया जाता है कि भारत-पाक का एक संघ बना दिया जाय। इस उपमहाद्वीप की जनता निश्चय ही रक्षा और विकास की दिशा में अग्रसर होगी। यद्यपि इस संघ के निर्माण के मार्ग में भी अनेकों बाधायें हैं किन्तु इससे होने वाले लाभ भी महत्वपूर्ण हैं। पाकिस्तान इस संघ से बहुत लाभान्वित हो सकेगा। पूर्वी एवं पश्चिमी पाकिस्तान के बीच समुचित सम्पर्क स्थापित करने के लिए भारत के सहयोग की भारी आवश्यकता है। भारत-पाक संघ के समर्थकों का तर्क है कि जाति, संस्कृति, भाषा, इतिहास, पारस्परिक निर्भरता, संचार-साधन, आर्थिक व सैनिक सहायता पर निर्भरता आदि बातों में समानता जितनी भारत व पाकिस्तान में पाई

---

1. "The Chinese had no wish to be tied to an organisation in which India was predominant. Their tactics at the Conference was to keep India's status within bounds. No more did the Indians wish to surrender any power to the Chinese."

—Levi, Warner, Free India in Asia, P. 39

जाती है उतनी इस क्षेत्र के किन्हीं दो देशों में नहीं पाई जाती। सदियों तक दोनों ही देशों का इतिहास एक इकाई के रूप में समान स्तरों पर प्रवाहित हुआ है। देश के विभाजन द्वारा साम्प्रदायिक समस्या को न सुलझाया जा सका और न ही इस क्षेत्र में स्थिरता की प्रतिष्ठापना की जा सकी।

भारत-पाक संघ के महत्व पर वे दोनों ही देश सहमत थे किन्तु इस संघ के रूप, व्यवहार आधार आदि के बारे में मतैक्य नहीं रह सका। पाकिस्तान की वर्तमान विदेश एवं स्वदेश नीतियों के रहते हुए इस संघ के जन्म के कोई आसार नजर नहीं आते। यद्यपि भारत-पाक युद्ध के वर्तमान बवण्डर को रोकने के लिए संघ निर्माण कर बाढ़ लगाने का सुझाव देने वालों की अब भी कमी नहीं है किन्तु इसको लगाने का साहस किसी के पास नहीं है। एक साधन पाकिस्तान ने सोचा था। काश्मीर में विद्रोह कराके सर्वप्रथम उस पर अधिकृत किया जाय। बाद में क्रमशः एक के बाद एक भारतीय इलाके को अपने हाथ में ले लेने के बाद दिल्ली के लाल किले से तिरंगे की चाँद सितारा की छाप दे दी जाय। इस मार्ग से पाकिस्तान भारत को मिटा कर पूरे उपमहाद्वीप पर मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना चाहता था जैसा कि अतीत में उसके पुरखे भी कर चुके थे। पाक की यह चाल सफल न हो सकी। अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन करने, भारत विरोधी आन्दोलन चलाने, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में सांठगांठ करने के अतिरिक्त वह कुछ भी न कर पाया। धर्मान्धता और तानाशाही वे पाकिस्तानी नौका की दो पतवार हैं जो अधिक समय तक विश्व-सागर में उसे स्थिर रखने में असमर्थ हैं, किनारे पर पहुँचने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

वास्तविकता तो यह है कि भारत-पाक संघ भी सम्भव नहीं है। इसके मार्ग में वे सभी कठिनाइयां हैं जिनका दक्षिण-एशिया एकीकरण के प्रसंग में हम जान चुके हैं। इसके अतिरिक्त भारत देश विभाजन को १८ वर्ष का लम्बा समय बीत चुका है। इस बीच दोनों देशों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं अन्य स्थितियों में बहुत अन्तर आ गया है। अनेक क्षेत्रों में यह समझा जाता है कि भारत-पाक को मिलाने का यदि कोई प्रयास किया गया तो इसका परिणाम होगा असफल इच्छाओं की पुनरावृत्ति।[1]

पाकिस्तान के अतिरिक्त एक दूसरा छोटा क्षेत्र दक्षिण एशिया में है जिसके बारे में क्षेत्रीय एकीकरण के सुझाव दिये जाते हैं। कहा जाता है कि हिमालय के निकटवर्ती भाग नेपाल भूटान और सिक्किम एक परिसंघ के रूप में अपना अलग संगठन करें।

1. Any attempt to reintegrate India and Pakistan might regenerate the kind of politics in the subcontinent which had led to man violence and a collapse of sophisticated politics."—Sisir Gupta, India and Regional Integration in Asia, 1964, P. 109.

इस परिषद को हिरोशिमा की भाँति प्रदान की जाती है। इन देशों के बीच यद्यपि अनेक प्रकार के अन्तर वर्तमान हैं जो भी इनको समान रूप से एक सी समस्याओं का सामना करना है. विकास मार्ग की कठिनाइयाँ सबके सम्मुख एक ही प्रकार की हैं। सभी देशों को अभी एक सुसंगठित राज्य-व्यवस्था की स्थापना करनी है। चीन ने भारत पर जब १९६२ में आक्रमण किया तो इस प्रकार के एकीकरण की माँग ने काफी जोर पकड़ा था। अनेक दिशाओं से ये विचार भी व्यक्त किये गये कि इस क्षेत्र के देशों को अपने आपको स्विटजरलैण्ड के अनुरूप ढाल लेना चाहिए क्योंकि इन देशों की बहुत सी बातें स्विटजरलैंड से समानता रखती हैं। किन्तु फिर भी अनेक तत्त्व ऐसे भी हैं जो कि इस क्षेत्र के देशों की तटस्थता को असम्भव बना देते हैं। जब भारत और चीन का हिमालय की सीमाओं पर सशस्त्र युद्ध हो रहा हो तो कैसे ये देश अपने आपको तटस्थ बनाये रखेंगे और उनकी तटस्थता की परवाह करेगा।

दक्षिण एशिया संघीय-एकीकरण के अध्ययन से कुछ निष्कर्ष—दक्षिण एशिया के देशों का संघीय एकीकरण करने का जो विचार है तथा इस विचार की उत्पत्ति के हेतु जो प्रयास किये गये हैं वे हमने देखे। साथ ही इस प्रकार के एकीकरण के मार्ग की बाधाओं को भी हमने परिलक्षित किया। संघीय एकीकरण के इस विचार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसको कोई भी इकाई इस संगठन की स्थापना के लिए अपने पूर्ण उत्साह से कार्य करने को तैयार नहीं है। भारत, पाकिस्तान, बर्मा, नेपाल, अफगानिस्तान व अन्य किसी भी देश का जनमत अथवा सरकार इस एकीकरण को यथोचित महत्त्व प्रदान नहीं करती। प्रत्येक देश के ऐसा करने के अपने-अपने कारण तथा अपनी-अपनी समस्यायें हैं। इस विषय पर अपने विचारों को भाग को बाधित करने से पूर्व यह उपयुक्त होगा कि इस अध्ययन से जो सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत होते हैं उनको भी संक्षेप से चित्रित कर दिया जाय। वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) संघीय-एकीकरण अव्यावहारिक है—दक्षिण एशिया क्षेत्र के देशों में स्थित असमानता, वैमनस्य, संघर्ष, संदेह एवं राजनैतिक अन्तरों के रहते हुए यह संभव प्रतीत नहीं होता कि इस प्रकार का कोई संगठन बन सकता है। यदि ऐसा संगठन बन भी गया तो व्यावहारिक रूप से अधिक समय तक वह स्थिर नहीं रह सकता। जैसा कि ... का विचार है कि इस संगठन के विरोधी कितने ही बौद्धिक एवं धार्मिक तत्त्व हैं किन्तु सबसे प्रमुख है इकाइयों के बीच का सन्देह। छोटे देशों को भय है कि संघीय एकीकरण में वे सदस्यता से स्वतन्त्र सौदा करने की शक्ति को भी देंगे तथा एक तीसरी इकाई उनके बीच में आ जायगी। उनका स्वयं का राष्ट्रीय हित संघीय हित के अधीन हो जायगा। ये सब बातें योरोपीय राष्ट्रों के लिए ठीक हो सकती हैं जहाँ विकसित अर्थव्यवस्था कायम है किन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिए यह अनावश्यक सिद्ध होगी। संघीयता एक प्रकार का शौक (Luxury) है जिसे ये देश नहीं निभा सकते। जिन्ना साहब ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि एशियावासी

चाहते हैं कि वस्तुस्थिति ज्यों की त्यों बनी रहे ।[1]

क्षेत्रीयता की पूर्व आवश्यकताएं होती हैं जैसे कि इकाइयों का एक सा राष्ट्रीय दृष्टिकोण, साधनों की कमी तथा बाजारों का अभाव आदि ये पूर्व आवश्यकताएं दक्षिण एशिया क्षेत्र पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होती और इसलिए क्षेत्रीय एकीकरण एक अव्यावहारिक कल्पना है जो कुछ महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए की गई है किन्तु निराधार है ।

(२) **सरकार का विरोधी**—किसी भी प्रकार का क्षेत्रीय संगठन हो, वह निश्चय ही विश्व सरकार के मार्ग में एक बाधा का कार्य करेगा । क्षेत्रीय संगठन की इकाइयों के सामने विश्व की अपेक्षा उनके अपने क्षेत्र का हित प्रधान रहेगा और इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना के जो दुष्परिणाम गिनाये जाते हैं वे सभी इस क्षेत्रीय एकीकरण की योजना पर भी उतने ही वरन् उससे गम्भीर रूप में लागू होते हैं । जी० डी० एच० कोल तथा वाल्टर लिपमैन ने इस प्रकार के क्षेत्रीय संगठनों को विश्व सरकार की दिशा में ही एक अगला कदम माना है किन्तु नेहरू ने इस प्रकार के विचारों को मूर्खों का प्रलाप स्वीकार किया उनका विचार था कि जब तक कि शक्तिशाली विश्व संघ द्वारा ये क्षेत्रीय संगठन एकीकृत न हों वे इस विचार का समर्थन नहीं कर सकते । उनके मतानुसार स्थानीय स्वायत्तता से पूर्ण इस प्रकार के बड़े राज्यों का निर्माण करके विश्व की एकता व विश्व संगठन की सम्भावना को मिटाना एक मूर्खता पूर्ण कार्य है ।[2]

(३) **मानवता के विरुद्ध**—दक्षिण एशिया का क्षेत्रीय एकीकरण कुछ विचारकों के मतानुसार मानवता के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा । आज के अणु-युग में मनुष्य को शान्ति की आवश्यकता है । वह युद्ध की विभीषिकाओं से बचकर सभ्यता व संस्कृति का नाम निशान मिटा देने वाली प्रवृत्तियों से बच कर भाईचारे, सह-अस्तित्व, सहयोग और शान्ति से जीवन यापन करने की राह में है । इसीलिये समय की आवश्यकता के अनुसार मानवता विश्व सरकार की आकांक्षा करती है । किसी भी प्रकार का क्षेत्रीय

---

1. "The Asia Conference showed that Asia would rather have *things go on* as they are then try any of those new fangled regional ideas"

—New York Times, 13 and 14 May, 1955

2. "For my past, I have no liking for a division of the world into a few huge supranational areas unless those are tied together by some strong world bond. But if the people are foolish enough to avoid world unity and some world organisation, each functioning as one huge state but with local autonomy, are very likely to take shape."

—J. S. Bright (ed.), Before and After Independence, New Delhi. 1950, P. 279.

[illegible] इन [illegible] में एक [illegible] है। [illegible] हो सकता है कि [illegible] में [illegible], किन्तु [illegible] नहीं है [illegible] साथ [illegible] होगा। [illegible] होगा [illegible] हो जायेगी।

(४) [illegible]—[illegible] सरकार [illegible] माना जा सकता है। [illegible] है व निरर्थक है। [illegible] भारत में [illegible] सिद्ध कर [illegible] है। भारत का विचार था कि [illegible] में [illegible] नहीं होता है। एशिया और अफ्रीका [illegible] देना अनुपयुक्त माना जाना।[2]

SELECT READINGS

1. Bright, J S (Ed) Before and after independence (Collection of Nehru's speeches, 1922-50) New Delhi 1950
2. Jawahar Lal Nehru s Speeches 1946—9, 1949-53
3. Levi Werner Free India in Asia 1953
4. Nehru, The discovery of India, 1946
5. Gupta, Sisir—India and Regional integration in Asia, 1964
6. Verma, S.P —Struggle for the Himalayas, 1954
7. Henderson, William— Regionalism in South East Asia International organisation, Nov 1955
8. Levi, Werner, "Union in Asia", Far Eastern Survey 16th Aug, 1950
9. Lokanathan P S., "Regional Economic Co-operation in Asia" India quarterly Jan March 1951
10. Milton, W.M — Regionalism in South East Asia" Journal of International Affairs, Nov 3 1949
11. Padelford Norman J — Regional organisation and the United Nations"—International organisation May, 1954
12. Panikkar, K. M —"Regional organisation of the Indian Ocean Area Pacific Affairs, Sep 1945
13. Venkata Subbiah H.—"Prospects of an Asian Union, India quarterly April June and July Sep 1949
14. Venkata Subbiah H —"Political Alignments of Asian countries, India quarterly, July Sep 1951

1 "The Govt. of India however took the stand that there was no particular value in a geographical concept the need for Asia and Africa was co-operation with also the other countries of the world and no need to stress their common problems."
—Sisir Gupta, India and Regional integration in Asia, P 6?.

२८

भारत में राजकीय राजनीति

(STATE POLITICS IN INDIA)

•

रमेश अरोड़ा

•

भारतीय संविधान को साधारणतया एक अर्धसंघात्मक (Quasi federal) संविधान की संज्ञा दी जाती है। परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण यद्यपि भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त किये आज १८ वर्ष तथा भारतीय संविधान को स्वीकृत हुये आज १५ वर्ष पूरे हो चुके हैं किन्तु उसकी संघीय प्रकृति के विषय में कोई निश्चित मत दिया जाना कठिन है। वास्तव में क्षेत्रफल में विशाल भारत संयुक्त राज्य अमेरिका की भांति नाना विविधताओं से परिपूर्ण एक राष्ट्र है। महान् भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजिक विभिन्नताओं के होते हुए भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही भारत में एक राजनैतिक एकता एवं स्थिरता का एक नूतन अभ्युदय हुआ है जिसकी समानता एशिया और अफ्रीका के अन्य अनेक नवजाग्रत राष्ट्रों में सरलता से उपलब्ध नहीं होती, जबकि विविधता में एकता (Unity in Diversity) का समन्वयवादी सिद्धान्त भारतीय सांस्कृतिक ढांचे की एक विशेषता है। उसकी वैसी ही एक स्पष्ट प्रतिछाया भारत की राजनीति प्रस्तुत करती है, विशेषकर वह राजनीति जिसे आधुनिक राजनीतिशास्त्री 'राज्यस्तरीय राजनीति' (State Politics) कहते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही केन्द्रीय सरकार के राज्य मन्त्रालय (Ministry of States) ने लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के कुशल नेतृत्व में भारत की ५८४ देशी रियासतों के एकीकरण का प्रश्न हाथ में लिया और संविधान के अनुसार ६ क राज्य (A States), ८ ख राज्य (B States) और १० ग राज्य (C States) बने। तुरन्त ही इस सूची का संशोधन किया गया। 'यूनाइटेड प्रोविन्सेज' (United Provinces) का नाम बदल कर 'उत्तर प्रदेश' रख दिया गया। 'कूच बिहार' के स्थान पर 'विन्ध्य प्रदेश' को 'ग' श्रेणी में रखा गया और 'अन्दमान निकोबार' द्वीपों को 'द' श्रेणी (D States) में स्थान दिया गया। इन राज्यों की कुल संख्या उस समय बढ़ कर २८ पर पहुँच गई जबकि तत्कालीन मद्रास राज्य के उत्तरी भाग को काटकर सन् १९५३ में प्रथम भाषाई राज्य का निर्माण किया गया।

राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganisation Commission) की सिफारिशों के अनुसार १९५६ में भारतीय संविधान में सातवां संशोधन पारित हुआ

और तदनुसार १ नवम्बर १९५६ से भारत का मानचित्र मौलिक रूप से नया बनकर सामने आया। राज्यों की 'अ' 'ब' 'स' श्रेणियों को समाप्त कर समान स्तर के १४ नये राज्यों की स्थापना की गई। यह पुनर्गठन मुख्यतः भाषाई राज्यों की स्थापना लिये भारत के विभिन्न भागों में चल रहे आन्दोलनों के फलस्वरूप प्रभाव में लाया गया। इसका अपवाद केवल बम्बई तथा पंजाब ही थे। परन्तु १ मई, १९६० को गुजराती भाषी एवं मराठी भाषी जनता के आपसी विवादों और हिंसक आन्दोलनों के दबाव में आकर बम्बई राज्य के दो भाग (महाराष्ट्र व गुजरात) कर दिए गये। बाद में १ दिसम्बर, १९६३ को नागालैंड के पृथक राज्य के रूप में बन जाने से भारत में राज्यों की संख्या १६ हो गई है। वर्तमान भारत में इन राज्यों के अतिरिक्त दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुरी, त्रिपुरा, पांडिचेरी, गोवा, दमन व डीव, अंडेमान निकोबार द्वीप, लैकेदीव, मिनिकाय तथा अमीनदिवी द्वीप तथा दादरा व नगर हवेली (कुल ९) केन्द्र प्रशासित प्रदेश हैं।

भारतीय संघ में राज्यों का अपना स्थान है, किन्तु केन्द्र की सत्ता और महत्व निर्विवाद है। संवैधानिक दृष्टि से भारत एक संघ है यद्यपि संघ राज्य की परम्परागत संघीय प्रकृति को परिवर्तित एवं संशोधित करने वाली अनेक व्यवस्थाएँ भी इसमें रखी गई हैं।[1] प्रोफेसर व्हीयर (Wheare) ने भारत को एक ऐसे एकात्मक राज्यों की श्रेणी में रखा है जिसमें संघात्मक राज्य के गौण तत्व भी विद्यमान हैं।[2]

किसी भी संघ में अधिकतर संवैधानिक प्रश्न केन्द्र व उसकी इकाइयों के सम्बंध, कर्तव्य एवं अधिकारों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होते हैं। आधुनिक संविधानों के अन्तर्गत प्रायः सभी संघों में केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां विद्यमान होती हैं। भारत में भी केन्द्रीय सरकार को सुनियोजित रूप से कितने ही अधिकार दिए गए हैं, और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के १५ वर्षों में इन अधिकारों का उपयोग भी किया गया है।

सुप्रसिद्ध अमेरिकी राजनीति शास्त्री नार्मन डी० पामर के अनुसार, "भारत एक वैधानिक संघ की अपेक्षा एक प्रशासनिक संघ का उदाहरण है जिसे ऊपर से थोपा गया है न कि नीचे से।"[3] वास्तव में भारत का नया संविधान सन् १९३५ के भारतीय

1. "The Republic of India is a federation, although it has many distinctive features which seem to modify the essentially federal nature of the State."—Palmer, Norman D.: The Indian Political System P. 94.

2. Prof Kenneth Wheare classified India as "a unitary state with subsidiary federal principles rather than a federal state with subsidiary unitary principles."- Quoted in Alan Gledhill, "The Republic of India," P. 92.

3. "India is an example of administrative rather than contractual federation. It was imposed from above, not from below." Palmer—Indian Political System, P. 95.

अधिनियम (Government of India Act, 1935) पर ही काफी सीमा तक आधारित है। इस कानून के निर्माता हमारे पूर्वशासक अंग्रेज थे न कि भारतीय। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की परम्परा इसी अधिनियम के अन्तर्गत डाली गई। १९५० का भारतीय संविधान केन्द्र को अत्यधिक शक्ति देता है परन्तु केवल इसी एक कारण से किन्हीं सरकार की शक्ति बढ़ी हो ऐसी बात नहीं। १८ वर्षों की स्वतन्त्रता के अनुभवों ने इस प्रवृत्ति को पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है। प्रधान मन्त्री नेहरू के विशाल व्यक्तित्व सारा प्रभाव एवं कांग्रेस दल का लगभग सभी राज्यों में सुदृढ़ होने के फलस्वरूप केन्द्र की शक्ति में निश्चित रूप से आशातीत वृद्धि हुई है। एक नेता तथा एक दल की छत्रछाया में भारतीय संघ सहज रूप से ही केन्द्र को पर्याप्त शक्ति प्रदान करने में समर्थ हो सका है। इसके साथ ही आर्थिक नियोजन, समाज सुधार, वित्तीय प्रशासन, रक्षा, विदेशनीति, यातायात तथा अन्य अनेक स्पष्ट प्रभाव के फलस्वरूप केन्द्र की बढ़ती हुई शक्ति और भी बढ़ी है। इन सभी महत्वपूर्ण कारणों में से एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह रहा है कि राज्यों को अपने आर्थिक साधनों की प्राप्ति के बहुत बड़े भाग के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है।

केन्द्रीकरण के इन सब तत्वों के सक्रिय रहने के पश्चात् भी भारत में विकेन्द्री करण की शक्तियाँ भी कम शक्तिशाली नहीं रही है। प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान पाल एपलबी भारतीय प्रशासन का अध्ययन करते समय इस बात पर अत्यधिक आश्चर्यचकित हुए थे कि भारत में एक केन्द्र को राष्ट्रीय योजनाओं की क्रियान्विति के लिये राज्यों पर कितना अधिक निर्भर रहना पड़ता है तथा नीति एवं प्रशासन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में केन्द्र राज्यों की तुलना में कितनी कम वास्तविक शक्ति रखता है।[1] अपने मत की पुष्टि करते हुये डा० एपलबी ने लिखा है कि भारतीय राज्यों में क्षेत्रीय दल की ... शक्तियों के गढ़ बढ़ते जा रहे हैं और प्रान्तीयता, प्रादेशिकता तथा भाषा वाद आदि शक्तियाँ जड़ें पकड़ रही हैं जिनके आन्दोलनों से राष्ट्र की एकता व अस्तित्व को संकट है। वास्तव में भारतीय संघ की महत्वपूर्ण समस्यायें जैसा कि बेंजामिन शोनफैल्ड ने कहा है कि एक ओर तो वह सुदृढ़ केन्द्र है जो कि देश की राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं को सुलझा सके किन्तु दूसरी ओर प्रादेशिकता से उत्पन्न वे संघर्ष हैं जिनसे सारा राष्ट्र गम्भीर रूप से ग्रस्त है।[2]

---

1. Paul H. Appelby, 'Public Administration in India — Report of a Survey' (1953) pp. 16-17.

2. "The problems which Indian federation faces stem from the needs of her people to have a central Government armed with sufficient powers needed to solve modern economic and political problems on one hand and the strong sentiments of regionalism found throughout the land." Benjamin N. Schoenfeld—Federalism in India (1960) p. 21.

वास्तव में देखा जाय तो भारत में केन्द्र और राज्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। जहाँ एक ओर नीति निर्धारण में केन्द्र की शक्ति अधिक है वहाँ राज्य भी नीतियों के क्रियान्वयन में अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग काफी सीमा तक करते हैं। आयोजन में यद्यपि केन्द्र ही योजनायें बनाता है, परन्तु आयोजन की सफलता राज्यों पर निर्भर करती है। यह सत्य है कि काँग्रेस दल का सारे राज्यों तथा केन्द्र पर पूर्ण आधिपत्य है, किन्तु इस राष्ट्रीय दल के अन्दर भी सभी राज्यों का पूर्ण प्रतिनिधित्व है और इस कारण ऐसा बहुत कम होता है कि काँग्रेस की राष्ट्रीय नीतियों पर प्रादेशिक स्थितियों का प्रभाव न पड़े। वस्तुस्थिति तो काँग्रेस को सभी नीतियों की क्रियान्विति के लिए राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। जहाँ कि वर्तमान राजनीति गुटबन्दी और व्यक्तिगत विरोधों से परिपूर्ण है, क्योंकि भारतीय संघ में केन्द्र सर्वशक्तिशाली है, यद्यपि यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि राज्य निर्बल हैं अथवा भविष्य में दुर्बल रहेंगे।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारतीय राजनीति पर भारतीय इतिहास, भूगोल, अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक स्थितियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। शताब्दियों तक भारतीय इतिहास में एकता के दर्शन नहीं होते थे। वास्तव में हिन्दूकुश के अनन्तर जिस समय से विदेशियों ने भारतीय भूमि पर कदम रखना शुरू किया भारतीय जीवन की विविधता के साथ साथ देश के सांस्कृतिक जीवन में प्रादेशिक वैमनस्य का नया अध्याय आरम्भ हुआ था। आश्चर्य की बात तो यह कि विदेशी शक्तियों की नीति भी विभाजन की थी, फलतः भी भारत के स्वतन्त्र न हो सकी। विदेशी शासकों ने भारतवासियों पर जो दमन किया उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारत के विभिन्न भागों में प्रादेशिक स्तर पर विद्रोह हुए। फलस्वरूप महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, राजस्थान आदि प्रदेशों ने विशिष्ट महत्व प्राप्त किया। इन प्रदेशों में अपनी संस्कृति, इतिहास, भूगोल तथा महापुरुषों के प्रति श्रद्धा जागी। आज तक समय में इसे संकीर्णता कहा जा सकता है, परन्तु प्रादेशिक भावना का उदय, उस समय जब कि भारत की 'सम्पूर्णता' की परिकल्पना नहीं थी, संकीर्णता नहीं कहा जा सकता। समस्त देश मध्ययुग में छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटा हुआ था और 'भारतीयता' की राष्ट्रीय भावना का पूर्ण विकास न हो पाया था। उत्तर व दक्षिण से बहुत पहले से अपने सम्पर्क नाते टूट चुके थे। अंग्रेजी शासन के मापदंडों, प्रशासन की प्रचलित भाषा, राजनैतिक विभाजनवाद जैसे अनेक कारणों के कारण से भी भारतीय राष्ट्र के विभिन्न भागों में प्रादेशिक भावनाएँ और उभरने लगी थीं।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात, इन प्रदेशों ने अपने अपने भूगोल, खान-पान, संस्कृति, भाषा, धर्म और साहित्य तक से सम्बन्धित राज्य और गौरवपूर्ण समय देखना चाहा। वे सर्व तत्र अपना प्रभाव अधिक स्थापित करने चाहते थे। पुनर्जागृति (Renaissance) व स्वाधीनता संग्राम के कारण भारत का यह विभु सम्मिलित हो गया, जाग्रति होने लगी और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यों के पुनर्गठन व पुनर्निर्माण द्वारा इस प्रवृत्ति में संकीर्णता की भावना उठने लगी। राजनैतिक एकता के

प्राप्त करने के उपरान्त भारत के पश्चात भारत में वास्तविक राष्ट्रीय एकता पुनः स्थापित हो गयी है किन्तु यह सत्य है कि प्रान्तीय जनसंख्या जिन मनोवृत्तियों का शिकार [illegible] हो गयी थी उसका [illegible] प्रान्तीय रूप में कुछ प्रभाव हुई है।

भारत की राज्यीय राजनीति (State Politics) का अध्ययन हमारी राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही करना चाहिए। राजनीति आज शक्ति का साधन एवं साध्य बन चुकी है। भारतीय राजनीति की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि [illegible] बहु विशिष्ट [illegible] जाता है तथा उसमें प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता प्रबल होती रहती है। राज्यीय राजनीति की [illegible] राज्य के [illegible] भिन्न की प्राप्त रही है। उसका [illegible] कुछ हद तक राज्य का [illegible] किया जाता है। भारतीय राजनीति [illegible] बदल दी जाती है उसमें प्रतिनिधित्व का प्रश्न [illegible] जाता है और इस प्रकार से [illegible] प्रतिनिधित्व [illegible] हो गया है।

भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग [illegible] है। यह निश्चित है कि भी [illegible] रूढ़ियों एवं परम्पराओं से [illegible] में बहुत अधिक [illegible] नहीं [illegible] है। इस कारण भारतीय जनता को राजनैतिक [illegible] के लिये भारतीय राजनैतिक नेताओं ने इस जनता की [illegible] भावनाओं को प्रभावित करने का अधिक प्रयास किया है। भारत के [illegible] राजनैतिक [illegible] ने अपनी शक्ति की वृद्धि [illegible] धनार्जन [illegible] में राष्ट्र की भावनात्मक एकता को भारी क्षति पहुँचाई है।

[illegible] राज्य में राजनैतिक दलों की बाहुल्यता है। [illegible] में [illegible] (केरल व [illegible]) [illegible] समाजवादी एवं [illegible] आदि दल प्रमुख हैं। [illegible] राज्यों में [illegible] हैं [illegible] यह सिद्ध करता है कि भारतीय राजनैतिक दल सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित न होकर व्यक्तियों के आधार पर निर्मित हैं। वास्तव में [illegible] भारत में [illegible] राजनैतिक दलों [illegible] पाया जाना वाला [illegible] मतभेद [illegible] है और उनमें [illegible] [illegible] भी [illegible] के [illegible] का कारण हुआ है।

[illegible] भारत के [illegible] भारतीय राज्य [illegible] कई समस्या भारत में [illegible] हो [illegible]। [illegible] का स्थान [illegible] भारतीय राज्य में [illegible] का [illegible] भारत [illegible] पूरी [illegible] और [illegible] है। [illegible] कई प्रसिद्ध [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] भावना [illegible] प्रभावित [illegible] परन्तु देश के जनमानस को [illegible] प्रभावित कर गया। [illegible] में [illegible] [illegible]। १९४७ में [illegible]

श्री नेहरू ने कहा था—"कांग्रेस दल निर्बल है और अधिक निर्बल बनता जा रहा है। हमारी शक्ति अब केवल भूतकाल है। यदि हम इस दलदल से नहीं निकले तो कांग्रेस दल समाप्त हो जाएगा।"[1] एक अन्य अवसर पर उन्होंने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था कि कांग्रेस दल के आदर व सम्मान का प्रमुख कारण यह रहा है कि नगर, जिले व प्रादेशिक स्तर पर कांग्रेस समितियां अकुशलता से कार्य कर रही हैं।[2]

वास्तव में गत कुछ वर्षों में प्रादेशिक व स्थानीय स्तर पर कांग्रेस का आदर कम हुआ है। इसके प्रमुख कारण हैं—कांग्रेस सदस्यों का अपने कर्तव्यों को न निभाना, जन साधारण व सेवा के कार्यों से विमुख रहना, आमोद व प्रमाद के जीवन में फँस जाना, जन-सम्पर्क का तिरस्कार, आपसी फूट, शक्ति के लिए दौड़-धूप तथा अनैतिक व भ्रष्ट जीवन यापन। वास्तविकता से मुँह मोड़ कर कांग्रेसी नेताओं ने अपनी हीनता को छुपाने के लिये आडम्बर का सहारा लिया परन्तु यह आडम्बर किसी भी प्रकार से इस जनता को सन्तुष्ट नहीं कर सका है क्योंकि अपने अधिकारों के लिये दिनों दिन सजग होती जा रही है। पारस्परिक द्वेष व ईर्ष्या के कारण कांग्रेस के नेताओं का ध्यान अपने वास्तविक कार्य से हट कर षड्यन्त्रों व गौण समस्याओं की ओर केन्द्रित हो गया है व इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस की शक्ति व संगठन का धीरे-धीरे विघटन हुआ है। राष्ट्र के सर्वोत्कर्ष के उत्तम वातावरण के साथ-साथ यद्यपि कुछ केन्द्रीय कांग्रेसी नेता आगे बढ़े भी हैं परन्तु उनकी सफलता स्थानीय व प्रादेशिक स्तरों तक नहीं उतर सकी है। सन् १९५७ के आम चुनावों में १९५१-५२ की अपेक्षा यद्यपि राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस दल की स्थिति सुधरी, परन्तु राज्य विधान सभाओं में इस दल को ७०० से भी अधिक सीटों से हाथ धोना पड़ा। १९५७ में प्रायः विभिन्न प्रान्तों के म्युनिसिपल चुनावों में भी कांग्रेस की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। मुख्य रूप से मध्यवर्ग व श्रमिक वर्ग इस दल के शुभचिन्तक नहीं रहे और नगरों में भी शिक्षित वर्ग ने इस दल को अपना समर्थन कम दिया। यह बात निश्चित है कि राज्यों में कांग्रेस की शक्ति का आधार राष्ट्र के शक्तिशाली कांग्रेसी नेता ही रहे। राज्यों की जनता ने अपने भ्रष्ट कांग्रेसी नेताओं की त्रुटियों को चुनावों के समय नेहरू के नाम पर भुला दिया, परन्तु ऐसा हर समय नहीं हुआ। १९६२ में मसानी, लोहिया एवं कृपलानी कांग्रेस के शक्तिशाली नेताओं को हरा कर लोकसभा के लिये निर्वाचित हुये थे। परन्तु यह भी सच है कि १९६२ के आम चुनावों में कांग्रेस के प्रमुख उम्मीदवारों ने लाखों मतों से दूसरों

1. "The Congress Party is weak and getting weaker...Our strong point is the past. Unless we get out of our present mud, the Congress Party is doomed".
2. "If the Congress was losing respect and regard in the eyes of the people and getting a bad name, it was because of the inefficient functioning of the Congress Committees at the city, district and provincial levels".

के उच्चकोटि के नेताओं को हरा दिया था। यह इस बात सिद्ध करता है कि दल एवं व्यक्तित्व में जहाँ पहले दल का महत्व अधिक था अब व्यक्तित्व का महत्व और भी अधिक हो गया है।

कांग्रेस दल की शक्ति सभी राज्यों में समान नहीं रही। केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा भूतपूर्व बम्बई प्रान्त, राजस्थान में इसने अनेक उतार चढ़ाव भी देखे हैं। इन उतार चढ़ावों से स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की शक्ति अब उसके ऐतिहासिक महत्व में नहीं छुपी हुई है वरन् उसकी सक्रियता एवं संगठन में केन्द्रित होती जा रही है। यह भी निश्चित है कि अच्छे संगठन का प्रभाव भी कांग्रेस की शक्ति पर पड़ा है। महाराष्ट्र व मद्रास में कांग्रेस की शुद्ध शक्ति का कारण इन राज्यों में अच्छा नेतृत्व व संगठन ही है। परन्तु जिन जिन राज्यों में कांग्रेस में गुटबाजी रही है, वहाँ दल की शक्ति कम हुई है व उसकी प्रतिष्ठा को भी धक्का लगा है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, मैसूर, केरल आदि राज्यों में इस दल को आन्तरिक फूट के जाल में संघर्ष करना पड़ा है। इस संघर्ष के जनता के समक्ष आने पर दल के प्रति जनता की श्रद्धा निश्चित रूप से कम हुई है। आन्तरिक गुटबन्दी के कारण प्रादेशिक नेता अपने मौलिक कर्तव्यों की ओर उचित ध्यान व आवश्यक समय नहीं दे पाते। शक्ति लिप्सा के इस दूषित चक्र में पूरा दल फँसा हुआ है और विरोधी के अहित के साथ-साथ इसके सदस्य अपने दल का भी अहित भी कर बैठते हैं। ऐसे उदाहरण कई बार आये हैं जबकि चुनाव में अपने ही दल के एक उम्मीदवार के विरुद्ध एक प्रमुख कांग्रेसी ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है। असन्तुष्ट कांग्रेसियों की एक नई जमात सारे देश में उत्पन्न हो गई है। इनकी शक्ति पूर्णरूप से जबकि विस्फोटक कार्यवाहियों में ही समाप्त हो जाती है तो दूसरी ओर 'सन्तुष्ट' कांग्रेसियों की शक्ति इनको दबाने में व इनसे सुरक्षित रहने में नष्ट हो जाती है। दुर्भाग्य का विषय तो यह है कि राष्ट्रीय स्तर के प्रतिष्ठित कांग्रेसी भी पर्दे के पीछे इन छोटे सदस्यों को उकसाते रहते हैं और इसी कारण से कांग्रेस का केन्द्रीय उच्च कमान भी इन विरोधों का उन्मूलन करने में आज तक असमर्थ रहा है। दोनों गुटों के पीछे सत्ता की शक्ति रहती है व किसी को भी असफल करने का अर्थ दल की शक्ति को घटाना बन जाता है। दल के अन्दर ही 'विद्रोह' की स्थिति पंजाब व केरल में यहाँ तक पहुँच चुकी है कि इन दो राज्यों में 'छाया' (Shadow) कांग्रेस दल बन गये हैं और केरल राज्य में नवीनतम कांग्रेसी हार का कारण भी कांग्रेस की इसी आन्तरिक फूट में ढूँढा जा सकता है।

उक्त उदाहरणों के अलावा कांग्रेस दल अपनी प्रतिष्ठा को इस कारण भी खो बैठा है कि वह महात्मा गांधी व अन्य महान् कांग्रेसी नेताओं के द्वारा दिये हुए नैतिकता के उच्च आदर्शों का पालन नहीं कर सका है। चुनावों में जाति, भाषा आदि नारों के बल पर अनेक कांग्रेसी सदस्य प्रादेशिक व स्थानीय स्तर पर चुनाव जीतते हैं। सच तो

यह है कि इनको चुनाव का प्रत्याशी (Candidate) बनाने समय इन बातों का भी ध्यान रक्खा जाता है। शक्ति के लिये धन का प्रयोग किया जाना तो कांग्रेस के साथ इन स्तरों पर शुरू हो चुका है। इन्हीं कारणों से सामान्य जनता के हृदय को जीत सकने में यह दल आज पर्याप्त रूप से असफल रहा है। केरल में मुस्लिम लीग के साथ गठबन्धन ने सिद्ध कर दिया था कि कांग्रेस दल अवसरवादी है और अब कांग्रेस आदर्शवाद का केवल नारा ही नहीं लगाती, वरन् व्यवहार में भी शक्ति की पुजारिन बन चुकी है। आज शक्तिशाली व संगठित विरोधी दलों के अभाव में इस दल को सत्ता से च्युत नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि कांग्रेस की अपनी मौलिक शक्ति कम है, विरोधी दलों की मौलिक दुर्बलता अधिक होना ही इसकी शक्ति का स्रोत है।

कांग्रेस दल 'समाजवादी समाज की स्थापना' अथवा 'जनतन्त्रात्मक समाजवाद' के प्रति निष्ठा का दावा करता है। दो साम्यवादी दलों के बीच प्रजा समाजवादी व संयुक्त समाजवादी दल ऐसे हैं जो कि समाज में विश्वास लेकर चलते हैं। वास्तव में कांग्रेस, संयुक्त समाजवादी व प्रजा समाजवादी दलों में बीच सैद्धांतिक मतभेद नगण्य है। तीनों दलों के सभी प्रमुख सदस्य मूल रूप से कांग्रेसी ही थे। व्यक्तित्व के संघर्षों ने ही मुख्यतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इन दलों को जन्म दिया। प्रजा समाजवादी व संयुक्त समाजवादी यद्यपि लगभग एक ही दृष्टिकोण रखते हैं, परन्तु ये दोनों दल संगठनों में पृथक् हैं। राज्यों में इन दलों की शक्ति सुदृढ़ नहीं है। कुछ सीटें खोना या पाना ही इनके विकास की घटती बढ़ती कहानी है। अपनी शक्तियों को पारस्परिक कलह में समाप्त करने के फलस्वरूप यह दल कांग्रेस के लिए चुनौती नहीं बन सके। प्रजा-समाजवादी दल जो कि किसी समय कांग्रेस का स्थान लेने के लिए प्रमुख दल समझा जाता था, देश के बुद्धिजीवी शिक्षित समुदाय की सहानुभूति और समर्थन के बावजूद भी आगे न बढ़ सका। राष्ट्रीय नेतृत्व की कमी, आदर्शों, संगठन व व्यावहारिक नीति के सम्बन्ध में विचारों में शासन की कमी, भारतीय राजनीति में अपने कार्य एवं महत्व को सही प्रकार न समझना तथा आपत्ति व दल में आन्तरिक विद्रोह के समक्ष हार मान बैठना ही प्रजा समाजवादी दल के ह्रासोन्मुख रहने के कारण रहे हैं।[1] इस दल की प्रमुख शक्ति बिहार, मध्यप्रदेश, मैसूर व उत्तर प्रदेश, केरल तथा उड़ीसा में है।

1. "The party's crisis have been those of the national leadership the party's inability to communicate effectively with the secondary echelons and the membership concerning the changes desired in ideology, organisation, and strategy, its failure to assess correctly, and adhere consistently to a given role in Indian politics, and its failure to maintain its own cohesion in the face of public adversity and party rebellion."—Thomas A. Rusch. "Dynamico of Socialist Leadership in India," in Park and Tinker, eds. Leadership and Political Institutions in India, pp. 204, 208.

संयुक्त समाजवादी दल का प्रमुख शक्ति केन्द्र बिहार, मध्यप्रदेश, व उत्तर प्रदेश में देखे जा सकते हैं। दोनों दलों में निश्चित रूप से प्रजा समाजवादी दल की शक्ति अधिक है। तृतीय आम चुनावों में प्रजा समाजवादी दल ने राज्य विधानसभाओं की १४६ सीटें जीतीं जबकि समाजवादी दल ने केवल ७१ सीटों पर कब्जा किया।

भारतीय राजनीति में एक नये अनुदार दल का जन्म सन् १९५९ में हुआ। इस वर्ष जनवरी में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में पारित सहकारी कृषि से सम्बन्धित प्रस्ताव की प्रतिक्रिया स्वरूप यह दल जन्मा। कांग्रेस दल की समाजवादी नीतियों के विरोध के लिए इसके नेता आगे आये। व्यक्ति की स्वतन्त्रता, निजी व्यवसाय, व उन्मुक्त प्रतियोगिता के सिद्धान्तों पर आधारित इस दल का जन्म वास्तव में स्वतन्त्रता के १२ वर्षों के बाद के भारत में एक विचित्र सी घटना थी। वैसे तो जनमत भी प्रारम्भ से ही ऐसे सिद्धान्तों का पक्षपाती और प्रतिपादक रहा है, परन्तु एक आदर्शवादी व अनुभवी नेतृत्व के कारण यह दल कुछ राज्यों में एक धूमकेतु की भांति राजनीतिक क्षितिज पर प्रकट हुआ है। स्वतन्त्र दल को शक्ति उन्हीं प्रान्तों में मिली जहां स्वतन्त्रता से पूर्व राजाओं व सामन्तों का शासन था और जहां यह वर्ग अभी भी शक्तिशाली है। इस दल के समक्ष वित्तीय साधनों के अभाव की समस्या उपस्थित ही नहीं हुई तथा पूंजीपतियों के सहयोग के कारण यह काफी शक्तिशाली बनता चला गया। आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व महाराष्ट्र में इसने विधानसभाओं के लिए १०१२ प्रत्याशी खड़े किये, जिनमें से १६६ की विजय हुई। मुख्य रूप से आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, राजस्थान व उत्तर प्रदेश में इसको उत्साहजनक सफलता मिली। यह दल अपने परम्परावाद के आकर्षण के बावजूद भी जनता का उतना समर्थन प्राप्त नहीं कर सका है जितना कि इसको भय था। उसके पास एक निश्चित कार्यक्रम का अभाव तो है ही, किन्तु इसकी दुर्बलता का एक कारण गत १८ वर्षों में जाग्रत होने वाली जन चेतना भी है। तृतीय आम चुनावों के बाद यह दल अब कुछ-कुछ निष्क्रिय सा होने लगा है व यह आशा नहीं की जा सकती कि १९६७ के आम चुनावों में यह पूर्व प्राप्त उस सफलता तक भी शायद पहुंच सकेगा।

भारतीय संघ यद्यपि एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, परन्तु साम्प्रदायिकता की समस्या यहां इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही देखी जा सकती है। हिन्दू मुस्लिम एकता के अनवरत् प्रयत्नों के बावजूद भी यहां कोई आदर्श एकता जैसी चीज अभी स्थापित नहीं हो सकी है। आज के भारत में साम्प्रदायिक दलों की संख्या काफी है। ये दल मुख्य रूप से, धार्मिक, सांस्कृतिक इकाई के राजनीतिक हितों के लिए ही प्रयत्नशील रहे हैं।[1] इनमें से प्रमुख जनसंघ, हिन्दू महासभा व रामराज्य परिषद हैं। जनसंघ का

---

1. These (communal) represent homogeneous political units only in the sense that each is concerned with the prerogatives of a single segment of Indian society—they are pressure groups seeking

गठन १९५१ में डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी द्वारा हुआ था। उनका मत था कि जनसंघ एक साम्प्रदायिक दल नहीं है। इसकी शक्ति प्रमुख रूप से शरणार्थियों, भूतपूर्व राजसी शासन के व्यक्तियों, पाकिस्तान के विरुद्ध कठोरतावादी नीति के समर्थकों एवं अनुदार आर्थिक आदर्शों के समर्थकों पर आधारित है। तथापि, व्यवहार ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनसंघ हिन्दू सम्प्रदाय की शक्ति का ही समर्थक है और भारत में 'हिन्दू राज्य' की स्थापना का स्वप्न देख रहा है। प्रथम व द्वितीय आम-चुनावों में जनसंघ, हिन्दू महासभा एवं रामराज्य परिषद को नगण्य सफलता मिली है। प्रथम आम चुनावों में जनसंघ ने राज्य विधानसभाओं की केवल ३८ सीटें जीती थीं जो १९५७ में बढ़ कर ४६ हो गईं। १९६२ के पश्चात् जनसंघ की शक्ति में अचानक काफी वृद्धि हुई और उत्तरप्रदेश जैसे कांग्रेस के गढ़ में नगरपालिकाओं के चुनावों में इसने आशातीत सफलता प्राप्त की। सन् १९६७ के आम चुनावों में राज्यों में ११६ सीटें प्राप्त की थी तथा प्रमुख रूप से यह राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश में अधिक विजयी हुआ। अन्य राज्यों में पंजाब व बिहार को छोड़ कर इसकी शक्ति नहीं के बराबर है। अन्य दो दलों की शक्ति का आधार भी साम्प्रदायिकता है, परन्तु चुनाव क्षेत्र में जनसंघ को तुलनात्मक रूप से अधिक सफलता प्राप्त की है। प्रसिद्ध राजनीति-शास्त्री डा० पामर के मत से धर्म-निरपेक्ष भारत में इस प्रकार के साम्प्रदायिक दलों का अस्तित्व एवं विकास निश्चित रूप से राष्ट्रीय एकता के लिए कष्ट का कारण बन सकता है।[1]

भारतीय राजनैतिक दलों में एक अन्य प्रमुख दल साम्यवादी दल है, जिसका हाल ही में रूस-चीन आदर्शों के झगड़ों के कारण विघटन हो गया है। साम्यवादी दल प्रमुख रूप से श्रमिक वर्ग एवं बुद्धिवादी वर्ग का समर्थन प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण दल है। भारत जैसे पूंजीवादी समाज में भी साम्यवाद का जन्म एवं विकास वास्तव में इस दल के शक्तिशाली संगठन का परिचायक है। जनतन्त्रवाद तथा मार्क्सवादी मार्गों के बीच झूलता हुआ यह दल प्रारम्भ से ही अनिश्चित स्थिति में रहता चला आया है। इसी दल के 'रूसी' व 'चीनी' नेताओं के होने से इसकी नीतियों में समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहा है। सन् १९४८ में हैदराबाद के तेलंगाना जिले में हिंसात्मक आन्दोलन इस दल की आरम्भिक नीतियों को स्पष्ट कर गया। तत्पश्चात्

---

to secure for the cultural unit they represent a larger measure of prestige, power, wealth, and predominance of cultural patterns." Richard D. Lambert, "Hindu Communal Groups in Indian Politics, in Park and Tinker, as, Leadership and Political Institutions in India, P. 211.

1. "They (Hindu Communal Organisations) are major threats to the unity of India, for they operate largely beneath the surface and they have roots deep in traditional Indian society." Norman D. Palmer : Indian Political System, P. 203.

इस दल ने भारतीय अवस्था के अनुसार अपना आधार परिवर्तित किया। १९५१–५२ में भारतीय साम्यवादी दल ने प्रथम आम चुनावों में एक संगठित दल के रूप में भाग लिया एवं एक राष्ट्रीय दल का स्तर पाया। लोकसभा में यह मुख्य विरोधी दल के रूप में उभरा व कुछ प्रदेशों में इसे अच्छी सफलता मिली विशेषतया मद्रास, हैदराबाद व ट्रावनकोर कोचीन में। पृथक तेलगू भाषी राज्य के लिये चल रहे आन्दोलन को इसने उत्साह प्रदान किया व जब १९५३ में आन्ध्र राज्य की स्थापना की गई तो विधान सभा में इसको काफी शक्तिशाली प्रतिनिधित्व मिला। मार्च १९५५ के चुनावों में इस दल को बड़ा धक्का लगा जिसका प्रमुख कारण साम्यवादी दल में आन्तरिक मतभेद व सोवियत रूस द्वारा भारतीय तटस्थता की नीति को स्वीकार करना था। अप्रैल १९५६ की चौथी कांग्रेस के पालघाट अधिवेशन में भारतीय साम्यवादी दल ने दो प्रस्ताव पास किये—पहला भारत सरकार की आन्तरिक व विदेशी नीतियों का समर्थन प्रदान करने से सम्बन्धित व दूसरा अन्य विरोधी दलों से सहयोग करने की नीति से सम्बन्धित। इस नीति को बुद्धिमानी से प्रयोग में लाया गया व १९५७ के दूसरे आम चुनावों में चुनाव सन्धियों व अन्य कारणों से इस दल ने अपनी शक्ति देश में दुगनी कर ली। केरल, पश्चिमी बंगाल व बम्बई में इसे काफी सफलतायें मिलीं। भारत के प्रत्येक राज्य की विधानसभा में इसे प्रतिनिधित्व मिला। अप्रैल १९५७ में केरल में पांच स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से साम्यवादी दल द्वारा सरकार बनाई गई जो कि ३१ जुलाई १९५९ तक चली।

१९५८ से साम्यवादी दल का समर्थन व प्रतिष्ठा गिरने लगी। इसके मुख्य कारण थे—दल में आन्तरिक मतभेदों की तीव्रता, केरल का अनुभव, चीन का तिब्बत में दमन तथा भारतीय सीमा का असम्मान करना आदि। उग्रवादी सदस्य अब चीन-समर्थक होते जा रहे थे। चीन की शक्ति की वृद्धि के साथ व रूस से उसके मतभेद के साथ २ भारतीय साम्यवादी दल भी आन्तरिक रूप से विखण्डित होने लगा। १९६० में जब केरल में चुनाव हुये तो दल को केवल २७ सीटें मिली। यह दल की प्रतिष्ठा पर बहुत बड़ा आघात था। परन्तु १९६२ के आम चुनावों में साम्यवादी दल फिर से शक्तिशाली दल के रूप में आया। दल ने आन्ध्रप्रदेश में ५१ व पश्चिमी बंगाल में ५० स्थान प्राप्त किये। अन्य सभी राज्यों में इसको प्रतिनिधित्व मिला, परन्तु उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त जहां इसने १४ स्थान ही प्राप्त किये, इसकी स्थिति गौण ही रही। १९६२ में हुये चीनी आक्रमण के उपरान्त साम्यवादी दल के प्रति भारतीय जनता में निष्ठा कम हो गई व साथ ही चीन-समर्थक व रूस-समर्थक साम्यवादी गुटों का पारस्परिक विरोध सामने आ गया। भारतीय साम्यवादी दल दक्षिण-पंथी व वाम-पंथी दलों में विभाजित हो गया तथा केरल में १९६४ के चुनाव भी इन दो दलों द्वारा पृथक-पृथक लड़े गये। केरल में दोनों दलों ने जनता से समर्थन प्राप्त किया, परन्तु आशातीत सफलता वामपंथियों को मिली। वामपंथी साम्यवादी दल ही अधिक शक्ति अर्जित करने

में सफल रहा है। केरल व पश्चिमी बंगाल में इसी दल की शक्ति अधिक है। चीन समर्थन तथा राष्ट्र विरोधी होने के सन्देह में गत वर्ष साम्यवादियों को भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत नजरबन्द किया गया। इन परिवर्तनों से इस प्रवृत्ति की आशा की जा सकती है कि आगामी वर्षों में भारत में साम्यवादी दल अपनी फूट व नीतियों के कारण जीतना में शक्ति अर्जित करने में असमर्थ होगा। आंध्र, केरल व पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य भागों में इस दल की स्थिति सुदृढ़ता से बहुत दूर है। यह दल एक अस्थिर भविष्य की ओर बढ़ रहा है।

मुख्य दुख्य राजनैतिक दलों के अतिरिक्त भारत में कुछ ऐसे प्रादेशिक व स्थानीय दल भी हैं जो कुछ प्रमुख व्यक्तियों, साम्प्रदायिकता, जाति अथवा किसी विशिष्ट हित के आधार पर जीवित हैं।

भारतीय अछूतों का प्रमुख राजनैतिक दल–अनुसूचित जाति संघ (Scheduled Caste Federation) है जो महाराष्ट्र के महार अछूतों की शक्ति पर प्रमुखतया आधारित है। दक्षिण के तामिल भाषी प्रदेश में, विशेषतया मद्रास में, द्रविड़ आन्दोलन ने काफी लोक–समर्थन प्राप्त किया है। यह आन्दोलन मुख्यतः तामिल जनता का ब्राह्मणों व अन्य उच्च जातियों के विरुद्ध संघर्ष है। यह एक प्रकार से तथाकथित उत्तरी भारत के आर्थिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध विरोध है। तामिल–जातियों का राजनैतिक संगठन, 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम्' है। इस दल ने समय-समय पर साम्यवादियों के साथ गठबन्धन भी किया परन्तु १९५७ में जब DMK की अपनी शक्ति बढ़ी तो इसने साम्यवादियों का समर्थन नहीं किया फलतः साम्यवादियों को मद्रास राज्य में आघात लगा। ब्राह्मण-विरोधी, हिन्दू विरोधी, उत्तर विरोधी व आर्य विरोधी अभियानों के सचालक DMK की पृथक द्रविड़स्तान की मांग का समर्थन तामिलनाड के गैर-ब्राह्मण करते हैं। लोकप्रियता के कारण कांग्रेस विरोधी अन्य दलों को मद्रास में इसने काफी पीछे छोड़ दिया है। १९६२ के तृतीय आम–चुनावों में इस दल ने मद्रास राज्य विधान सभा में ५० स्थान प्राप्त किये। स्थानीय लोकप्रियता शुद्ध होने के कारण व ऐतिहासिक कारणों से इस दल का भविष्य असुरक्षित नहीं कहा जा सकता।

पंजाब में सिक्खों का राजनैतिक व सामाजिक संगठन शिरोमणी अकाली दल के रूप में स्थित है। यह दल पृथक सिक्ख राज्य व अब 'पंजाबी सूबे' की मांग करता है। सिक्खों में यह दल अत्यधिक लोकप्रिय है: पंजाब में १९६२ के आम चुनावों में इसने १९ स्थान जीते। मद्रास व केरल के कुछ भागों में मुस्लिम लीग सक्रिय है। १९६० के केरल के चुनावों में इसने कांग्रेस के साथ मिलकर चुनाव लड़ा व विधान सभा में तीसरा स्थान प्राप्त किया। अतिरिक्त वामपक्षी दलों में किसान मजदूर सभा प्रमुख है। पश्चिमी व दक्षिणी भारत के कुछ भागों में इसे कुछ शक्ति प्राप्त है (विशेषतया महाराष्ट्र में)। बिहार के आदिवासियों के समर्थन पर आधारित झारखण्ड दल है। १९६० में नागालैंड के पृथक राज्य की स्थापना के पश्चात् भी नागा

विद्रोही अपने क्षेत्र २ दलों के द्वारा अधिकाधिक अधिकारों की मांग कर रहे हैं।

आम चुनावों में भारत के राजनैतिक दलों ने चुनावों व सरकार बनाने के लिये समय-समय पर काफी आपसी गठबन्धन किये हैं। यह सुविधा सद्धान्तिक पर आधारित होने के कारण अधिक समय तक नहीं टिक सकती थी। कांग्रेस को हराने के लिये कांग्रेस विरोधी वाम व दक्षिणपंथी दलों का गठबन्धन कई बार हुआ। दूसरी ओर कांग्रेस ने भी १९५५ में आंध्र व १९६० में केरल में साम्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में विभिन्न दलों से गठबंधन किया। साम्प्रदायिकता-विरोधी कांग्रेस दल का साम्प्रदायिक मुस्लिम लीग से गठबंधन बुद्धिवादियों की निन्दा का विषय बना। दो अभूतपूर्व रूप से महत्वपूर्ण गठबन्धन १९५७ में देखने में आये जबकि पृथक महाराष्ट्र व गुजरात राज्यों की स्थापना के समर्थन देने वाले सभी विरोधी दलों ने बम्बई प्रान्त में कांग्रेस का कड़ा विरोध किया। संयुक्त महाराष्ट्र समिति व महा गुजरात जनता परिषद् ने आशातीत सफलता प्राप्त की। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप मई १९६० में पृथक राज्य-गुजरात व महाराष्ट्र भी बने। इससे सिद्ध होता है कि एक राज्य की जनता अपनी इच्छा को राजनैतिक प्रतिनिधित्व द्वारा व्यक्त कर सकती है। राज्य बनने के बाद यह विरोधी दल लगभग विखण्डित हो गये। १९६२ के आम चुनावों में फिर से कांग्रेस ने अपनी खोई हुई शक्ति प्राप्त कर ली।

विशाल देश में विविधता होना स्वाभाविक है। राजनैतिक दलों का बाहुल्य भारतीय राजनैतिक जीवन की एक विशेषता है। एक स्वस्थ दल पद्धति (Party System) भी जन्म नहीं ले सकी है और आशा नहीं कि निकट भविष्य में ऐसा हो सके। भारत में कांग्रेस दल की शक्ति इतनी अधिक रही है कि भारत को कई व्यक्ति 'एक-दलीय राज्य' (One Party State) कहते हुये भी नहीं हिचकचाते।[1] केन्द्रीय संसद में तो कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त है। परन्तु कई राज्यों में कांग्रेस को काफी अधिक विरोध का सामना भी करना पड़ता है। आंध्र, बिहार, मध्यप्रदेश, मद्रास व केरल में इस दल की स्थिति निर्बल है। राजस्थान में अन्य दलों व निर्दलीय सदस्यों को आकर्षित करके ही कांग्रेस को शक्तिशाली बनाया गया है। जिन राज्यों में कांग्रेस को कम स्थान प्राप्त हैं वहा भी विरोधी दलों के आपस में विभाजित रहने के कारण उसे सरकार बनाने में कोई भय नहीं रहता। महाराष्ट्र में कांग्रेस को १९६२ के आम चुनावों में २६४ में से २१२ स्थान मिले, राजस्थान में १७६ में से ८८, मध्य प्रदेश में २८८ में से १४२ स्थान मिले थे। कांग्रेस की शक्ति सभी राज्यों में समान नहीं है और न ही किसी भी दल की स्थिति किसी भी राज्य में नियमित रूप से बढ़ रही है। केरल जैसे जनतन्त्र में भी राज्य को आज राजनैतिक दलों के बाहुल्य का मूल्य चुकाना पड़ रहा है। कांग्रेस की स्थिति राज्यों में असुरक्षित है परन्तु केन्द्र में सुरक्षित होने के बारे में सेलिग हैरिसन (Selig Harrison) का विचार है कि 'केन्द्र राज्य

1. George Bailey . Pandit Nehru's One Party Democracy.

सम्बन्धों के पहलू पर दृष्टि रखते हुये भारतीय संविधान में परिवर्तन करना क्या उचित नहीं रहेगा ?[1] १९५७ से १९५९ तक के केरल प्रशासन में उत्पन्न समस्याओं के संदर्भ में हैरिसन का प्रश्न महत्वपूर्ण प्रतीत होता है ।

वर्तमान पाकिस्तानी संकट के समय समस्त जनता का श्री लालबहादुर शास्त्री के पीछे एकत्र हो जाना हमारी नेहरू-युग की स्मृतियां ताजी कर देता है । नेहरू राष्ट्रीय-एकता के प्रतीक थे । उनकी मृत्योपरान्त, भारत का जैसा भयानक काल्पनिक चित्र खींचा जाता था, वैसी दशा किंचितमात्र भी न हुई । परन्तु नेहरूजी के अभाव में राज्यों को अपनी शक्ति बढ़ाने की भावना को पूरा करने का अवसर अवश्य मिला है । संकटकालीन स्थिति में शास्त्री द्वारा योग्यता का परिचय देने से राष्ट्र-निवासियों के हृदय में खोये नेतृत्व को फिर से पाने का सन्तोष हुआ है । कुछ समय से दल स्वतः से ऊँचे उठ गये हैं व राष्ट्र हित का ध्यान सर्वोपरि हो चुका है । कामराज के कुशल निर्देशन से कांग्रेस की शक्ति के बढ़ने की आशा है व ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः १९६७ के आम-चुनावों के बाद भारतीय राजनैतिक दलों की स्थिति में परिवर्तन आये । कांग्रेस की शक्ति बढ़ना व उसका सुधार होना राष्ट्रीय राजनैतिक स्थिरता के लिये शुभ है । एक सफल जनतन्त्र को आवश्यकता होती है—सुलझे हुये विरोधी दलों की, जिसका भारत में अभाव है । ऐसे प्रयत्न होने चाहिये कि राजनैतिक दलों की संख्या के बाहुल्य पर रोक लगे व जनतांत्रिक प्रक्रिया भारतीय आदर्शों व परिस्थितियों के अनुसार सुधरे हुये संगठन बनाये जायें जो जनता को विकल्प दे सकें । जातीयता, भ्रष्टाचार, संकीर्णता, प्रादेशिकता, साम्प्रदायिकता की अशुभ दलगत राजनीति से भारतीय राजनैतिक दलों को निकाल कर धनात्मक, ठोस परम्पराओं को जन्म देने का प्रयत्न करना चाहिये जिन पर जनतन्त्र का भविष्य निर्भर रहता है वरना भारतीय राजनैतिक दल जनतन्त्र के लिये एक अभिशाप बन कर रह जायेंगे ।

---

1. *"Thus the great issue before Indian leaders is whether the present constitution, drafted at a time when a national party system seemed to be in the making, will be adequate to a new time in which the interplay of national parties makes way for the new contest between the central power and regionally based political forces."* Selig Harrison : India the Most Dangerous Decades, p. 246.